बीसवीं सदी के अन्तिम दशक के उपन्यासों में स्त्री-विमर्श का अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डी० फिल० (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
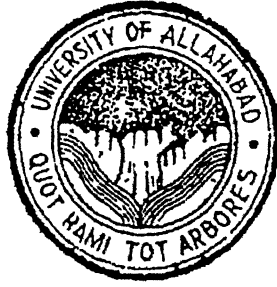
निर्देशन :

प्रो० सत्य प्रकाश मिश्र

हिन्दी-विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

प्रस्तुति

मीना शुक्ल

शोध छात्रा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

दिसम्बर - 2002

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्रक्कथन

आज के समय मे स्त्री–विमर्श एक बडे रचनात्मक आन्दोलन के रूप मे साहित्य और सस्कृति की दुनियॉ मे छाया हुआ है। इससे प्रेरित होकर गुरूवर प्रो सत्य प्रकाश मिश्र की प्रेरणा से हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के निर्देशन में मैनें इस अर्थात "बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक के उपन्यासों में स्त्री विमर्श का अध्ययन" शीर्षक शोध प्रबन्ध प्रस्तुत करने की विनर्म चेष्टा की है। अन्तिम दशक तक आते–आते हिन्दी में स्त्री–विमर्श एक महत्वपूर्ण विषय के रूप में प्रतिष्टित होनें लगा था। प्रारम्भ में यह एक आन्दोलन जैसा प्रतीत हुआ पर शीघ्र ही सभी को अनुभव होन लगा कि इस विमर्श की जड़े सभ्यता और संस्कृति की गहन पृष्ठभूमि मे आरम्भ से ही विद्यमान थी और साहित्य में स्त्री का सरोकार कोई छोटा सरांकार नही है। इस विषय को स्थापित करने के लिए मैंने शोध प्रबन्ध को छः अध्याय में प्रस्तुत किया है।

प्रथम अध्याय 'विषय के परिपार्श्व' के अर्न्तगत स्त्री विमर्श क्या है और अपने अधिकारों के प्रति स्वंय स्त्रियो का संघर्ष और हिन्दी साहित्य में स्त्री विषयक चिन्तन तथा महिला लेखिकाओं ने अपने कथा साहित्य में स्त्री को किस प्रकार चित्रित किया है, इसका वर्णन है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत बीसवीं शताब्दी के महिला लेखक का विवेचन किया गया है। स्त्री लेखिकाओं द्वारा लिखे गये उपन्यास,कहानी, कविता और आलोचना एवं अन्य गद्यविधाओं की बात की गयी है।

तृतीय अध्याय 'शताब्दी का अन्तिम दशक' और हिन्दी उपन्यास है। अन्तिम दशक के उपन्यासों में क्या नयी बात सामने उभर कर आयी तथा पुरूषों और स्त्रियों द्वारा लिखे गये उपन्यासों का अलग–अलग विवरण है। साथ ही इस दशक में पुरूषों का स्त्रियों के

प्रति क्या दृष्टिकोण है? उन्होने अपने कथा साहित्य में स्त्री विषयक कौन सी बात की है? तथा उसके किस रूप को अधिक चित्रित किया है। इसका विशद् वर्णन है।

चतुर्थ अध्याय में अन्तिम दशक में लिखे गये उपन्यासों का कथ्य, उनकी स्त्री विषयक दृष्टि अर्थात स्त्रियों को लेकर उनका चिन्तन क्या है। अन्तिम दशक के उपन्यासों में स्त्री से सम्बन्धित कौन–कौन सी समस्यायें उठायी गयी है? उपन्यासों की भाषा–शैली (शिल्प) आदि का वर्णन है।

पॉचवा अध्याय पूर्णतः स्त्री विमर्श से सम्बन्धित है। स्त्री द्वारा लिखे गये उपन्यासों में उनकी वौद्धिकता, विद्रोह, जागरूकता, अधिकार और कर्तव्य के प्रति उसकी सजगता आदि का उल्लेख किया गया है। साथ ही सामाजिक न्याय की भावना, परिवार के प्रति दृष्टिकोण तथा विभिन्न संस्थानों के बारे में उसकी दृष्टि। इन सभी बातों की चर्चा की गयी है।

छठा अध्याय निष्कर्ष के रूप में है। क्यों स्त्री आज तक शोषित है तथा उसकी इस दशा के पीछे कौन से कारण उत्तरदायी हैं और वह कब अपनी इस शोषित छवि से मुक्त हो पायेगी आदि बातों का वर्णन किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध की प्रस्तुती मे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के आचार्य और अध्यक्ष प्रो० राजेन्द्र कुमार एवं विभाग के अन्य गुरूजनों की प्रेरणा सहायक रही है। विशेषतः मेरे निर्देशक गुरूवर आचार्य सत्यप्रकाश मिश्र की अनुकम्पा और निरन्तर उत्साहित करने की प्रवृत्ति ने मेरा मार्ग दर्शन किया। सच तो यह है कि उनके पग–पग पर कृपापूर्ण निर्देशन के विना यह सम्भव ही नही था। 'तम से ज्योति' की इस यात्रा में उनका आशीर्वाद एवं कुशल मार्ग–दर्शन मेरा पाथेय रहा है। उनके प्रति आभार एवं कृतज्ञता प्रदर्शन मेरे लिए शब्दों के माध्यम से कर पाना सम्भव नही है। उनके श्रीचरणों में मै प्रणाम करती हूँ।

इसक अतिरिक्त हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय गोरखपुर के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान एव कवि प्रो अनन्त मिश्र का आभार प्रकट कर उनके स्नेह के महत्व को कम नही करना चाहती हूँ क्योकि उनकी विद्वत्ता से ही मेरी दृष्टि को ज्योति मिली है। अत. उनके स्नेहासिक्त अपनत्व को सादर नमन करती हूँ। डा0 अनुपम मिश्र (टिल्लू भइया) की मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनका स्नेहिल और उत्साह वर्धक सम्बल न मिलता तो सम्भवत. लेखकीय शिथिलता स्वाभाविक थी। परम श्रद्धेय गुरूवर एव प्रगतिशील आलोचक प्रो रामदेव शुक्ल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होने अपने समीक्षात्मक तेवर से मेरी दृष्टि को परिष्कृति करने का पुनीत कार्य किया। गुरूवर प्रो0 विश्वनाथ तिवारी ने समय समय पर अपने ज्ञान से मुझे लाभान्वित किया है उनके (एडवोकेट,इलाहाबाद हाईकोर्ट) ~~इन~~ प्रति आभार प्रकट न करना भूल होगी।

इस कृतज्ञता ज्ञापन की श्रृंखला में श्री विपिन त्रिपाठी और श्री सारनाथ शुक्ल (चाचा जी) के सहयोग को विस्मृत करना कर्तव्य बोध से पलायन होगा। इन्होने सदैव स्वामी विवेकानन्द के जीवन दर्शन "अवेकेन ए राइज एण्ड वेट नाट टिल द गोल, दे रीच" का स्मरण दिलाते हुए प्रोत्साहित किया है। स्वदेश श्रीवास्वत (अक्षरा:उत्कृष्ट साहित्य प्रतिष्ठान) की आभारी हूँ, जिन्होंनें समय–समय पर विषय से सम्बन्धित सामाग्री की खोजबीन मे सहायता प्रदान की। सहपाठी आरती सिंह ने भी सकारात्मक भूमिका निभाई है।

पूज्य पिताजी श्री प्रतापनारायण शुक्ल एवं माँ श्रीमती पुष्पा शुक्ल के आशीर्वचनों एवं प्रेरणा के प्रति आभारी हूँ जो मेंरे समस्त प्रयासों से कही न कहीं जुड़े ही रहे है अत. उनके श्री चरणों में प्रणाम अर्पित करते हुए सन्तोष का अनुभव कर रही हूँ। रेनु शुक्ल एवं रंजना शक्ल धन्यवाद की पात्र है, जिन्होनें सदैव मेरा उत्साहवर्धन करते हुए लक्ष्योन्मुख एवं जागरूक बनाये रखा।

श्री देवेन्द्र दवे, अजय मिश्र के कम्प्युटर टाइपिग इस्टीट्यूट राप्ती नगर एव श्री मनोज जी धन्यवाद के पात्र है जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर एव अथक परिश्रम करके शोध प्रबन्धपूर्ण करनें मे महत्वपुर्ण भुँमिका निभाई है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे जो कुछ अच्छा बन पड़ा है वह विद्वानो लेखको और श्रेष्ठ पुस्तको का अवदान है जो कुछ नही बन पडा है उसे ही मै अपना मानती हूँ। स्त्री विमर्श के क्षेत्र में यह शोध प्रबन्ध कुछ और जोडने मे सहायक हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगी।

मीना शुक्ल

मीना शुक्ल

अध्याय–1

(1) विषय का परिपार्श्व

यह संसार का अत्यन्त वैज्ञानिक, अत्यन्त समाजवादी और अत्यन्त न्याय संगत समाज बन भी जाय तो भी एक वुनियादी किस्म का जातिवाद बना रहेगा। क्योकि इस समग्र सृष्टि मे स्त्री और पुरूष दोनों दो जातियों के रूप मे हमेशा विद्यमान रहेगे। यह सही है कि ये एक–दूसरे के पूरक हैं और इसलिए सृष्टि के पुरस्कर्ता भी , फिर भी दोनों के पृथक अस्तित्व को नकारा नही जा सकता। जैसे–जैसे समाज बदला है जीवन का परिप्रेक्ष्य अपना केन्द्र परिवर्तित करता रह है। परिवाद और राष्ट् की जगह धन कमाने की अभिलाषा मनुष्य की चेतना के केन्द्र में आयी है और अर्थवाद ने जहॉ स्वायत्ता और स्वाधीनता की सृष्टि की वहीं इसके चलते स्त्रीं और पुरूष के बीच उत्तरोतर द्वन्द की स्थिति भी पैदा होने लगी। एक जमाने में जब शक्ति ही प्रधान थी और लोगों की कबीलाई जिदंगी थी तब देह की संरचना के आधार पर पुरूष प्रधान समाज विकसित होने लगा। जब तक परिवार ग्रामीण तथा आदिम परिवेश में थे तब तक स्त्री पुरूष के बीच का तनाव उतना मुखर न हो सका था।

धीरे–धीरे प्रकृति से दोहन करने में अधिक समर्थ होने के नाते पुरूष परिवार के केन्द्रवर्ती और शक्ति सम्पन्न ईकाई के रूप में प्रतिष्ठित हाने लगे और स्त्रियों का दर्जा दोयम होता गया। शिशु को गर्भ मे धारण करने और दूसरी नैसर्गिक शारीरिक अवस्थाओं के कारण धीरे–धीरे स्त्री जाति पर पुरूषों का आधिपत्य बढ़ने लगा और इस प्रकार कालान्तर में स्त्रियॉ पुरूषों की उपनिवेश होती गयी। स्त्री–पुरूष के बीच जब तक मधुर सम्बन्ध बने रहते थे तब तक तो पुरूष जाति उसका शोषण नहीं करता था पर विपरीत परिस्थितियों में स्त्रियों का शोषण भी

होने लगा। इस प्रकार की अवधारणा भी धर्म और संस्कृति के क्षेत्रो मे अपनी जड़ जमाने लगी कि स्त्री भी एक तरह की उपभोग्य सामग्री है, वह रत्न और दूसरे अलकरणों के समान सग्रहणीय, व्याज्य अथवा आक्रमणीय है। दुनिया भर के इतिहास में आदिम युग को छोड़कर मध्यकालीन सामंती व्यवस्थाओं में स्त्रियो का जीवन पुरूषों के रहमोकरम पर स्थापित होने लगा और पितृसत्तात्मक समाज का ढॅाचा लगभग हर समाज में बनने लगा। इस व्यवस्था के चलते उच्चवर्ग और मध्यवर्ग में स्त्री घरों मे कैद हो गयी और निम्नवर्ग में वह या तो शक्तिशाली पुरूषों की सेवा करने की यन्त्र बन गयी अथवा विभिन्न पुरूषों के द्वार पर अपने मातृत्व की दुहाई देने वाली शरण मॉगती एक जीती–जागती लाश। इतिहास का यह एक क्रूर मजाक ही है कि अपने उदर से शक्तिशाली योद्धाओं ,विद्वानो , कलाकारों और अन्य अनेक प्रकार के महान लोगों को जन्म देने वाली स्त्री उन्हीं लोगों द्वारा बनाई गयी व्यवस्था में हाशिये पर आती गयी।

एक समय ऐसा भी आया जब अभिजात्य वर्ग में स्त्रियॉ महलों के अन्दर कैद हो गयी और वे प्रायः असूर्यम्पश्या हो गयी । अर्थव्यवस्था के पीछे पुरूष की प्रधान भूमिका और स्त्री देह की स्वाभाविक कोमलता जन्य असमर्थता ने कालान्तर में स्त्रियों को उपभोग की सामग्री और दास बनने के लिए बाध्य कर दिया। ये परिस्थिति कमोवेश पश्चिम और पूरब दोनों ही समाजों में पाई जाने लगी। जब तक आदिवासी और कबीलाई जिन्दगी का स्वरूप था तब तक तो स्त्री और पुरूष लगभग समान स्तर पर प्रतिष्ठित थे क्योंकि सत्ताओं और सभ्यताओं का दौर नहीं शुरू हुआ था। बाद में राजशाही और सामंती व्यवस्था का जन्म हुआ। स्त्रियॉ दास–दासियों के समान हो गयी। पशु धन के समान स्त्री–धन भी सामंतों की प्रभुसत्ता के असबाब रूप में परिवर्तित होने लगा। भारतीय सन्दर्भ में मध्यकाल तक आते–आते विजेता संस्कृति का प्रार्दुभाव हुआ।

जिसमें धन की लूट के साथ–साथ स्त्री की लूट की प्रवृत्ति भी बढ़ी। घूस या तोहफे के रूप में भूमि,द्रव्य आदि देने–लेने की प्रवृत्ति में स्त्रीं को भी लेन–देन की बस्तु माना जाने लगा। प्राचीन युग की कृति महाभारत में स्त्री को भी जुए मे हार जाने का आख्यान मिलता है। उसके पहले भी 'रामायण', 'पुराण' आदि में इस प्रकार की कथाएं प्राप्त होती है जिसमें स्त्रियो का बलात् अपहरण, यौन शोषण अथवा उनका विपणन होता रहा। पसिद्ध औपन्यासिक कृति– 'मेयर ऑफ द कैस्टर ब्रिज में हार्डी ने उल्लखित किया है कि कैसे उसका नायक अपने पत्नी 'सूसन' को जुए मे हार कर लौटता है। तात्पर्य यह है कि लम्बे समय तक स्त्री–पुरूष के बीच स्त्री को वस्तु की तरह समझने का क्रूर सामाजिक परिप्रेक्ष्य विद्यमान रहा।

स्त्री के प्रति जागरूक विमर्श का उदय दुनिया में आधुनिकता के आने के बाद हुआ । औद्योगिक क्रान्ति के बाद सामंतवादी चेतना का लोप होने लगा और पूँजी प्रथा उद्योग को मनुष्य और उसकी शक्ति की तुलना में ज्यादा महत्व प्राप्त होने लगा। जाहिर है कि पूँजी स्त्री–पुरूष में भेद नहीं कर सकती और यहीं से स्त्री और पुरूष के सामानता का प्रश्न सारी दुनिया में उठने लगा। स्त्री की मुक्ति की चर्चा होने लगी, उसके शोषण की बात चलने लगी, उसके व्यक्तित्व और उसके मानवीय महत्व का संज्ञान बुद्धजीवीं समाज में उठाया जाने लगा। इसलिए कुछ चिंतक स्त्री–विमर्श को आधुनिक चिंतन का एक आयाम भी मानते है।

बुनियादी तौर पर स्त्री–विमर्श समाज–शास्त्र का विषय है। समाज के वर्गो और उसके हितों का सम्यक विचार तब प्रारम्भ हुआ जब उत्पादन के साधनों और उसके फलों के बॅटवारें का प्रश्न जटिल होते समाज में दिन व दिन गहराने लगा। पहले प्राकृतिक संपदा के विपणन का कोई व्यापक प्रबन्ध नहीं था। जहाँ जो चीजे होती थी वहाँ इस्तेमाल होती थी

~~होती थी~~ और उनका आधिक्य वही व्यर्थ हो जाता था। सभ्यता के विकास के साथ–साथ विभिन्न भौगोलिक सीमाओ में बंधे लोगों के परस्पर मिलन के कारण कमी के क्षेत्रों में बहुलता के क्षेत्रों की चीजें आने लगीं और उसका दाम मिलने लगा इसमें अनेक प्रकार के बिचौलिये शामिल होने लगे। इस तरह विपणन और व्यापार की संस्कृति का जन्म हुआ, जिसमें मनुष्य भी संसाधन के रूप में प्रयोग मे आने लगा। इस शोषण की सस्कृति ने अपने से कमजोर व्यक्ति का इस्तेमाल करना सिखाया जिसका परिणाम स्त्रियो के भी शोषण के रूप में सामने आने लगा। इस परिदृश्य का एक पहलू यह भी है कि पूँजीवादी संस्कृति के पहले सामंतवादी व्यवस्था में भी सत्ताओ में रहने वाले लोग स्त्री के देह का उपयोग राजनीतिक स्वार्थों के लिए समय–समय पर करते रहे। बड़े–बड़े राजाओं सामतों द्वारा स्त्रियों को अपनी रानियों के अतिरिक्त रखैल के रूप में रखने, दासियों का यौन–शोषण करने तथा विरोधियों को नष्ट करने के लिए विषकन्याओं का इस्तेमाल करने का प्रचलन प्रायः उस व्यवस्था में आम प्रचलन था। धीरे–धीरे सभ्यता के बढ़ने के साथ–साथ नारी जाति को भी एक वस्तु मानने की प्रथा चल निकली। वह शिक्षा और दूसरे सामाजिक, सास्कृतिक उत्तरदायित्वों से अलग–थलग कर दी गयी। वह शोभा की वस्तु बन गयीं। अपहरण, बलात्कार और विवश परिस्थितियों में यौन शोषण की नियति स्त्री के ललाट में विधाता की लिपि की तरह समाज ने लिखना शुरू कर दिया। दुनिया भर के धार्मिक ग्रन्थों ,साहित्यिक पुस्तकों में किंचित सम्मान के बावजूद स्त्रियों का अस्तित्व पुरूषों के विना लगभग शून्य की तरह चित्रित किया जाने लगा–

"मन विन देहः नदी विन वारी ।
वैसे नाथ पुरूष विन नारी ।।"

जैसी उक्तियाँ समूचे मध्यकाल की प्रमुख उक्तियाँ बन कर उभरने लगी । दुनिया भर का इतिहास भूगोल अगर छोड़ भी दें तो केवल भारत की मध्यकालीन मनीषा स्त्री जाति का पग–पग अपमान करती प्रतीत होती है। अन्यथा 'अधमते अधम अधम पुनि नारी' जैसे कथन साहित्य व्यापी नहीं बनते । नारी को नरक का द्वार कहा गया, उसे माया माना गया , उसे झूठ का पिटारा बताया गया है।

किन बातों के परिप्रेक्ष्य में ये बातें कही गयी है उसके तफ्सील मे न जाकर निष्कर्ष रूप मे यह माना जा सकता है कि बहुत दिनों से स्त्री के प्रति इस समाज में आदर का भाव या तो नहीं है या कम है। काम पड़ने पर औरत माँ है , प्रिया है, प्राणेश्वरी है, सबकुछ है पर काम निकल जाने के बाद स्त्री फुटबाल है जिसे पुरूषों का समाज सदा अपने ठोकरो से नैहर से पीहर और पीहर से नैहर मारता रहा। उसका अस्तित्व या तो पिता के कारण है या पति के कारण या पुत्र के कारण। तात्पर्य यह कि उसका कोई स्वतंन्त्र अस्तित्व नही है। इन सब की परिस्थितियों ने स्त्री को स्वयं के बारे में सोचने को मजबूर किया और उनका साथ सेवेदनशील पुरूष समाज ने भी दिया। जिसके कारण सम्पूर्ण संसार में स्त्री को लेकर ,उसके अस्तित्व को लेकर ,उसके स्वातन्त्रय को ध्यान में रखकर विचार विमर्श आरम्भ हो गया। साहित्य में स्त्री–विमर्श इन्ही सब बातों की देन है।

भारतीय परिवेश में भी स्त्री की शिक्षा बढ़ने के साथ नारी संगठनों का उदय मानवाधिकार , समाज कल्याण से सम्बन्धित लोगों का ध्यान स्त्रियों की दुर्दशा पर गया और लगातार आज भी यह विषय चुनौती के रूप में समाज के बुद्धजीवियों के सामने है।

विश्व भर में सरकारी और गैरसरकारी नारी जागरूकता के केन्द्र सगठन और मोर्चे बन रहे हैं। और यह रेखांकित किया जा रहा

है कि पैतृक–पुत्र ,परिवार की संकीर्ण सीमाओ के परे भी स्त्री का व्यक्तिगत और सामाजिक अस्तित्व है , यह बात पूरे जोश के साथ कही जा रही है कि स्त्री भी पुरूष के समान मनसा ,वाचा, कर्मणा स्वतन्त्र हो सकती है ।

स्त्री–विमर्श का मूल स्वर नारी शक्ति के पुनर्प्रतिस्थापन का प्रश्न है। वह मात्र किसी की कुछ है नही बल्कि पुरूष संवेदना और सम्बन्ध, आश्रित उसके मुक्त अस्तित्व को पुनर्प्रतिष्ठित करने में स्त्री–विमर्श एक सास्कृतिक आन्दोलन है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण साहित्यिक चिंतन पर हो रहा है। नारी मुक्ति का प्रश्न आधी–दुनिया की मुक्ति का प्रश्न है यह भी स्त्री–विमर्श का एक हिस्सा है। अभी तक पुरूष प्रधान समाज में स्त्री को स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्राप्ति नहीं हुई है। स्त्री–विमर्श इस व्यक्तित्व की खोज करता है और इसके सामने आने वाली समस्याओं की जटिलताओं का पर्दाफाश करता है।

स्त्री–विमर्श ने जिस प्रकार पितृसत्तात्मक मूल्यों, अवधारणाओ को चुनौती दी है , उसके विरूद्ध संघर्ष करते हुए उन मुल्यों को खारिज किया है उससे स्त्री की समाज में बदलती हुई स्थिति उभर कर सामने आई है। स्त्री–विमर्श ने उन पितृक मूल्यों , वर्जनाओं ,मापदंडों पर जवर्दस्त संदेह करते हुए उन पर प्रश्न चिन्ह आपत्तियॉ लगाते हुए उसे समस्याग्रस्त बनाया है। इसी ने सदियों से चली आ रही स्वत्वहीनता, खामोशी को तोड़ा है तथा अपनी चुप्पी को गहरे मानवीय अर्थ दिये हैं। स्त्री विमर्श ने ही पितृसत्तात्मक मूल्यों दोहरे नैतिक मापदंडों , अन्तर्विरोधों को समझने , पहचानने की अर्न्तदृष्टियॉ प्रदान की हैं।

सीमोन द वोउवार ,केटमिलट , इरीगैरो ,वैटीफरीडन आदि ने स्त्री विमर्श के प्रश्न को उठाकर विश्वचिंतन में एक नई बहस को जन्म दिया । पितृक मुल्यों को पहली वार समस्या ग्रस्त ठहराया।

पहली बार स्त्री–विमर्श में ही इस वास्तविकता का रहस्य खुला कि हमारे मानवमूल्य ,मानवमूल्य न होकर पितृसत्तात्मक मूल्य ही हैं क्योंकि उनका चरित्र पितृक है जहॉ स्त्री का मूल्यों के नाम पर खुला दमन एवं उत्पीड़न है इस स्थिति को उलटने का श्रेय फ्रान्स की महान लेखिका 'सीमोन द वोउवार ' को जाता है , जिन्होंने 'द सेकेन्ड सेक्स ' लिखकर स्त्री मुक्ति के लिए नये रास्ते खोले । महादेवी वर्मा की 'श्रंखला की कड़िया' इसी दिशा में स्त्री विमर्श है।

आज तक हाशियों पर धकेले गये दलित उत्पीड़ित स्त्रियॉ अब उपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गयी हैं। हाशियों को तोडती हुई वे अब चुप्पी, मौन को गहरे शब्द–अर्थ देने लगी हैं। स्त्री–विमर्श ने ही वर्चस्व एवं प्रभुत्व को चुनौती दी है। यह ऐसे मूल्यों को दमनकारी खतरनाक माना है जो स्त्री को उपनिवेश बनाता है। इसमें पारिवारिक मूल्यों तथा उसके सामंतीय संरचना को भी लेकर बहस छिड़ी है जिसमें स्त्री कैद है।

आजतक का समूचा साहित्य अधूरा है क्योंकि उसमें दुनिया की आधी आबादी की मुक्ति से जुड़ें हुए प्रश्न नही है अतः वह साहित्य मानवीय कैसे हो सकता है वह आधी दुनिया का ही साहित्य रहा है उसमें स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की है। नारी–विमर्श ने उन निरंकुश मूल्यों को जॉचने परखनें का जोखिम उठाया है जो उसे निरंतर अनुशासित और अधीन बनाते है। स्त्री के जीवन में बदलाव के लिए जब विवेकानन्द से प्रश्न किया गया था तो उनका उत्तर भी स्त्री–विमर्श से सम्बन्धित था–' तुम औरतों की मुश्किल आसान करने वाले हो कौन? क्या तुम प्रत्येक विधवा और हरेक स्त्री के जीवन को नियमित करने वाले सर्वज्ञ हो? उन्हें अपनी मुश्किलों से खुद ही निपटने दो ।' यही स्त्री विमर्श का बुनियादी नुक्सा है। जब स्त्री खुद अपनी मुश्किलों से निपटने

लगेगी ,उसी प्रकिया में वो चेतन होकर अपने भीतर छिपी अपार संभावनाओं को तलाश लेगी। स्त्री की इसी जागरूकता ने पहली बार पितृक प्रतिमानों सोचने की दृष्टि पर जर्वदस्त प्रश्न चिन्ह लगाये , उन्हे वुरी तरह से रद्द किया। यही से स्त्री–विमर्श की शुरूआत होती है। इस शताब्दी के अन्तिम दशक में स्त्री–लेखिकाओ की ऐसी प्रखर ,जागरूक पीढी भी सामने आयी है। जिसने परम्परित ढंग के पितृक समर्थन स्त्री–लेखन के विरूद्ध स्त्री–विमर्श को नये आयाम दिये। अन्तिम दशक की लेखिकाओ की समझ पर्याप्त प्रखर है इसलिए स्त्री–विमर्श लेखन मे अब वे पुरूषों द्वारा खड़ी की गयी समस्याओं, चुनौतियों, वर्जनाओ के बारे में स्वतन्त्र दृष्टि से विचारने लगी है।

नारीबादी चिंतन को परिणति पर पहुँचाया 'द सेकेन्ड सेक्स ' की फ्रान्सीसी लेखिका सीमोन द वोउवार ने। इसमें लेखिका ने जीवशास्त्र, मानवशास्त्र समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र साहित्य, कला और संस्कृति जैसी ज्ञान–विज्ञान की विभिन्न शाखाओं की जानकारियों के साथ स्त्री सम्बन्धी अनुभवों के योग से स्त्री सम्बन्धी विमर्श को अत्यन्त व्यापक फलक पर पूरी प्रमाणिकता के साथ उपस्थित किया है। अपनी इस कृति में लेखिका ने अत्यन्त विदग्धताऔर सटीकता से इस सच को स्थापित किया है कि यह दुनिया पुरूषों की है, स्त्री उसमें अन्या की तरह है, वह इस सृष्टि कथा की गौण पात्र है, प्रधान पात्र तो पुरूष है। इतिहास के विभिन्न मोडो पर वह पुरूष द्वारा कभी देवी तो कभी दानवी रूप में प्रतिष्ठित की जाती रही। मानवी के रूप में, एक मानव व्यक्ति के रूप में उसे जगह पाना शेष है।

जर्मनी के विश्व प्रसिद्ध दार्शनिक मैक्समूलर ने 'द हिस्ट्री ऑफ एन्सिएन्ट संस्कृत लिटरेचर ' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि भारत में वैदिक काल मे नारी को परिवार और समाज में अत्यधिक

महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था और जीवन के हर क्षेत्र में पुरूष के समान ही प्रगति के समान अवसर उपलब्ध थे। स्त्री को पराधीन बनाने बाली मनोबृत्ति का आरम्भ तो मध्य एशिया की कुशाण जाति से होता है।

पाश्चात्य विद्वान जानस्टुअर्ट मिल ने अपनी पुस्तक 'सब्जैक्शन ऑफ वुमैन ' ने स्पष्ट किया है कि स्त्रियों को पुरूषों से बढ़ चढकर बताये जाने के गीत तो सर्वत्र गाये जाते है पर यह सब कुछ उन्हें प्रसन्न रखने के लिए ही होता है जब कि व्यवहार में ठीक इसके विपरीत दृष्टिगोचर होता है।

नारी जागृति एवं स्वतन्त्रता के लिए प्रयास सदा से होते रहे हैं चूंकि यह मानवोचित अधिकारों को लेकर अठाया गया प्रश्न था अतः विश्व के किसी भी देश में यह चिन्गारी फूट पड़ी, माध्यम भले ही कोई एक महिला बनी हो किन्तु यह आन्दोलन पूरे विश्व को अपने चपेट में लेकर ही रहा। जिसका परिणाम यह हुआ कि सदियों तक घृणा, तिरस्कार ,अपमान का घूँट पीती नारी पुरातन मान्यताओं, पर परम्पराओं, रीति–रिवाजो के विरूद्ध आवाज तो उठा रही है।

समानता के अधिकारों के लिए पहली बार रोम की महिलाओं ने सन 43 वी.सी. में शंखनाद किया था। उनका प्रतिनिधित्व सुप्रसिद्ध रोमन वकील की पुत्री 'होटैनेसिया' कर रही थी। उन्होंने राष्ट्र के सर्वोच्च पदाधिकारी के सामने एक ही प्रश्न रखा कि नारी को पुरूष की अपेक्षा हीन और तिरस्कृत दृष्टि से क्यों देखा जाता है? क्षमता एवं कार्य दक्षता में वह पुरूषों के साथ बराबरी कर सकती है, फिर क्यों उसे शिक्षा एवं प्रशासनिक कार्यो में आगे नहीं बढ़ाया जाता है, उनके पिता स्वयं इस विषय के प्रतिपादक थे। यद्यपि उन्हें उस समय आंशिक सफलता मिली किन्तु सम्पूर्ण विश्व में नारीं जागृति लाने के लिए यह चिन्गारी सिद्ध हुई।

उसी समय किस्टिन डी.पी. सेन नाम की विदुषी महिला अपने लेखो एवं कविताओं के माध्यम से लोगों के मन में यह भाव जगा रही थी कि महिलाओ को ऊँचा उठायें विना शिक्षित ,सभ्य एवं सुसंस्कृत बनाये बिना राष्ट्र का उत्थान असम्भव है। दैनिक पत्र–पत्रिकाओं में नारियों का आह्यन किया कि वे अपपढ एव अयोग्य न रहें अपितु शिक्षा–विज्ञान, चिकित्सा के क्षेत्र में आगे जाने का प्रयास करें।

ब्रिटेन की प्रखर तेजस्वी एवं स्पष्ट वक्तव्य देने वाली मेरी मान्टेग्यु के लेखों ने तो महिलाओ मे नव–जागृति का प्राण ही भर दिया। उनका विश्वास था कि धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि किसी भी दृष्टिकोण से नारी को हीन नहीं कहा जा सकता । नारी एवं पुरूष में वौद्धिक, शारीरिक एवं मानसिक सामर्थ्य एक समान है। उनका कहना था कि प्रकृति ने हमें पुरूषों से गया–गुजरा नहीं बनाया है। ईश्वर के यहाँ हमें पक्षपात नही मिलता है। पक्षपात तो पुरूषों ने किया है ताकि वे हम पर शासन कर सकें इसलिए उसने हमें दीन–हीन पंगु बनाया है। अतः नारियों उठो ! जागो ! एवं अपने अधिकारों के लिए लड़ो जब तक तुम्हें समानता का हक न मिल जाय।

सन् 1850 तक न्यूजीलैंड में महिलाओं को बोट देने, उच्च शिक्षा ग्रहण करने एवं प्रशासनिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं मिला था। फलतः इसके लिए ब्रिटेन में जन्मी महिला 'मेरी मूलर' ने समानता के लिए संघर्ष किया वे हर वर्ग की महिलाओं से मिलने उनके घर जाती एवं उन्हें भावी संघर्ष की भूमिका बताती। बड़े भावपूर्ण शब्दों में उन्होंने एक पर्चा प्रकाशित किया "एन अपील टू द मैन ऑफ न्यूजीलैण्ड" इस पर्चे में नारी की वर्तमान स्थिति एवं पुरूषों द्वारा उस पर किये जाने वाले अत्याचारों का भावपूर्ण विवेचन था। इस पर्चे ने उस विचार कान्ति को जन्म दिया जिसके फलस्वरूप उच्च पदों पर आसीन पुरुष वर्ग स्वयं

अधिकार दिलाने एवं नारी की दशा सुधारनें के लिए प्रयास करने लगे। अन्ततः 1884 में एक कानून बनाया गया जिसमें नारी को पुरूष के समतुल्य अधिकार देने की घोषणा की गयी।

जान स्टुअर्ट मिल की प्रसिद्ध रचना 'सब्जेक्शन ऑफ बूमेन' का जर्मन भाषा मे अनुवाद करने वाली जेन्नी हिरक की सहपाठी एलिक सेलमेन पहली महिला थी, जिन्होने बर्लिन विश्वविद्यालय से महिलाओं की स्थिति पर लेख लिख कर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने अपने लेख में विश्व के सभी देशों में नारी की स्थिति को स्पष्ट किया और बताया कि किस तरह उन्हें पुरूष से अधिक श्रम करने एवं उत्पादन बढ़ाने के बाद कम मूल्य एवं सम्मान मिलता है। भारत की सती प्रथा, बाल–विवाह, अनमोल विवाह, दहेज प्रथा एवं छोटी बच्चियों का गर्भवती बनना जैसी कुप्रथाओं का मार्मिक चित्रण उनके लेख में है।

सन् 1789 में फ्रान्सीसी कान्ति ने भी नारी को अप्रभावित नही छोडा। समानता स्वतन्त्रता तथा मानवीय अधिकारों की रक्षा हेतु व्यापक जन कान्ति ने नारी की दशा सुधारने का अपना उद्देश्य बना लिया। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध फेन्च दार्शनिक एवं कान्तिकारी 'कौन्डोसर्ट' ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई उन्होने 'द एडमीशन ऑफ वीमेन टू फूल सिटीजनशिप' नामक अपनी कृति के माध्यम से नारी मुक्ति आन्दोलन की शुरूआत की। वे पहले विचारक थे जिन्होंनें नारी की ज्वलंत समस्याओं का विस्तार पूर्वक पर्दाफाश किया और उन्हें अपनी दशा सुधारने के लिए स्वयं आगें बढ़ने के लिए प्रेरित किया। दूसरे विद्वान थे 'जान स्टुअर्ट मिल' जिन्होंने 'सब्जेक्शन आफ वीमेन' के माध्यम से इग्लैण्ड में नारी मुक्ति आन्दोलन का सूत्रपात किया यद्यपि वहॉ इस अभियान की आधार शिला सन् 1792 में ही मेरी वाल्स्टन काफ्ट नामक महिला द्वारा रखी जा चुकी थी। मेरी काफ्ट ने अपनी कृति 'ए विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वीमेन ' के

माध्यम से शिक्षा व व्यवसाय के क्षेत्र में स्त्रियो के समान अधिकार की घोषणा की। लेखिका के शब्द स्मरणीय हैं– "मैं दैहिक एवं मानसिक शान्ति प्राप्ति करने के लिए साहस के साथ आगे बढ़ाने का आह्वान स्त्रियों से करती हूँ। मैं उन्हें यह समझाना चाहती हूँ कि 'हृदय की भावुकता, भावो की नजाकत' , और 'रूचियो की परिष्कृति ' जैसे सुन्दर मुहावरे जो उनके लिए गढें गये है वे प्राय. उनकी दुर्बलता के पर्यायवाची विशेषण हैं।"

मेरी काफ्ट के पश्चात उन्नीसवी सदी मे नारीमुक्ति आन्दोलन को तत्कालीन दार्शनिक और अर्थशास्त्री जान स्टुअर्ट मिल ने गति प्रदान की। लिंग भेद के विरूद्ध उन्होने एक जवर्दस्त जेहाद खडा किया और स्त्री पुरूष के बीच बरती जाने वाली असमानता को समाज के सर्वागीण विकास में बाधक बताया। उनसे प्रेरणा पाकर सन् 1903 में राष्ट्रीय स्तर पर जगह–जगह विद्रोह उठ खड़े हुए। इससे 'विमन्स सोशल एण्ड पालिटिकल युनियन ' की स्थापना हुई।

जून 1946 में 'युनाइटेड कमीशन ऑन द स्टेट्स ऑफ विमेन ' की स्थापना हुई। इसका मुख्य उद्देश्य था प्रत्येक देश में नारी को राजनैतिक अधिकर प्रदान करना । उन्नीसवी सदी का युरोप जहॉ नारी को मात्र सुकोमल, रमणी, कामिनी आदि मानता था, सर्वेक्षण बताते हैं कि अब वही वर्ग नारी समुदाय को सबसे अधिक सशक्त पक्ष मानने को बाध्य हुआ है । शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय, कला आदि क्षेत्रों में उसकी महत्वपूर्ण भागीदारी शुरू हुई। 1960 के दशक में नारीवाद या नारी मुक्ति आन्दोलन खास तौर से संयुक्त राज्य अमेंरिका में अपने एक नये रूप में प्रकट हुआ।

हिन्दुस्तान में सदियों से होते आ रहे अपने शोषण और अत्याचारों के खिलाफ नारियों में जागरण की चिन्गारी आजादी के कुछ पहले ही कौंधी थी। ' ईश्वर चंद विद्यासागर ' द्वारा स्थापित "वेहराम जी

माला–बावरी सघ " विधवा विवाह और फिर बाल विवाह पर रोक लगाये जाने की मॉग को लेकर सामने आया। 1866 मे राजाराम मोहन राय ने सती प्रथा के विरूद्ध आवाज उठायी। औरतों के खोये हुए अधिकारों की पुनर्व्यवस्था में ' बह्म समाज ' की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही।

अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की स्थापना ने नारी मुक्ति आन्दोलन को एक सही दिशा प्रदान की । इस मंच की नीव एक अंग्रेज महिला ' मारग्रेट ड्र कजिन्स ' ने 1926 ई. में डाली थी। 5 फरवरी 1926 को बड़ौदा की महारानी ' चिम्मनबाई गायकवाड़ ' की अध्यक्षता में महिला सम्मेलन के तत्वाधान में राष्ट्रीय पैमानें का अधिवेशन आयोजित हुआ। महारानी बड़ौदा ने 1921 में ' पोजीशन आफ वीमेन इन इण्डियन लाइफ " लिखकर पहली बार भारतीय महिलाओं के 1–दर्द को स्वर दिया 2– नारी मुक्ति आन्दोलन की पुरानी नेत्रियों में सिस्टर निवेदिता ,बेगम भोपाल, सरोजनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंण्डित, कमला देवी चट्टोपध्याय ,हंसा मेहता, सुषमा सेन आदि के नाम उल्लेखनीय है।

आजादी के पूर्व के नारी आन्दोलन का कमजोर पक्ष यह भी था कि वह समाज में औरतों की वेहतर स्थिति की प्राप्ति के लिए चलने वाला एक सुधारबादी आन्दोलन था। यह आन्दोलन गिने–चुने राजघरानों या सुविधा सम्पन्न महिलाओं के हाथ में रहा आम नारी प्रायः इससे अछूती रही। भारत मे आजादी के वाद तेजी से शिक्षा का प्रचार हुआ और देश में औरतों का एक ऐसा वर्ग उभरा जिसने आधुनिकता का स्वाद चखा। जो शिक्षित था और सवाल उठाता था, प्रश्न करता था कि आखिर उसके वास्तविक अधिकार क्या है? पुरूषों के दर्द का भार वे कब तक सहती रहेंगी? परन्तु आठवें दशक के आरम्भ में एक तूफान की तरह सारे देश में नारी आन्दोलन उभरें हैं। इस आन्दोलन के लिए भौगोलिक परिस्थितियॉ

तो तैयार थी ही ,पश्चित के नारी मुक्ति आन्दोलन का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव था।

पश्चिम मे जब औरते पुरूषों के बराबर हक की मॉग लेकर सड़कों पर उतरी थी तब उन्होंने प्रसाधन के साधनों का वहिष्कार किया, केश कटवाये ,मुक्त यौन सम्बन्धों की मॉग की तो समाज में नैतिक मूल्यों में तेजी से गिरावट आयी जिसके कारण नेत्रियों ने अपने आन्दोलन का रूख ही बदल दिया और अपने अतीत की ओर पुनः मुखातिब हुई तथा संस्कारो और अधविश्वासों को ही अपने अनुकूल मानने लगी। इसका असर यह था कि हिन्दुस्तान में भी यहॉ–वहॉ नारियों ने पुरूषों के खिलाफ ऐसे प्रदर्शन किये तथा बराबरी के अधिकारों के मॉग को लेकर पुरूष को अपना दुश्मन करार दिया ।

नवम्बर 1988 के अन्तिम सप्ताह में महाराष्द् के पवनार (वर्धा) स्थित ब्रह्म विद्यामदिर के परिसर में ' द्वितीय विश्व महिला सम्मेलन ' सम्पन्न हुआ। इसमें कुल वारह देशों की 650 महिला प्रतिनिधियों ने भाग लिया इस सम्मेलन का अन्त इस निष्कर्ष के साथ हुआ कि इन तीन गुणों (निर्मयता, सामूहिकता और भावनात्मक एकता) को बढ़ाने के लिए हमें द्विज बनना होगा। यह द्विजत्व आयेगा शरीर से उपर उठने से । विनोवा जी ने अपने बोधि चिन्ह में जिन तीन शक्तियों का जिक किया है, उनमे लक्ष्मी ,सरस्वती तथा शक्ति के गुणों की उपासना करनी होगी।"

सही अर्थो में नारी मुक्ति का सवाल नारी को एक माल के रूप में तब्दील हो जाने के कारण उठाया जा सकता है? केवल मुक्ति का कीर्तन करने से क्या लाभ? वह केवल हमें भटकाता है। 'इस दृष्टि से काली कट (केरल) में सम्पन्न महिला आन्दोलन पर चौथा राष्ट्रीय सम्मेलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 28 से 31 नवम्बर 1990 तक चलने वाले इस सम्मेलन मे देश के अलग–अलग इलाकों में सकिय कान्तिकारी नारी

सगठनो से लेकर स्वायत्त नारी समूहो से सम्बद्ध 1700 से ज्यादा महिलाओं ने साझेदारी की।

'सम्मेलन के अन्तिम दिन पारित प्रस्तावों में एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव यह भी था कि आने वाला (8 मार्च) अन्तर्राष्ट्रीय महिला दिवस साम्प्रदायिकता विरोधी दिवस के रूप में मनाया जा तथा पूरा साल साम्प्रदायिकत हिसा के खिलाफ और सम्प्रदायिक सवाल के लिए मुहिम चलायी जाय।"[1]

मेरे कहने के अनुसार इस तरह के सार्थक सुझाव देश मे विखरे छिट–पुट कान्तिकारी नारी संगठनों द्वारा व्यक्त किये जाने पर कहीं न कही देखने को मिल जाते हैं।

आधुनिक नारी आन्दोलन की शुरूआत सितम्बर 1981 में 'ख्वातीन महाज' (वीमेन्स एवन्शन फोरम) के जन्म से मानना चाहिए।

' ख्वातीन महाज ' की नीव सितम्बर 81 में करॉची के कुछ व्यवसायिक मध्यमवर्गीय औरतों द्वारा रखी गयी। इनका उद्‌देश्य पाकिस्तानी औरतो के लिए उनके मानवीय अधिकारों की प्राप्ति और उनका विकास इन अधिकारों में सम्मिलत है– शारीरिक सुरक्षा, विवाह , व मातृत्व के मामले में स्वतन्त्र चुनाव का हक और भेद भाव के उन्मूलन।

संयुक्त राष्द्र संघ के तत्वाधान में नैरोबी में सम्पन्न 1975 से 1985 तक मनाये गये महिला दशक के समापन समारोह में नारी मुक्ति की व्यापक चर्चा की गयी। मिस्र की चिकित्सक नवल–उल–सादवी ' ने महासचिव के कहे गये वाक्य को यह कहते हुए कुछ आगे तक और खींच दिया कि– " स्वर्ग मे भी पुरूषों को हमसे ज्यादा अधिकार होंगे और हमें वहॉ जाकर भी अपनी लड़ाई लड़नी होगी।"

---

[1] प्रस्तुति 'लोक दस्ता' , मार्च–अप्रैल 1991 ' 'नारी मुक्ति का सघर्ष' डा0 अमर नाथ , पृ सं. 135

सरकारी और गैर सरकारी स्तर पर चलने वाले दो समानान्तर सम्मेलनों मे स्त्रियो के साथ बरते जाने वाले भेद–भाव के लिए अमरीकी सरकार को खासतौर पर कठघरे में खडा किया गया। तीसरी दुनिया की महिला प्रतिनिधि इस विषय पर बहुत मुखर रही, जिन्होंने "रीगन" सरकार को स्त्री और पुरूष जातियों में फर्क करने के लिए सबसे बड़ा दोषी करार दिया। नैरोबी रवाना होने के ठीक पहले एक संवाददाता सम्मेलन में रीगन की 44 वर्षीया पुत्री "मारीन" ने नारी अधिकारों पर व्यापक चर्चा की थी लेकिन नैरोबी पहुँचने पर अपने कथनी और करनी में यह कहते हुए अन्तर स्पष्ट कर दिया कि– " हम स्त्रियों की समस्याओं को राजनीति से अलग करके देखेगें क्योंकि उससे समय बर्बाद होगा और असली मुद्दों पर विचार–विमर्श का समय नहीं निकाल पायेगें।"

'विभिन्न सरकारों के झूठे–सच्चे वादे सामने आये। उपलब्धि के नाम पर स्त्रियॉ अपने अधिकरों के बारे में पहले से ज्यादा जागरूक हुई हैं, मगर इसका श्रेय किसे दिया जाना चाहिये यह तय करना मुश्किल है। सदियों की खामियो को एक दशक में दूर करनें की असंभव बात को बार–बार दोहराया गया और स्त्रियों के जीवन में जो थोड़ा–बहुत बदलाव आया है उसे हर सरकार ने रंगीन चश्मे से देखने की कोशिश की।'[1]

अमेरिका की प्रसिद्ध महिला नेत्री ग्लोरिस्टाइनम की नैरोबी के इस सम्मेलन पर टिप्पणी थी कि– " वह प्रतिवद्ध स्त्रियों का नही एक नितान्त सरकारी किस्म का सम्मेलन है , जिस सम्मेलन में हमारे देश की स्त्री प्रतिनिधि मण्डल की प्रमुख बनकर रीगन की पुत्री गयी हो उसे और

---

[1] 'दिनमान' 11–17 अगस्त, पृ स. 23

क्या कहेगे? अधिकतर प्रतिनिधि मडलों की प्रमुख देश के राज प्रमूख की बीबी या बेटी हो तो खुलकर बात क्या होगी।' [1]

एक विचारक ने कहा कि बड़े–बड़े मजबूत आदमी भी इस कलह में गर्क हो गये, उन्होंने आत्महत्यायें कर ली। एक क्रान्तिकारी ने कहा कि यदि लेनिन के साथ भी लड़कियॉ होती और वे हिन्दुस्तानी समाज में होते तो सारी कान्ति धरी रह जाती। एक व्यंग्यकार ने इस पर व्यग्य लिखा–स्त्री चाहे घर को स्वर्ग बना दे चाहे तो घरवालों को स्वर्गवासी। जबाब मे दूसरा धारदार व्यग्य लिखा गया कि जन्मपत्री लड़के से नही लड़के की मॉ से मिलाना चाहिये।

"लेकिन इसे जरा गहराई से देखा जाय तो पता लगे कि तंत्र ने सारी धुर्तता नारियो के मत्थे मढ़ दी हैं बड़ें आराम से निष्कर्ष निकाल लिया गया कि यदि स्त्री सुशील ,कर्त्तव्य परायण ,पतिव्रता , सेवा–सुश्रूषा करने वाली चुप , महान , शान्त यानी देवी होती तो स्वर्ग बना बनाया था। लेकिन यह देवतापन कितनी धुर्तताओं का रस हैं।[2]

अतः नारी मुक्ति के सवाल को केवल वैज्ञानिक दृष्टि ही सही सन्दर्भो मे पेश कर सकती है हम लोगों को वैज्ञानिक दृष्टि अपनानी पड़ेगी, एक सच्चा इमानदार इसान बनकर ही हम इस सवाल को उठा सकते है और उसका हल ढूढ़ सकते हैं। हमें अपनी दृष्टि खुली रखनी होगी दिमाग साफ रखना होगा, आधुनिक युग में बड़े–बड़े कल कारखानों के खुलने के बाद देखा गया कि नारी समाज का एक बड़ा हिस्सा (मुख्यतः गरीब वर्ग से ही) इन कल–कारखानों में काम पाने लगां, एक

---

[1] 'दिनमान' , ग्लोरिया स्टाइनम से अमेरिका में मृणाल पाण्डेय द्वारा लिया गया साक्षात्कार, 'वामा' सितम्बर ,85, पृ स 15

[2] ' नारी स्थिति सर्वेक्षण और मूल्याकन मे प्रदीप सक्सेना का लेख , पृ0 17

बार सामाजिक उत्पादन के काम मे नारी समाज की हिस्सेदारी शुरू हो गयीं इससे नारी की सामाजिक मुक्ति का रास्ता दिखाई देने लगा उसने अपनी जीविका अर्जित करके आर्थिक स्वाधीनता की ओर कदम उठाया।

वर्तमान पूँजीवादी समाज में भी हम देखते हैं कि ऊपरी तौर पर नारी–पुरूष की स्वाधीनता की आड़ में नारी का कितना कठोर शोंषण किया जाता है? एक तरफ अभिजात्य वर्ग की कुछ महिलाओं को 'हिरोइनो' के रूप मे खडा किया जाता है, व्यक्तिगत रूप में उन्नति का अवसर पाकर शिक्षित और आगें बढी हुई महिलाओं को दिखाकर यह कहा जाता है कि देखिये ये नारी समाज कितना आगे बढ़ रहा है , वह कितना स्वाधीन हो रहा है, दूसरी ओर मजदूर किसान और मध्यम वर्गीय परिवार का व्यापक नारी समाज अपार शोषण का शिकार है।

वर्ग विरोध और वर्ग–शोषण के साथ नारी–शोषण की कहानी एतिहासिक रूप से जुड़ी हैं। सर्वहारा वर्ग के जरिये पूँजीवाद के उन्मूलन तथा समाजवाद की स्थापना के साथ ही नारी समाज की सम्पूर्ण मुक्ति सम्भव हो सकेगी ।

"जहॉ भी समाजवादी कान्तियॉ हुई वहॉ नारी जाति की वास्तविक मुक्ति सम्भव हुई । इसलिए आज शोषण–विहीन समाज व्यवस्था को अपनी मुक्ति की मंजिल समझकर सारे विश्व के पूंजीवादी सामंती देशो की मेहनतकश नारियॉ शोषण के जुए को उतार फेंकने के लिए सघर्षरत हैं। इतिहास की धारा उस गन्तव्यकी ओर आगे वढ़ रही है जहॉ वर्ग और वर्ग–विरोध से भरे हुए पुराने पूजीवादी व्यवस्था का स्थान एक ऐसी समाज व्यवस्था लेगी जिसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास ही सबके स्वतन्त्र विकास की शर्त होगी।"[1]

---

[1] " कलम " मार्क्स विशेषाक ,अप्रैल 1994 ,कनक मुखर्जी का लेख पृ0 138

सोवियत सघ की यात्रा से लौटने के बाद श्री राज्यम सिन्हा ने अपनी पुस्तक ' सोवियत नारी की कहानी ' की भूमिका में लिखा हैं–

"सोवियत संघ के अनुभव से यह सिद्ध हो गया कि स्त्री और पुरूष की सामाजिक समानता केवल समाजवादी समाज में सम्भव है , जहॉ व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाप्त कर दिया गया है तथा देश के मेहनत कश लोग सरकार का संचालन करते हैं। ऐसे शासन तंत्र में स्त्रियॉ अक्षरशः बहुरंगी फूलो के रूप में खिल पड़ती हैं और अपने चारों ओर उल्लास और सुगन्ध फैलाती हैं इन सारी चीजों को ऑखों से देख पाना मेरे लिए एक महान सौभाग्य था।"[1]

नारी को अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के निर्माण के लिए इन सामंती मूल्यों एव जड़ संस्कारों के खिलाफ संघर्ष करना होगा। अंधविश्वास, व्रत–उपवास, पूजापाठ, छुआ छूत जैसी कुरीतियों की पोषक नारी ही होती है , इन्हें इनसे मुक्ति पानी होगी। नारी मुक्ति की शर्त है परिवार के स्तर पर पुरूष के शोषण के खिलाफ आवाज उठाना । हमारे देश का मेहनतकश पुरूष समाज जहॉ पूजीवादी व्यवस्था के पोषक शोषक वर्ग द्वारा ही शोषित है वहॉ नारी दोहरे शोषण की शिकार है, एक तो स्वंय भी पुरूष के साथ शोषकों द्वारा दुसरे परिवार के स्तर पर अपने घर के पुरूषों द्वारा। नारी मुक्ति संघर्ष की एक शर्त यह भी है कि वह पूंजीवादी व्यवस्था के खिलाफ है। वास्तव मे नारीं की वास्तविक मुक्ति शोषक पूंजीपति वर्ग की इस व्यवस्था को जड़ से उखाड़ कर फेंकने और उसकी जगह समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने पर ही सम्भव है।

---

[1] सोवियत नारी की कहानी , श्री राज्यम सिन्हा, पृ0 131

जिसके लिए मेहनतकश जनता के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर नारी समाज को भी एकजुट होकर व्यापक संघर्ष छेड़ना होगा।

नारी मुक्ति का सवाल सबसे पहले आर्थिक आत्म निर्भरता की मॉग करता है। पूजीवादी देशों की भाँति भारत में भी स्त्री प्रायः दोयम दर्जे की नागरिक मानी जाती है। पति के रहते उसकी सम्पत्ति में पत्नी का कोई अधिकार नहीं और पति की मृत्यु के बाद भी सम्पत्ति का मालिक पुत्र होता है। इन दोनो के आभाव में ही सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार होता है। दूसरी ओर घर मे औरतों को घर गृहस्थी का काम करना पड़ता है उसका उन्हें एक पैसा भी नहीं मिलता जबकि बाहर काम करने वाले पुरूषों से ज्यादा उत्तरदायित्व और कठिन परिश्रम घर के काम में होता है। (जुलाई 85 में नैरोबी में नारी दशक के सन्दर्भ में आयोजित महिला सम्मेलन में घर मे काम करनें के बदले वेतन देने की मॉग उठी थी) नारी मुक्ति का सवाल राष्ट्र के निर्माण मे नारी के स्वतन्त्र सक्रिय योगदान का सवाल है। आज देश में ऊँचे पदों पर पहुँच कर और कुशलता पूर्वक अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करके नारियों ने यह सेवित कर दिया है कि वह हर तरह के दायित्व को निभाने में सक्षम है।

2—हिन्दी साहित्य का सन्दर्भ और स्त्री विमर्श ,संक्षिप्त दृश्यालेख

हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में आधुनिक काल जब से प्रारम्भ हुआ तभी पुर्नजागरण के प्रभाव से स्त्री विमर्श तकनीकी रूप में न सही पर व्यवहारिक रूप में आरम्भ हो गया। भारतेन्दु ने अपनी यात्राओं के सिल–सिले में जो सभायें की , चाहे बलिया में चाहे बस्ती में उन्होंने देश के जागरण के उपलक्ष्य में स्त्रियों की शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया और इस आशय की बात कही कि स्त्री इस देश की आधी आबादी है और आधी आबादी में जागरूकता लाये बिना सामाजिक जागरूकता की बात

वेमानी है। भारतेन्दु और उनके मण्डल के लोखको ने स्त्री सम्बन्धी जागरूकता का श्रीगणेश मात्र किया था , आधुनिक हिन्दी साहित्य के द्वितीय चरण मे विशेषकर ' हिन्दी नवजागरण का बहुत कुछ अन्य सन्दर्भो के अतिरिक्त स्त्री के जागरण और उसके राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामाजिक आन्दोलन में हिस्सेदारी लेकर व्यवस्थित हो रहा था। स्वयं द्विवेदी जी और और उस समय के दूसरे गद्य–लेखक अपनी टिप्पणियों में स्त्री के साथ सामाजिक न्याय की चेतना को उल्लखित करने का कार्य करने लगे। क्रान्तिकारियो की जमात मे स्त्रियो की हिस्सेदारी आरम्भ हो गयी । स्वदेशी आन्दोलन ,कांग्रेस पार्टी और विभिन्न सामाजिक संस्थाओं , सम्मेलन , सगोष्ठियो मे स्त्री और शूद्र जो दोनो ही उपेक्षित थे, एक बार फिर से विमर्श के प्रकाश मे आने लगे। बंगाल में शरत चन्द चट्टोपध्याय और हिन्दी क्षेत्र मे प्रेमचंद, प्रसाद जैसे लेखक स्त्री को महत्व देने वाली चेतना को अपने साहित्यिक उपक्रम में समायोजित करने लगे। अशिक्षा, विधवा विवाह, अर्न्तजातीय प्रेम, वेमेल विवाह और दूसरे नारी सन्दर्भी प्रकरणों को निबन्धों, नाटको और कथानकों का विषय बनाया जाने लगा। सच तो यह है कि भारतीय परिवेश में स्त्री विमर्श का प्रथम गुणात्मक हस्तक्षेप राजाराम मोहनराय के सती प्रथा विरोधी आन्दोलन से ही विशेष रूप से घटित हुआ। भारतीय समाज अपनी सांस्कृतिक यात्रा में स्त्री को देवी मानने के बावजूद आधुनिक काल के पहले तक उसके साथ होने वाले अमानवीय और विषम व्यवहार के प्रति उतना चितित नहीं था जितना आधुनिक काल में वह चितिंत हुआ।

वस्तुतः आधुनिकता का एक आयाम मानवीय प्रज्ञा के सतत् वर्तमान ने स्त्री के प्रति एक स्वाभाविक तर्क संगत , वस्तुनिष्ठ और समान धर्मी चेतना का इतिहास है। आधुनिकता तर्कशीलता पर आधारित है और तर्क स्त्री–पुरूष मे गैर बराबरी अथवा स्त्री के प्रति सौतेला व्यवहार कर

ही नही सकता। दोनो ही महत्वपूर्ण है। दोनों का समाज और परिवार के निर्माण मे युग्पति योगदान है। इसलिए भारतेन्दु युग से ही स्त्री को मध्यकालीन सोच से अलग करने की कोशिश रचनाकारों ने शुरू कर दी , यह एक प्रतिक्रिया भी थी क्योंकि सामती व्यवस्था में स्त्री शोभा और भोग की वस्तु थी। अलंकार या मुद्रा की तरह उसका विपणन और व्यापार होता था। वह पुरूष की तृप्ति और अंग विशेष होने की योग्यता रखती थी। उसके लिए युद्ध हो सकता था पर उसके लिए न्याय समाज में नही था। इसका परिणाम समाज को दूषण की ओर ले गया। आधुनिकता के उन्मेष के साथ–साथ इस विचार धारा पर अकुश लगना आरम्भ हो गया और अग्रेजो की चलाई हुई शिक्षा पद्धति के परिणाम स्वरूप स्कूल कालेजो से भी निकली लडकियों के भीतर कुछ ऐसी कसमसाहट उठी कि स्त्री भी स्वाधीनता और व्यक्तित्व की सुरक्षा का प्रश्न वुद्धिजीवी समाज को उन्माथित करने लगा। दूसरे शब्दों में ये एक प्रकार से पढ़ी लिखीं स्त्रियों को अपनी पहचान और प्रतिष्ठा बनाये रखने के आन्दोंलन के रूप में समाज के भीतर रूपायित हुआ और आज उसके अनेक आयाम स्त्री–विमर्श के रूप में सामने आने लगे हैं। इसे दूसरे शब्दों में सामंतकाल के गठित लोकतन्त्र का स्त्री सन्दर्भी चैतन्यता भी कह सकते हैं या पुरूष मूलक समाज स्त्री की उपेक्षा की प्रतिक्रिया भी इसे कह सकते हैं। पर यह नितान्त प्रतिक्रिया ही नहीं है। क्योंकिं इस रूप में इसका स्वरूप ऋणात्मक ज्यादा हो जाता है। यह एक प्रकार की जरूरी प्रगति शीलता भी है जो समाज के विवेक को प्रतिष्ठित करती है ,अन्याय का प्रतिकार करती है, स्वाधीनता और सम्प्रभुता के बुनियादी मानवीय विकास रथ को समुचित जगह पर पहुँचाने में सहायक भी होती है ।

स्त्री स्वतन्त्रता की गूंज सबसे पहले सीमोन द वोउवार के ' द सेकेंड सेक्स ' में ही सुनाई पड़ी थी उनका कहना था कि – " सच्चाई

तो यह है कि पुरूष के मूल्यो की बराबरी मे या उनके खिलाफ औरत ने कभी स्त्री–मूल्यो को स्थापित करने की चेष्टा नही की। यह तो पुरूष है जो सत्ता मे रहने के कारण अपनी सुविधाओं को बनाये रखने के लिए मूल्यो की भिन्नता औरत पर थोपता है। पुरूष ने औरत के लिए दुनिया बनाने का अधिकार अपने पास रखा।" लेखकों के बारे में वे कहती हैं– ' प्रत्येक लेखक अपनी–अपनी कलम से स्त्री के बारे में एक महान सामूहिक मिथक की ही रचना कर रहा है। ' उनकी दृष्टि में मिथ मानों उन मिथ्या वस्तुओ का जाल होता है जिसमे स्थापित 'मूल्यों' पर आस्था रखने वाले व्यक्ति सहज मे फॅस जाते है। लेखिका का निष्कर्ष है कि साहित्य में स्त्री एक वस्तुगत सत्य की जगह काव्यमय सत्य की तरह प्रतिष्ठित है।

जयशंकर प्रसाद की कमायनी मे नारी के काव्यमय स्वरूप के साथ यानी उसके काव्यमय सत्य के साथ उसके वस्तुगत सत्य का सतत् द्वन्द्व दिखाई पड़ता है। इस दृष्टि से लज्जा सर्ग में लज्जा और श्रद्धा का संवाद ध्यान आकर्षित करता है। श्रद्धा मानों अत्याधिक नारीवादी दृष्टि को स्वर देती हुई कहती है–"यह आज समझतो पाई हूॅ मैं दुर्बलता में नारी हूॅ अवयव की सुन्दर कोमलता लेकर मै सबसे हारी हूॅ" आत्मोसर्ग और समपर्ण जैसे नारी से जुड़े मूल्यो के बारें मे उसका विचार है –

इस अपर्ण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है,
मैं दे दूॅ और न फिर कुछ लूॅ
इतना ही सरल छलकता है।

श्रद्धा का उक्त कथन नारी जीवन की त्रासदी का जिसमें उसकी शारीरिक त्रासदी से लेकर मूल्यगत त्रासदी तक शामिल है , सच्चा अंकन है।

शरतचन्द्र का अत्यन्त महत्वपूर्ण उपन्यास है 'शेष प्रश्न' । इसका केन्द्रीय चरित्र है कमल, जो अत्यन्त स्वाभिमानी और युक्ति की निर्मम तथा कठिन कसौटी को ही अपने विचारों का प्रमाण मानने वाली है। अपने स्वतंत्र विचारों के कारण लोगों से लांछित होती हुई भी वह अपने प्रति लोगों का अत्यन्त आकर्षण रखती है। वह एक अन्य चरित्र नीलिमा से कहती है– "हमें चाटु वाक्यों में नाना अलंकार पहना कर जिन लोगो ने यह प्रचार किया था कि मातृत्व में नारी की चरम सार्थकता है, उन लोगो ने समस्त नारी जाति को धोखा दिया था। जीवन में किसी भी अवस्था में क्यों न पडना पड़े इस मिथ्या नीति को हर्गिज न मानना।"

"स्त्रियो के आत्मोत्सर्ग के बारे में उसका कहना है– "यह प्रवृत्ति है पर यह उनके भीतर की पूर्णता से नही आती हैं सिर्फ शून्यता से और उठती है हृदय खाली करके , यह तो स्वभाव नही आभाव है। सार्थकता का जो आइडिया बचपन से ही लडकियों के दिमाग में आप लोग (पुरूष) भरते आये हैं उसकी रटी हुई बातों को तो ही वे दर्प के साथ दुहरा कर सोचा करती हैं कि शायद वहीं सत्य है "[1] कमल के इन विचरों में अत्याधुनिक नारीवादियों के विचरों की झलक मिल जाती है। मातृत्व , समपर्ण और उत्सर्ग जैसे नारी मूल्य नारी के स्वभाव से नहीं नारी जीवन के आभाव से उपजे हैं। –

प्रेमचन्द पूर्व युग के उपन्यासकारों की दृष्टि नारी को लेकर के रीतिकाल की श्रृगारिक भावनाओं से ओत–प्रोत थी। इस युग के उपन्यासकारों के नारी पात्र महज कठपुतली मात्र थे। नारी की स्वतन्त्रता नारी की शिक्षा और विधवा विवाह जैसे प्रश्नों को धर्मभीरू जनता बड़ी

---

[1] कसौटी–अप्रैल जून 1999

शकालु निगाहो से देखा करती थी इतना ही नही घर की स्त्रियॉ स्वय पर्दे मे रहना अधिक पसंद करती थी।

'आदर्श हिन्दू उपन्यास की नायिका प्रियंवदा अपने पति प्रियनाथ से कहती है–' हम परदे में रहने वालियों को ऐसा सुख नहीं चाहिए, हम अपने घर के धन्धे में ही मगन हैं। इस तरह खुले मुँह बाहर फिरना, अपना गोरा–गोरा मुँह दूसरो को दिखाते फिरना, पर पुरूष से हॅस–हॅस कर बाते करना आखिर किस काम का । ऐसे सुख से तो घर में घुसकर मर जाना ही अच्छा है।'

"सुशीला विधवा" की सुशीला स्त्रियों को उपदेश देते हुए कहती है– 'पति के मर जाने पर सबसे बढ़कर तो धर्म तो यही है कि उसकी चिता में भस्म होकर पति का साथ दें। परन्तु आजकल ऐसा जमाना नहीं रहा, इसलिए जब तक जिये व्रह्मचर्य ब्रत का पालन करें। व्रह्मचर्य ब्रत का पालन करने वाली विधवाए मरने पर स्वर्ग में पति को प्राप्त करती है। और फिर दम्पत्ति का साथ कभी नहीं छूटता।'

इस युग की नारियॉ अपने सौन्दर्य के प्रति काफी अशिशप्त दिखाई देती है। "आदर्श दम्पति" की नायिका सुन्दरी एक जगह कहती है– 'निपूती रूप भी मेरा शत्रु बन गया है , जिधर भी जाती हूँ उधर इसके कारण एक न एक नई आपदा खड़ी हो जाती है। वास्तव में स्त्रियों का सौन्दर्य आटे का दिया है। आटे के दिये को घर में रखो तो चूहे खा जाते है। , बाहर निकलों तो कौवें चोंच मारते हैं।' इस समय तक स्त्रियों के अपने शोषित होने का एहसास होने लगा था किन्तु वे इसके विरूद्ध आवाज न उठा सकती थी।

प्रेमचन्द युगीन उपन्यासों में नारी कुछ हद तक जागरूक दिखाई देती है। प्रेमचन्द आदर्शवादी परिकल्पना के हिमायती थे। इस युग की नायिकाएं केवल घर की चार दिवारी तक ही सीमित नहीं थी बल्कि वे

सामाजिक एव राजनीतिक जीवन से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने मे सफल हो गयी। वे परदे मे रहने वाली नही है। इस युग मे विधवा विवाह का स्पष्ट अर्थो मे समर्थन मिलता है। वेश्या प्रेम और विधवा प्रेम की मान्यताए स्वीकृत की गयी। पिछले युग की नायिकाओं की अपेक्षा वे अधिक विकसित है। प्रेमचन्द विचारों से तो प्रगतिशील थे परन्तु वे काफी समय तक अपनी परम्पराओ का मोह त्याग नही सके। सुमन का विवाह सदन सिह से वे इसलिए नहीं करा पाये हैं क्योंकि वेश्या विवाह को अच्छा मानते हुए भी वे समाज मे विद्रोह उपस्थित नहीं कराना चाहते थे। हॉ इस काम को विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक ने अपने उपन्यास 'मॉ' में जरूर किया है। जब बन्दीजन वेश्या की दोनो पुत्रियो का विवाह हो जाता है, अत. इस समय तक नायिकाए उन्नति के पथ पर अग्रसर होती रहीं उनमें प्रगतिशीलता का सचार होता रहा।

प्रेमचन्दोत्तर काल में अनेक औपन्यासिक नवीन प्रवृत्तियो ने जन्म लिया। इन नवीन प्रवृत्तियों में फायड का मनोविश्लेषणवाद, व्यक्तिवाद, समाजवाद और अस्तिववाद शामिल है। उपन्यासकारों का ध्यान इन नवीन प्रवृत्तियों की ओर गया और एक नई नारी ने जन्म लिया जो सापेक्ष तो थी परन्तु उसमे युग से लडने और जीवित रहने की क्षमता भी थी। लेकिन इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है कि नारियों पर इन नवीन प्रवृत्तियो ने ही प्रभाव नही डाला अपितु इसमें भारतीय समाज की परिवर्तित परिस्थितियो का भी बहुत बडा हाथ है। भारत में नैतिक एवं सांस्कृतिक मर्यादाये खण्डित हो रही थी, दोषपूर्ण शिक्षा प्रणालीं के चलते स्त्रियॉ गलत दिशा की ओर प्रयाण कर रही थी। उनका अहंभाव अभर कर सामने आ रहा था। रामेश्वर 'शुक्ल' अंचल के उपन्यास 'चंढ़ती धूप' की नायिका ममता इन्ही भावनाओं की परम् अभिव्यक्ति करती है।

आज यदि समर्पिता, सहनशीलता को समाज स्त्री का सर्वोत्तम गुण बताता है तो यह उसकी स्त्री विरोधी दृष्टि है, और स्त्रियो को वेवकूफ बनाने का उपाय। स्त्री इसी सवेदनहीनता, सांस्कृतिक आंडम्बरों की शिकार है। 'साहित्य जगत मे तो लेखक ने अपनी कल्पना के अनुसार स्त्री स्वरूप का निर्धारण किया है। स्त्री ने स्वयं अपने बारे में अपनी भावना, अपने इतिहास अपनी इच्छा, अनिच्छा के बारे में कुछ नहीं नहीं कहा और न ही' उससे पुछा गया। पुरूष की संर्वधित चेतना, अधिपत्य की भावना स्त्री देह के प्रति पूँजीकरण की प्रवृत्ति ने न केवल साहित्य जगत मे भी स्त्री की नुमाइंदगी का प्रयास किया बल्कि उसके अनुभवों की प्रमाणिकता पर भी अपना मत–अमत जाहिर करता है।

प्रतिरोध का स्वर जब पहली बार उठता है तो बहुत ही अपरिचित और अकेला लगता है, अप्रिय भी। स्त्रियों के अन्दर अपनी राधीन स्थिति की चेतना और छटपटाहट बहुत पहले शुरू हो गयी थी। सोलहवी शताब्दी की रचनाकार मीराबाई पहली विद्रोही थीं। उन्होंनें अपने पदो मे विनम्र और प्रेम के साथ असहमति और अस्वीकार को भी अभिव्यक्ति दी। मीरा बार–बार यह जताती हैं कि जो मुझे प्रिय है उसकी चाकरी करना मुझे स्वीकार है परन्तु जो मुझे प्रिय नहीं है उसके महल दुमहले भी मेरे किस काम के।

जिस देश काल मे मीरा ने स्वाधीनता का जयघोष किया वह अभी इतने स्त्री–स्वातंत्र के लिए तैयार नही था। यह तैयारी 19वीं सदीं तक भी नहीं हो पायी। जब 1882 मे पंजाब की एक अज्ञात हिन्दू औरत की लिखी हुई 'सीमान्तनी उपदेश' पुस्तक प्रकाशित हुई । उन्नीसवीं सदी मे स्त्रियों के प्रति समाज में नियमगत घेराबंदी, स्त्री–पुरूष के लिए दुहरे मानदण्ड और मनुवादी दृष्टिकोण पर इस अज्ञात हिन्दू औरत ने जमकर प्रहार किये हैं। 'सीमान्तनी उपदेश' की लेखिका ने अपना नाम अन्त तक

उजागर नही किया है। हिन्दी की पहली कहानी पर विचार करते समय जब 'दुलाईवाली' कहानी का उल्लेख होता है तब भी रचनाकार का नाम 'बग महिला' मात्र मिलता है। बाद में खोजबीन कर राजेन्द्र बाला घोष नाम सामने आता है। इसका अर्थ यह निकलता है कि उन्नीसवीं सदी में स्त्री को लिखने की स्वाधीनता नही थी। इस हिसाब से देखा जाये तो 1947 से आज तक के समय में हमारे समाज ने परिवर्तन में विस्मय जनक त्वरा दिखाई है। आज स्त्रियॉ वेधड़क लिखती हैं। और लिखें हुए पर नाम की मुहर भी लगाती है। धीरे-धीरे उनके लिए अपनी बात कहने की परिस्थिति बनी है। पुरूष समाज को कई तकलीफ देह-सच्चाइयों से पहली बार परिचित होना पडा है। देवी, मॉ सहचरि, प्राण कहने भर से स्त्री आश्वस्त हाने वाली नही है, उसे समान रूप से इंसान का दर्जा चाहिए। यह छअपटाहट अज्ञात हिन्दू औरत की पुस्तक में भी व्यक्त हुई है।"[1]

स्त्रियॉ अब नारी जाति के लिए न्याय के संघर्ष को तीखा बना रही है। स्त्री अस्मिता के प्रश्न अब स्त्री-विमर्श का मुख्य विषय है। इसलिए स्त्री की अस्मिता के प्रश्न को लेकर अब स्त्री-लेखन में जवर्दस्त संघर्ष छिडा हुआ है। अब स्त्रियॉ पुरूषबादी वर्चस्ववाद को तोड़ने के लिए स्त्री अनुभवों को व्यक्त करने लगी हैं। पहले लेखिकाएं स्त्री की जो पारम्परिक दीन-हीन छवि प्रस्तुत करती थी अब स्त्री-विमर्श ने उस पारम्परिक स्थिति को बदल दिया है। अब वर्चस्व का समर्थन नहीं , खुले शब्दों में प्रतिरोध हाने लगा है। इस परिवर्तन को सुधीश पचौरी सूचना का फैलाव और उत्तर आधुनिकता मानते हैं।

---

[1] (सहारा 18 मइ 2002 पृ 9)

पिछले कुछ वर्षो मे साहित्य मे भी स्त्री एक नये रूप में उभर कर सामने आयी है। हलांकि औरतों के पक्ष मे रचे गये कहानी , उपन्यास , लेख और कविताओ मे दी गयी दलीलें लम्बे समय की यात्रा करके यहॉ तक पहुँची है और अब उस मुकाम पर आ गयी हैं जिस पर हमारा रूढिवद्ध समाज चिढ कर बौखलाने लगा है। समाज के मुखिया पुरूष ने पहाड की तरह यही सोचा कि धरती पर छाया किये हुए है, वह नहीं सोचना चाहता कि वह भूमि पर बोझ है। वस इसीलिए जब स्त्री ने अपना घूँघट उठाया और पूरे वजूद के साथ खडी हो गयी तो समाज की व्यवस्था चरमरा उठी। पुरूष सत्तात्मक समाज स्तब्ध रह गया। एक पूरी स्त्री अजूबा सी ।.... उन्होने तो इस औरत को टुकड़ो मे देखा था , कही से उधाडना चाहा तो अपनी इच्छा से। "यह तो इतिहास में पहली बार घट रहा है कि स्त्री पितृ सत्ता को नकार रहीं है, उस सत्ता द्वारा आरोपित भूमिकाओं के प्रति सवाल उठा रहीं है। वह वस्तु से व्यक्ति बनने की प्रकिया में है।"[1]

नारी अब कालीदास की नायिका तुलसी की सीता, सूर की राधा, जायसी की पदमावती, निराला की रत्नावली, पंत की ज्योत्सना या अप्सरा, प्रसाद की श्रद्वा और भारती की कनुप्रिया नही है। सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थितियॉ, संदर्भ संविधान–सभी बदल रहे है, बदल गये है। आज की स्त्री अपना व्यक्तित्व खुद गढ़ती है और वह निडर होकर आगे की ओर अग्रसर हो रही है। जहॉ पहले की लेखिकाएं परम्परावद्ध होकर लेखन कार्य करती थी वहॉ अब स्थितियॉ एकदम बदल गयी हैं। जहॉ ने स्त्रियों ने निर्भीकता से सदियों से चली आ रही परम्परा

---

[1] औरत अस्तित्व और अस्मिता) अरविंद जैन . भूमिका पमा खेतान . पृ014

को तोड़ा है वही अपने लेखन मे स्त्री जागरूकता की एक नई कान्ति को दिखाया है। मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियवंदा छठे दशक से लिखती आ रही और अब भी लिख रही है। अन्य महिलाओं में ममता कालिया, सूर्यबाला, मृणाल पाण्डेय, नमिता सिंह, राजी सेठ, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, चित्रा मृद्गल, मंजुल भगत, नासिरा शर्मा, अलका सरावगी, गीतांजलिश्री, प्रभाखेतान, दीप्तिखण्डेलवाल, शशिप्रभा शास्त्री, शिवानी आदि के नाम उल्लेखनीय है।

कृष्णा सोबती वीसवी शताब्दी की महत्वपूर्ण लेखिका हैं। इन्होने अपने लेखन मे स्त्री की देह को मनुष्य देह की तरह रखकर मन ,बचन से उर्ध्वगामी यात्रा के लिए उपन्यास रचे जिनमें स्त्री ने अपने होने की बकायदा घोषणा की। वहाँ वह बस्तु से व्यक्ति बनने की प्रकिया में है। सोबती जी का एक उपन्यास 'सुरजमुखी अंधेरे के 1972 में प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास मे बचपन में ही बलात्कार की शिकार हुई उन बेटियों की सघर्षगाथा है जिन्हें माँ–वाप, भाई, बहन, दोस्त रिश्तेदार और समाज कहता रहता है "कलमुँखी तू मर क्यो नहीं गयी ?" और जिनके लिए सवाल अस्मत का नही अस्मिता का है।

प्रसिद्ध लेखक राजेन्द्र यादव के अनुसार 'सूरज–मुखी अंधेरे के " में कृष्णा जी की नारी एक खतरनाक दिशा की ओर मुड़ती दिखाई देती है। 'डार से विछुडी में आदमी ने औरत को 'चीज की तरह इस्तेमाल किया था यहाँ औरत आदमी को एक दूसरी दृष्टि से इस्तेमाल करती है।'[1]

'सूरजमुखी अंधेरे के' मुख्यपात्र रत्ती के बचपन से बलात्कार की कहानी है जिसमे रत्ती एक लम्बी लड़ाई लड़ती है, हारती है , पर हार मानती नहीं। हर बार सिर उठा आगे बढ़ती है। रत्ती ने सिर्फ ' सिर

---

[1] 'औरों के बहाने', राजेन्द्र यादव पृ. सं 43

उठा अपने लिए लड़ाई लडी है, कडुआहट के जहर से अपने को अपना दुश्मन नही बनाया। दोस्त नही मिला तो भी दोस्ती को दुश्मनी नही समझा।' कृष्णा जी का चाहे 'मित्रो मरजानी' हो या 'दिलोदानिश' हर जगह उनकी स्त्री निडर और बेबाक पुरूषो की दुनिया में अपर स्वर गुंजा देने वाली है।

मैत्रेयी पुष्पा ने तो वीसवी सदी के हिन्दी लेखन मे नारी के अबलत्व और उसकी निरीह 'रागमयता' के अंधस्वीकार और वेशर्त समर्पण को नकारते हुए राष्ट्रकवि और कमायनीकार दोनों को ही काफी पीछे छोड़ दिया है। पिछले दशक से स्त्रियो ने अपनी उपस्थिति के द्वारा एक नई कान्ति को जन्म दिया है। राजेन्द्र यादव जी ने उत्तर स्त्री कथा के माध्यम से स्त्री विमर्श पर एक नई शुरूआत की थी जिसके द्वारा स्त्री लेखन मे एक नया सघर्ष आ सका। उनका माना है कि – "सच्चाई यह है कि यह सत्ता के केन्द्रों के टूटने या वैकल्पिक केन्द्रों के उभरने का युग है। सुरक्षित और संगठित धार्मिक राजनैतिक केन्द्रों द्वारा हाशियों पर धकेल दिये गये अल्पसख्यक, दलित और स्त्रियॉ अलग–अलग केन्द्र बनकर अब इस तरह सामने आ रहे है कि अनदेखा करना अब सम्भव ही नही रह गया है। इनमें सबसे जटिल और संश्लिष्ट स्थिति स्त्री उभार की है। बाकी सारे उभार लगभग हॉरिजैंटल या लम्बाई और चौड़ाई के अनेक स्तरो पर फैले है, लेकिन स्त्री तो ऊपर से नीचे तक सब जगह गुॅथी है। बर्टीकल भी है हॉरिजैटल भी।..... आज तक तो वह अपनी स्थिति को ही नियति मानकर सुख संतोष खोजती थी बंधनों में बॅधी बंधनों की स्वामिनी सी बनकर ही शहीदी गौरव निचोड़ती रहीं है। परम प्रबुद्ध भाव से पुरूष वर्चस्व को ही सिर झुकाकर स्वीकार करने वाली सुरभिपांडेय की अहिल्या हो या नासिरा शर्मा की 'शाल्मली' सांस्कृतिक तस्वीरी चौखटे में सजी–सवरी वैठी अपनी श्रेष्ठता मे शिवानी की कुलीन सुन्दरियॉ हों या दी

हुई नैतिक सीमाओ से हर मुठभेड बचाती राजी सेठ की दार्शनिक बारीकियॅा जीती हुई चौकन्नी नायिकाएं ।"[1]

कृष्णा सोबती हिन्दी की एक ऐसी सशक्त नारीवादी लेखिका है जिन्होने अपने लेखन में स्त्री की बदलती हुई स्थिति, उसकी यातनाओं, संघर्षो को स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य से प्रस्तुत किया है। स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य के विना कोई भी लेखिका अथवा लेखक स्त्री संसार की यातनामयी दुनिया , उसके दु.खों को नही पहचान सकती।

कृष्णा सोबती के लेखक में स्त्री की एक अलग छवि ही उभर कर सामने आयी है। 'डार से विछडी', 'मित्रों मरजानी', 'ऐलडकी', 'सूरजमुखी' अंधेरे के कृतियों मे उनकी नारी वादी 'चेतना प्रखर रूप में उभर कर सामने आयी है। पचास साठ, सत्तर के दौर में जो स्त्री लेखन हुआ उसने स्त्री चेतना के विकास में कोई विशेष महत्वपूर्ण भूमिका नही निभाई । कृष्णा सोबती के उपन्यासों में औरत कतरा–कतरा जिंदगी जीती, पिरती अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करती है। आज तक स्त्री के साथ समाज नें मानवीय ढंग से व्यवहार नही किया और न ही उसे पूर्ण मनुष्य के रूप में स्वीकृति दी है। इसीलिए उसके साथ अमानवीय व्यवहार होता रहा है। स्त्री के प्रति इसी तरह के हिंसक अमानवीय, वर्वरतापूर्ण व्यवहार को कृष्णा सोबती ने अपनी लेखनी में दिखाया है तथा इसके लिए पितृक सत्ता को दोषी ठहराया है जो उसके प्रति हिंसक दृष्टिकोण रखता आया है।

सोबती के स्त्री चरित्र उन तमाम खोखली पितृक लक्ष्मण रेखाओं को तोड़े है जिन्होंने सदियों से स्त्री को यौनाचरण सामाजिक

---

[1] (औरत उत्तारकथा , पृ. /1)

आचरण, नैतिक आचरण की पितृक मर्यादाओ मे बुरी तरह से जकड़ा हुआ था। कृष्णा सोबती के स्त्री पात्र क्षत–विक्षत हैं अंधेरे के सूरज मुखी हैं, जो घने अधेरो से लडते–लडते लहुलुहान हो चुकी हैं। सम्बन्धों की लॉक को तोडते–तोडते अपमानित हो रहीं हैं लेकिन अपनी अस्मिता की खोज की तीव्र आकाक्षा तो उनमें है ही। वे अपने स्वत्व, अस्मिता के प्रश्नों को लेकर जवर्दस्त संघर्ष कर रही है।

कृष्ण सोबती, मन्नू भण्डारी, गगनगिल, मृदुलागर्ग, महाश्वेता देवी की रचनाओं मे स्त्री लेखन की एक अलग पहचान सामने आयी है। यह बदलाव इसी दशक में सर्वाधिक आया है क्योंकि इनके लेखन में स्त्री के अधिकारों के प्रति सजगता आकामकता, तीखापन तथा पितृक समाज की कडी आलोचना हुई है। पिछले चार दशकों में स्त्री–लेखन विभिन्न पडओं और परिवर्तनों से गुजरता हुआ यहॉ पहुचा है। नब्बें के दौर का स्त्रीलेखन साठ के दौर के स्त्री लेखन से भिन्न है। आजादी के पहले का स्त्री लेखन सुभद्रा कुमारी चौहान, महादेवी वर्मा (श्रृंखला की कड़िया) आजादी के बाद का लेखन और शताब्दी के इस अंतिम दशक के लेखन में गुणात्मक परिवर्तन साफ लक्षित होता है। हमें महादेवीं वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, कृष्णा सोबती के साहित्य में स्त्री की एक भिन्न छवि दिखाई देती है। महादेवी वर्मा जी ने चौथे दशक में 'श्रृखला की कड़िया' भारतीय नारी की समस्या का विवेचन करने वाली पुस्तक लिखकर सिद्ध किया कि वे नारी के संतप्त और अभिसप्त जीवन के प्रति कितनी चिंतित, इमानदार और प्रतिवद्ध थी। उन्होंने श्रृंखला की कड़ियॉ लिखकर उन गुलामी की असंख्य जंजीरों को तोड़ने का जोखिम उठाया था। उन्होनें लिखा है – "जो जाग चुका है वह अधिक समय तक सोते हुए का अभिनय नही कर सकता। हमारी जाग्रत बहिनों में से कुछ ने विद्रोह आरम्भ कर दिया है और कुछ उसके लिए सुंयागद्रूढ रही हैं। जो देश की

भावी नागरिकों की विधाता हैं, उनकी प्रथम और परम गुरू हैं, जो जनम भर अपने आप को मिटाकर दूसरो को बनाती रहती है, वे केवल तभी तक आदरहीन मातृत्व तथा अधिकार शून्य पत्नीत्व स्वीकार करती रह सकेगीं जब तक उन्हे अपनी शक्तियो का बोध नही होता। बोध होने पर वे वन्दिनी बनाने वाली श्रृंखलाओं को स्वयं तोड फेकेगीं।"[1]

दुनिया के इतिहास में जहॉ भी कहीं स्त्री के स्वामित्व के अधिकारो की बात उठी है तो वह एक प्रखर स्त्री चेतना द्वारा ही। उन स्त्रियो मे अपने अधिकारो के प्रति जवर्दस्त चेतना थी। इसीलिए उन्होने वे तमाम बराबरी के अधिकार भिक्षावृति से न पाकर संघर्ष करके अर्जित किये। इसके लिए उन्हे बहुत बडी कीमत भी चुकानी पड़ी। महादेवी वर्मा ने इस बारे मे ठीक ही लिखा है– "हमें न किसी पर जय चाहिये, न किसी से पराजय न किसी पर प्रभुता। केवल अपना वह स्थान, वे स्वत्व चाहिये जिसका पुरूषों के निकट कोई उपयोग नही हैं, परन्तु जिनके विना हम समाज का उपयोगी अंग नहीं बन सकेंगी।"[2]

भारतीय नारी न प्रभुता की इच्छुक है न ही प्रभुत्व की बल्कि वह तो अपना खोया हुआ स्वत्व और अस्तित्व चाहती है। कृष्णा सोबती का लेखन हो अथवा महाश्वेता देवी का, मन्नमंडारी का लेखन हो अथवा गगन गिल का, चित्रामुद्‌गल का लेखन हो अथवा मेहरून्निसा परवेज का उसमें स्त्री मुक्ति के लिए जो फीडबैक आ रही है वही स्त्री समाज की चेतना का विकास कर सकेगी। स्त्री लेखिकाओं की सबसे बड़ी भूमिका यह है कि वे शोषित दलित और पीडित स्त्रियों के लिए खिल रही हैं।

---

[1] (श्रृखला की कडियॉ , महादेवी बर्मा , पृ 24)

[2] (वही – पृस 26)

जैसे–जैसे स्त्री लेखन रचनात्मक स्तर पर और आलोचनात्मक स्तर पर स्त्रियो के लिए जबर्दस्त, फीडबैक' चेतना जगाने का काम करेगा उसी प्रकिया मे स्त्री की दासता से मुक्ति होगी। स्त्री लेखन से ही। स्त्री–विमर्श को एक नई दिशा मिली है। पत्र–पत्रिकाओ मे प्रकाशित पठिकाओं की प्रतिकियाये इसका साक्षात प्रमाण है, कि स्त्रियों की चेतना में बहुत तेजी से अपने अधिकारों, स्वत्व, अस्तित्व, अस्मिता के बारे में जागरूकता वढ़ी है, उनकी सोच मे परिवर्तन आने लगा है। अब वे यथास्थिति में नहीं जीना चाहती। उनके भीतर प्रश्न जिज्ञासाए, शंकाएं, प्रतिकियायें जागने लगी है। इसका श्रेय साहित्य को ही जाता है। पिछले कुछेक वर्षो में जिस तरह का लेखन स्त्री लेखिकाओ ने किया है वह इतना सशक्त क्रान्तिधर्मी और चेतना सम्पन्न है कि उससे स्त्री समाज की चेतना और विकसित होगी। वह स्त्री हितों की सुरक्षा करने वाला उन्हें साहस, आत्म विश्वास, विवेक, विश्व चेतना प्रदान करने वाला सिद्ध होगा।

अध्याय–2

बीसवी शताब्दी का स्त्रीलेखन

हिन्दी में नारी लेखन की सीमाओं, विशेषताओ को आदि पर विचार करने से पहले साहित्य मे इस तरह के वर्गीकरण की सार्थकता, निरर्थकता, औचित्य, अनौचित्य को लेकर उठे प्रश्नों का सामना करना पडता है। यथा–क्या स्त्रियॉ एक वर्ग के रूप में एक जैसा या विशेष तरह का लेखन करती है ? क्या महिला साहित्यकारों द्वारा सृजित साहित्य को घेराबन्द कर एक वर्गगत या प्रवृत्तिगत पहचान देना उचित है? सीधे–सीधे शब्दों में क्या साहित्य को लिंग, वर्ण, जाति आदि आधारों पर वर्गीकृत करना उचित है? और ऐसा किया जा सकता है?

नि.संदेह इन प्रश्नो का उत्तर नकारात्मक ही होगा। क्योंकि सैद्धान्तिक दृष्टि से साहित्य में इस तरह से वर्गीकरण औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता है। डा0 निर्मला जैन कहती है– "दरअसल वुनियादी सवाल यह है कि किसी भी रचना की पडताल गुमनाम कृति के रूप में की जानी चाहिये या ट्रेडमार्क वस्तु के रूप में। वस्तुतः रचनाकार की न जाति होती है, न धर्म और न वर्ग।"[1]

इसी तर्क के आधार पर कई लोगों का मानना है कि 'नारी लेखन जैसा एक वर्ग घोषित करना कोई सार्थकता नहीं रखता। कृति से कृतिकार के विचार जगत और अनुभव लोक का साक्षात्कार होता है न कि उसकी जाति, लिंग आदि का। इसलिए कई महिला रचनाकारों की कृतियॉ यदि गुमनाम रूप में प्रस्तुत कर दी जायं (जिसमें स्वयं लेखिका की ओर से उसके नारी होने का कथन न हो) तो लेखकीय पहचान असम्भव नहीं

---

[1] (कथा और नारी सन्दर्भ , डा0 निर्मलाजैन हस जुलाई 94 पृ0 41)

तो कठिन अवश्य हो जायेगा। ऐसे मे नारी लेखन का एक वर्ग बनाना कहाँ तक उचित है?

एक दूसरी सोच नारी लेखन की वर्गीय स्वीकृति को सार्थक मानती है। तर्क यह है कि अभिव्यक्ति सत्य, सामर्थ और पूर्ण तभी हो सकती है जब अनुभव या अनुभूति निजी हो। तात्पर्य यह है कि निजी अनुभवो का एक ऐसा अछूता दायरा भी है जिस पर केवल एक स्त्री ही पूरी सच्चाई के साथ सृजनात्मक रूप से लिख सकती है। कुछ अनुभव अवश्य ही ऐसे हैं जिन्हे केवल एक भुक्त भोगी ही अभिव्यक्त कर सकता है। एक पुरूष लेखक भले ही अपनी संवेदनात्मक तरलता के चलते नारी की नियति को समझ ले परन्तु न तो वह बलात्कार की कुंठा से परिचित हो सकता है और न ही प्रसव पीड़ा का अनुभव कर सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि उसके भी ऐसे बहुत से अनुभव हो सकते हैं जिनसे स्त्री परिचित न हो। परन्तु अनुभव तो दोनों के ही भिन्न हैं। डा0 प्रभा खेतान मानती हैं कि – "वह स्त्री कहाँ किन धरातलों पर कैसे बंचित होती है इसको जितने सृजनात्मक रूप से वह सामने रख सकती है पुरूष नहीं रख सकता। दलित के हक में बोलता हुआ पुरूष भी स्त्री के दलन से न परिचित है न भुक्तभोगी।"[1]

और साथ ही–"मानवीय पीड़ा को अभिव्यक्ति करने वाला लेखक स्त्री के प्रति जाने–अनजाने अपने पुरूषोचित दुराग्रहों से मुक्त नहीं हो पाता।"[2]

ऐसे में नारीं के निजी अनुभव क्षेत्र पर पूरी सच्चाई के साथ लिखने का सामर्थ्य केवल एक नारी में ही हो सकता है। डा0 प्रभा खेतान

---

[1] दो उपनयास ओर नारी का आतमसघष्र डा0 प्रीाा खेतान हस ,जून 94 पृ 63
[2] (वही ,पृ स 66)

स्पष्ट रूप से कहती है कि "स्त्री लेखन और पुरूष लेखन मे फर्क होता है और रहेगा... . क्योकि स्त्री और पुरूष आज भी इस पितृ सत्तात्मक समाज मे जैविक, आर्थिक, सामाजिक धरातल पर भी दोनो भिन्न हैं।"[1]

सच तो यह है कि केवल जैविक, आर्थिक और सामाजिक धरातल पर ही नही वरन मानसिक धरातल पर भी दोनों भिन्न होते हैं। विडम्बना यह है कि जहाँ पुरूष की मानसिकता नितान्त मौलिक होती है वही नारी की मानसिकता पुरूष प्रदत्त होती है, अर्जित होती है और वह उसे ही प्राकृतिक समझने लगती है। स्त्री और पुरूष के बीच प्राकृतिक अन्तर केवल जैविक है, परन्तु पुरूष सत्तात्मक ने दमन के लिए स्त्रियोचित व्यवहार के जो प्रतिमान निर्धारित किये वे लम्बे समय तक अर्जित करते रहने के कारण स्त्री का स्वभाव हो गये। पुरूष सत्ता के द्वारा जो स्थान, जो उपाधि स्त्री को दिया जाता है वही उसकी मानसिक बनावट का प्रधान नियामक होता है ऐसे में नारी की मानसिक पीड़ा और विवशता को एक नारी लेखिका ही अच्छी तरह खोल सकती है, न कि मानसिक उपनिवेश का कर्ता धर्ता पुरूष।

प्रभा खेतान स्त्रीलेखन के विषय में कहती हैं– "औरत अपने लेखन में जितना कहती है उससे कहीं अधिक वह खामोश रहती है, उसका बहुत कुछ अनकहा रह जाता है। स्त्री का यह अनकहा 'जगत' उसकी अज्ञानता का सूचक नहीं (ऐसा नही कि वहाँ केवल अभिव्यक्ति की समस्या है) बल्कि मुझे तो लगता है कि कुछ क्षेत्रों में वह जान बूझ कर खामोश रहती है। स्त्री यह भली भाँति जानती है कि पितृसत्ता की

---

[1] (वही ,पृ स 67)

दमनकारी शक्ति उसे कितनी छूट दे सकती है, कितनी नही। सदियों से उत्पीडित होती हुई स्त्री साहित्य जगत मे भी कुंठित है।" [1]

इस समय तक स्त्रियॉ उपन्यास, कहानी, निबन्ध तथा अन्य गद्य विधाओ मे भी लिखना शुरू कर चुकी थी।

आज भी महिला लेखन में स्त्री वर्ग की शिकायतों, उसके प्रकट और अप्रकट क्रोध, छुपे हुए आक्रोश तथा जीवन के प्रति उसके विशिष्ट दृष्टिकोण को ज्यादा शिद्दत से अभिव्यक्ति किया जाता है। रोजमर्रा की जिदगी महिलाओ की अपनी स्वतन्त्रता, निज, स्वत्व आदि का सटीक वर्णन जितना महिला लेखन में होता है। उतना पुरूष लेखन में नही ।

चित्रा मुद्गल का तो यहॉ तक स्वीकाराना है कि 'लेखन लेखन होता है नर मादा नहीं। लेकिन स्त्री लेखन ने निश्चित रूप से कुछ ऐसे तीखे, ज्वलंत अन्तर्विरोधों, विरोधाभासों, प्रश्नों को सामने रखा है जिससे स्त्री लेखन की एक अलग पहचान बननी शुरू हुई हैं। कृष्णा सोबती, मन्नु भंडारी, गगनगिल, मृदुला गर्ग, महाश्वेता देबी की रचनाओं में स्त्री लेखन की एक अलग पहचान सामनें आयी है। यह वदलाव सर्वाधिक इसी दशक मे आया है क्योकि इनके लेखन में स्त्री के अधिकारों के प्रति सजगता, अक्रामकता, तीखापन तथा पितृक समाज की कड़ी आलोचना हुई है।

हमारे यहॉ दो तरह का स्त्री लेखन होता रहा है। पहली तरह के लेखन में स्त्री की परम्परागत छवि ही उभरी थी। उस लेखन में पितृसत्तात्मक नियमों की पहचान कमजोर थी और (अर्न्तविरोधों पर चोट

---

[1] औरत अस्तित्व और अस्मिता ,अरविन्द जैन, भूमिका ,प्रमाखेतान पृ0 11

भी अक्रामक नही थी। परन्तु पिछले चार दशको से स्त्री लेखन में विकास एवं परिवर्तन हुआ है, गुणात्मक बदलाव आया है, उनका लेखन, पितृसत्तात्मक नारी विरोधी नियमो और कानूनों की धज्जियॉ उड़ाने में कामयाब हुआ है। यही कारण है कि नब्बे के दशक का लेखन अस्सी; सत्तर या साठ के दौर से भिन्न लेखन है।

आजादी के पहले के स्त्री लेखन और आजाद के बाद का लेखन और शताब्दी के इस अन्तिम दशक का लेखन किस गुणात्मक चेतना को लाक्षित करता है इसका परिचय हमे ममता कालिया, कृष्णा सोबती आदि की स्त्रियों को देखने से पता चलता है। पुरूष लेखक जिस विषय पर कलम चलाते हुए झिझकते हैं उसका स्त्री लेखिकाएं बहुत ही बेबाकी से वर्णन करती है। फिर चाहे– मृदुला गर्ग का 'चितकोबरा' हो या कृष्णा सोबती का 'मित्रो मरजानी'।

स्त्री लेखिकाएं उन तमाम पितृक असभ्य नियमों–कानूनों से टकरा रही हैं, अपने अधिकारों के प्रति पूरी तरह से सजग हुई हैं तथा उनके लेखन में भी स्त्री चेतना उभर कर सामने आ रही है। प्रायः यह कहा जाता है कि स्त्री लेखन में स्त्री–पुरूष सम्बन्धी परिवार के विखराव की ही अभिव्यक्ति होती है पर क्या यह सच नही है कि परिवार और स्त्री पुरूष के सम्बन्ध भी हमारे जीवन का कटुयथार्थ है? वह अपने लेखन में घर परिवार–स्त्री पुरूष सम्बन्धों के पीछे सदियों से काम कर रहीं पितृक अनुशासन तानाशाही को समझ और दिखा रही है। परिवार का स्त्री के लिए एक अपना ही तानाशाही अनुशासन है, पितृक व्यवस्था है, नियम और कानून हैं जिसने स्त्रियों को बुरी तरह से जकड़ा हुआ है।

महादेवीं वर्मा ने 'श्रृंखला की कड़िया' लिखकर उन गुलामी की असंख्य जंजीरों को तोड़ने का जोखिम उठाया था। स्त्री के अधिकारों के प्रति शिक्षा का प्रसार ही स्त्री में चेतना ला सकता है।

इतना सब कुछ होते हुए भी उनके लेखन का समाज पर उतना प्रभाव नही पडा जितना पडना चाहिये। इसका मुख्य कारण है कि स्त्री का दमन, उत्पीडन करने वाली दमनकारी उत्पीड़न करने वाली ताकतो के विरूद्ध स्त्री लेखन ने सघर्ष नहीं किया तथा एक तरह का असंतुलित प्रकार का ही लेखन सामने आता रहा जिसमें या तो दयनीयता थी या असाधारण विद्रोह।

"नारी लेखन नारी मन की ही अभिव्यक्ति है। नारी ने नारी की गूगी पीडा को लिखा, उजागर किया तथा उसके मौन को शब्द दिये। पुरूष लेखक के लिए रूमानी ख्याल, यादों की मूरत थी, बेशक नारी लेखन ने पुरूष लेखको के हाथ से उसकी सुन्दर, बेजान गुड़िया छीन ली है और रोती चीखती, विलखती नारी को सामने ला खड़ा किया है।[1] मेहरून्निसा परवेज ने निश्चित रूप से स्त्री लेखन की जरूरत को स्पष्ट किया है कि नारी के मौन को शब्द नारी ही दे सकती है। उसके दुःख को औरत ही समझ सकती है, वह ही पहचान सकती है औरत के शरीर पर अंकित घावो के निशानो को। पुरूष के लिए स्त्री अब तक क्या थी? नारी तुम केवल श्रद्धा हो, रमणी, प्रेयसी, देह । रूमानी ख्याल, यादों की सुन्दरी, लेकिन स्त्री ने स्त्री की देह पर अंकित घावों के निशानों को दिखाया है कि किस प्रकार वह उत्पीड़ित व उपेक्षित है।

साहित्य कोई सशस्त्र कान्ति नहीं कराता बल्कि मनुष्य को स्वतंन्त्र ढंग से जीने, संघर्ष करने की आगे बढ़ने की समस्या को समझने व उससे निपटने की शक्ति तो देता है, एक नई दृष्टि प्रदान करता है।

---

[1] मेंहरूनिनसा परवेज , साहित्य वार्षिकी पृ. 27

2–(क) उपन्यास

कृष्णा सोबती नें हिन्दी में स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य से स्त्री के पक्ष मे जोरदार ढंग से लिखा तथा पितृ सत्तात्मक समाज की तीखी आलोचना की। उनकी रचनाओ 'यारों के यार', 'मित्रों मरजानी', 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'ऐ लड़की', 'दिलों दानिश' में स्त्री की छवि एक नये रूप मे उभर कर आयी। कृष्णा सोबती की स्त्रियॉ पितृसत्तात्मक नैतिकता, यौनाचरण का अनुकरण नहीं करती बल्कि अपनी कामेच्छाओ की पूर्ति हेतु उस पितृ सत्तात्मक शासन को तोडती नजर आती है।

'मित्रों मरजानी' में मित्रों के माध्यम से कृष्णा सोबती ने सदियों से उत्पीडित स्त्री के मनोविज्ञान को प्रस्तुत किया है कि वह कैसे नपुंसक व्यक्ति के साथ अपनी यौनेच्छाओं को होम करती है। लेकिन क्यों? यही तीखा प्रश्न 'मित्रों मरजानी' का केन्द्रीय मुद्दा है।

सोबती ने 'मित्रों मरजानी', 'हम हशमत', 'ऐ लड़की', 'जिंदगी नामा', 'यारों के यार', जैसी रचनाओं से स्त्री लेखन को समृद्ध किया है और इसमें उनका स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य पूरी तरह उभर कर सामने आता है।

मित्रों एक ऐसी स्त्री है जो अपनी यौनेच्छा को प्रकट करती है। वह अपने देहगत समस्याओं पर विचार करती है। जिसे आज तक शायद ही किसी ने किया हो। जब परिवार में उसके मातृत्व पर प्रश्न उठाया जाता है तो वह खुले शब्दों में अपने पति की यौन सम्बन्धी कमजोरी की ओर सकेत करती है कि यदि उसमें उर्जा है तो वह सौ कौरवों को जन्म दे सकती है– "मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरव जन डालूॅ अम्मॉ अपने लाडले बेटे का भी तो आड़तोड़ जुटाये। निगोड़े उस पत्थर के बुत में भी कोई हरकत तो हो। धनवंती के बदन पर कॉटें उग

आये छि. छि. बहू। ऐसे बोल कुबोल नही उच्चारे जाते।" [1] क्या स्त्री की कोई इच्छा नही होती? क्या वह अपनी इच्छाओं का गला घोटकर परिवार के ताने सुनती रहे? पहली बार स्त्री खुलकर अपने अनुभवों के साथ सामने आती है।

मित्रों जब अपनें पति की कमजोरी को खुले शब्दों में कहती है तो वह औरत कहती है छिः छिः स्त्रियाँ कभी ऐसे कुबोल नहीं उच्चारती। क्यो नही उच्चार सकती? पीड़ित स्त्री सच बोलें तो कुबोल वाक्य, यह है पितृक नैतिकता। मित्रो का चरित्र सामतवादी पितृसत्ता के लिए चुनौतीपूर्ण है, वह एक सजग नारी की प्रतीक है जो शोषण अन्याय चुपचाप नहीं सहन करती। स्वंय लेखिका सोबती जी का मित्रों की रचना प्रक्रिया के बारे मे कथन है कि—"पुरानी नीवो शहतीरों को हिलाने वाला मित्रों का सा जल जला उठ ही आये तो आप ही बन जाती है मित्रों मरजानी की —सी कहानी।" [2]

'डार से विछुड़ी उपन्यासों में कृष्णा सोबती जी ने एक ऐसी लडकी का मार्मिक चित्रण किया है जो अर्द्ध सामंतवादी समाज में बार—बार बेची जाती है। अन्त में वही लड़की एक ऐसे परिवार में बेंच दी जाती है। जहाँ वह 'द्रोपती' बना दी गयी है अर्थात उस बृद्ध महिला के चारों पुत्रों की पत्नी।

'डार से विछुड़ी' कृति में वह स्त्री स्वंय को उस भयानक गहरे कुएं में लटकती लंज्ज के समान पाती है जिसका काम कभीं बाहर आना है तो कभी भीतर नीचे जाना है। अब वह एक नये नाम से सम्बोधित है। उसे एक नया सांस्कृतिक अर्थो से भरा हुआ प्रतीकात्मक नाम दे दिया

---

[1] कृष्णा सोबती 'सोबती एक सोहबत , मित्रो मरजानी पृ 65

[2] पृ – 388)

गया है ' द्रोपती' 'द्रोपती' क्यो कि एक नाम ही नही है, वह सास्कृतिक वर्चस्ववाद मे एक पितृसत्तात्मक समाज का चिन्ह, प्रतीक भी है।

प्रश्न तो यह है कि वह द्रोपती क्यों बनाई गयी है? द्रोपती बन कर उसे क्या करना है? नामकरण कितना प्रतीकात्मक किया है उस स्त्री ने ? इस नामकरण में ही लेखिका ने सब कुछ कह दिया है।

कृष्णा सोबती का उपन्यास 'सूरजमूखी अंधेरे के' बचपन से बलात्कार पर हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में भी शायद पहला और अकेला सशक्त उपन्यास है। इस उपन्यास मे बचपन में ही बलात्कार की शिकार हुई उन बेटियों की संघर्षगाधा है जिन्हें मॉ–वाप, भाई–बहन, दोस्त, रिश्तेदार और समाज कहता रहता है "कलमुँही तू मर क्यों नहीं गयी?" और जिन के लिए सवाल अस्मत का नही अस्मिता का है।

प्रसिद्ध लेखक राजेन्द्र यादव के अनुसार "सूरजमुखी अंधेरे के' में कृष्णा जी की नारी एक खतरनाक दिशा की ओर मुड़ती दिखाई देती है। 'डार से विछड़ी' में आदमी ने औरत को चीज की तरह इस्तेमाल किया था, यहॉ औरत आदमी को एक दूसरी दृष्टि से इस्तेमाल करती है।" [1]

इस उपन्यास की मुख्य पात्र रतिका एक ऐसी लड़की है जिसका जीवन बचपन की कटु स्मृतियों से भरा है। रत्ती के बपचन से बलात्कार की कहानी है जिसमें रत्ती एक लम्बी लडाई लड़ती है, हारती है पर हार नही मानती । हर बार सिर उठा आगे बढ़ती है। बलात्कार जैसे जघन्य अपराध की शिकार लड़की स्वंय धीरे–धीरे समाज में ही नही अपने परिवार में भी अछूत होती जाती है, सबकी निगाह में 'घृणा' की

---

[1] औरों के बहानें , राजेन्द्र यादव .पृ 43

पात्र। लगातार अपमानित होती ऐसी लड़की भला कब तक चुप रह सकती है और ऐसे दमघोटू माहौल मे निश्चित है कि वह या तो आत्म हत्या कर ले या फिर सबका डटकर मुकाबला करे। रत्ती आत्महत्या नही करती। उसने जी कड़ाकर ऑसुओ को गले में नीचे उतार अपने को समझा लिया, 'चुप'! एक एक को पकड़कर पीट देना। यही वह निर्णय है जो रत्ती को जिंदा रखता है और ऐसे ही रत्ती सम्मानपूर्वक जी भी सकती है।

रत्ती ने सिर्फ "सिर उठा अपने लिए अपनी लड़ाई लड़ी है, कडवाहट के जहर से अपने को अपना दुश्मन नहीं बनाया दोस्त नही मिला तो भी दोस्ती को दुश्मनी नही समझा।

सोबती ने मित्रों मरजानी, हम हशमत, ऐ लड़की, जिंदगीनामा, यारो के यार, जैसी रचनाओं से स्त्री लेखन को समृद्ध किया है और इसमे उनका स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य पूरीतरह उभर कर सामने आता है–

ममता कालिया का उपन्यास 'बेघर (1971) प्रासंगिक और चर्चा का विषय रहा है। 1971 के बाद राष्ट्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर नारी मुक्ति आन्दोलन, यौन कान्ति, गर्भपात, के कानूनी अधिकार ,शिक्षा सामाजिक मूल्यों में भारी बदलाव स्त्री चेतना का विकास, मीडिया में स्त्रियों की हिस्सेदारी और हस्तक्षेप, आर्थिक आत्म निर्भरता, टूटते, बनते नए नैतिक मानदण्ड और चौतरफा दबाव के कारण महानगरों के उच्च्य मध्यम और नवधनाढ्य वर्ग में कही कुछ–कुछ बदलता सा लगता है। लेकिन अभी भी अधिकांश मध्यमवर्गीय परिवारों की मानसिक बनावट और बुनावट मध्ययुगीन परम्परा और संस्कारों की यथास्थिति बनाये हुए है।

"हिन्दी में 'बेघर' प्रथम उपन्यास है जो 'कौमार्य के मिथक' की पुरूष समाज में व्याप्त रूढ़ धारणाओं पर प्रश्न चिन्ह लगा गहरी चोट करता है। यह उपन्यास मध्यम वर्गीय समाज के मानसिक संस्कारों में शिक्षित दीक्षित पुरूषों की परम्परागत सोच–समझ और स्त्री के प्रति,

भोगवादी, स्वार्थी तथा अमानवीय व्यवहार के कारण ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक पृष्ठभूमि मे घर से वेघर की जाती रही संजीवनियों की अतहीन व्यथा कथा है जिसे अपने 'कथा समय' में नायक अनायक या प्रतिनायक परमजीत की–"अचानक मौत के बाद घर की सारी सुखद धारणाओ के बाद एक अनाथ 'बेघर' परम्परा का उत्तराधिकारी" [1] माना गया है।

ममता कालिया द्वारा रचित दौड अपन्यास अन्तर्विरोधों से भरा है। नयी पीढी और पुरानी पीढी के बीच उभरे अन्तर्विरोधो को बड़े सम्बेदनात्मक तरीके से चित्रित किया गया है। नयी पीढ़ी जो डिग्रियॉ लेकर रात–दिन पैसे के पीछे भाग रही है, वह अपने ही परिवार के वुजुर्गो से कैसे कटती जा रही है संवादहीनता की स्थिति में वुजुर्गो की मानसिक हालत क्या हो रही है, ममता जी ने बडे ही सहज किन्तु मर्मस्पर्शी ढंग से उकेरा है। उपन्यास का भाषा प्रवाह भी अद्भुत है–

ममता कालिया

'प्रेम कहानी' नामक उपन्यास मे ममता कालियॉ ने हिन्दुस्तानी चिकित्सालयों मे फैलें भ्रष्टाचार, अन्याय, अनियमितता और क्रूरता की ओर उँगली उठायी है।

प्रेंम कहानी में मारीशस के निर्माण में भारतीय किसानों की संघर्ष गाथा की संक्षिप्त झलक देते हुए ममता ने यह सिद्ध करनें की कोशिश की है कि जीवन संघर्ष से ही मानवीय मूल्य बनते हैं अपने इस उपन्यास में उन्होंने नयी जन शक्ति के विकास के सड़े–गले अवरोधक

---

[1] (कथा समय, विजयमोहन सिंह (राधाकृष्ण प्रकाशन सस्करण 1993 पृ. 105)

तत्वो की न केवल पहचान की है बल्कि उसके विकल्प की संस्कृति को उजागर करने का प्रयास भी किया है। ममता की बोल्ड बेबाक और बेझिझक भाषा न केवल समस्यागत यर्थाथ को प्रस्तुत करती है बल्कि जिदगी की रूढ़ियॉ और चुके हुए आदर्शो पर रोचक शैली में आक्रमण भी करती हैं।

इस उपन्यास में मारीशस से आकर दिल्लीं में हाउस जाब करने वाले एक छात्र डाक्टर गिनेस की कहानी है जो प्रवासी हिन्दुस्तानी होने के कारण भारत की धरती तथा यहॉ बसने वाले खासकर गरीब लोगों से दिली तौर पर हमदर्दी रखता है। कथानायिका उसकी सहपाठी है जिसे वह प्यार करता है।

गिनेस केवल अपने व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं सामाजिक रूढ़ियॉ तोड़ता है, बल्कि अपने पेशेगत जीवन में भी भारतीय समाज के टूटें और आर्थिक रूप से असहाय लोगों के बराबर उत्कर्ष और संवेदनशील रहता है। इतना ही नहीं अस्पताल में उच्चपदस्थ डाक्टरों की तानाशाही, उनके द्वारा किया जा रहा मरीजों का शोषण, मरीजों के प्रति उनकी बेईमान वफादारी, अस्पताल के छोटे कर्मचारियों के प्रति उनका कूर व्यवहार इन सबकी पोल ममता कालिया अपने इस लघु उपन्यास में खोलती हैं। 'प्रेम कहानी' की कलात्मकता में शब्दों का सौन्दर्य और लहजे की रक्षा नही बल्कि उस सत्य की रक्षा के जादूगरी दर्शन होते हैं जो आदमी को कूर दुनियॉ से लड़ने के लिए संगठित करता है।

'जिंदगीनामा'

कृष्णा सोबती का यह उपन्यास जिसमें किसानी गंध है औरतों की घर–दुआर की बातें हैं, पुरूषों की खेतीबारी है और हलवाहे की समस्या है। "जिंदगी नामा" की औरतें घरों, खेतों में दिन–रात काम में लगी रहने वाली, मर्दो के दुलार प्यार सहित लात–घुँसा सहने वाली हॉड़

मॉस की ठोस औरते है, जिनका अलग–अलग अपना चेहरा होते हुए भी एक और चेहरा है जो सबमें एक सा झलक मारता है। भलें ही वे घर–बार के कामो मे हो या तीज त्योहारों मे वुल्लेशाह के गीत गाती हुई।

अनारों

घर की मजदूरिनो को लेकर लिखा गया मंजुल भगत का लघु उपन्यास 'अनारो' काफी चर्चित रहा है। गॉव और शहरों में अनारों जैसी दीन–हीन मजदूरिनो की कमी नहीं है। इनका दुःख दर्द, इनकी गरीबी , इनका हॉड–तोड संघर्ष तथा इनकी बेजोड़ जिजीविषा इस उपन्यास में जिस मार्मिकता स्वामाविकता तथा मान स्वाभिमान के साथ व्यक्त हुई है वह अद्वितीय है।

मंजुल भगत ने इस उपन्यास में भारतीय नारी की मानसिकता का चित्रण किया है कि वह किस प्रकार शोषित होने में भी सुख महसूस करती है। समान्य भारतीय औरत के दिल की बस एक ही चाह होती है– पति का एकनिष्ठ प्यार और उस पर उसका एकाधिकार, बच्चें और उनकी अपनी समाज बिरादरी में उत्साह सहित रिश्ते–नाते । वह उसके लिए हजार जतन करती है, किसी भी मेहनत, मशक्कत की कीमत पर क्योंकि यहीं उसकी 'इज्जत' है।'

" मंजुल भगत ने 'अनारों' के माध्यम से घरेलू मजदूर जीवन स्थितियों की अपनी बारीक पकड़ से हमें चमत्कृत कर दिया है। परन्तु इसकी सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि अपने परिवारिक अस्तित्व की रक्षा के लिए संघर्ष से पूरे नारी समाज पर पुरूष द्वारा लादी गयी सारी

कुरताओं और शोषण पर हर कहीं उसने अपनी स्वीकृति और संन्तुष्टि की मुहर लगाई है।" [1]

कृष्णा सोबती का समय सरगम उपन्यास स्त्री– विमर्श के साथ–साथ पुरूषसत्ता को भी वेनकाब करता है। कृष्णा जी ने इस उपन्यास का जो विषय लिया है वह कुछ नये अंदाज का है।

मन्नू भडारी की बहुत ही महत्वपुर्ण कृति है– 'आपका बंटी' इसमे स्त्री पुरूष के संम्बन्धों के मध्य बच्चे की समस्या को उठाया गया है। इस उपन्यास में आधुनिक जीवन की विसगतियो में मिस–फिट होने वाली नारी की वास्तविक स्थिति का बडा ही सम्यक चित्रण हुआ है। परम्परागत मूल्यो के प्रति विद्रोह, स्वतंन्त्र अस्तित्व का बोध, अहंवादिता अकेलापन आदि मुख्य समस्या है।

शकुन आधुनिक युग की नौकरी पेशा नारी का प्रतिनिधित्व करती है। आज की स्वावलंबी नारी पुरूष का आधिपत्य स्वीकार नहीं करती वह स्वतंत्र जीवन विताना चाहती है। शकुन ऐसी ही नारी है।

शकुन परम्परागत भारतीय नारी की छवि को तोड़ती हुई अजय से तलाक लेकर डा0 जोशी से दूसरा विवाह करती है यदि पुरूष दूसरी शादी करके नई जिदगी शुरू कर सकता है तो वह भी कर सकती है। वह अपने अस्तित्व के प्रति अत्यन्त सजग है वह अपने को समाप्त नहीं कर सकी थी।

मन्नु भंडारी की यह कृति 1971 में प्रकाशित हुई थी। 'आपका बंटी' उपन्यास आधुनिकता वोध से जुड़ी स्त्री पुरूष संम्बन्धों की विवेचना करने वाली व्यक्तिवादी कृति है। स्त्री पुरूष सम्बन्धों के मध्य बच्चे की

---

[1] (उपन्यास की शर्त ,जगदीश नारायण श्रीवास्तव पृ.163)

समस्या को उठाया गया है। उपन्यास के मुख्य पात्र बटी और शकुन है। शकुन अपने पुत्र बटी के साथ अपने पति से अलग रहती है। वह एक कालेज मे प्रिसिपल है। सात वर्ष के उपरान्त शकुन और अजय में तलाक हो जाता है। बटी यडा ही संवेदनशील वच्चा है। मम्मी पापा के झगड़े को लेकर वह तनाग्रस्त रहता है। अजय दूसरी शादी कर लेता है शकुन सोचती है कि जब अजय नई जिदगी शुरू कर सकता है तो वह क्यों नही कर सकती। शकुन के सम्बन्ध डा० जोशी से घनिष्ठ होते हैं लेकिन वटी पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है, वह अपनी मॉ से दूर होता जाता है। शकुन डा० जोशी से विवाह कर लेती है। बंटी इस सम्बन्ध को स्वीकार नहीं कर पाता। शकुन भीतर ही भीतर टूट सी जाती है। कलकत्ता पहुँचकर बंटी फिर अकेलेपन से घिर जाता है और गुमसुम रहने लगता है। "उपन्यास में घटना बाहुल्य का अभाव है। कथ्य संवेदना और संरचना की दृष्टि से 'आपका बंटी' आठवें दशक की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।" [1]

उषा प्रियंवदा

पचपन खंमे लाल दीवारें

उषा प्रियंवदा के इस उपन्यास मे परिस्थितियों से विवश एक नारी की मानसिक वेदना का चित्रण हुआ है। 27 वर्षीय सुषमा दिल्ली के एक महिला विद्यालय में वार्डन के पद पर कार्यरत है। वह अपने माता–पिता से दूर अकेली छात्रावास के बंगले में रहती है। पिता रिटायर्ड हो चुके है तथा पक्षाघात से पीड़ित हैं। माता–पिता की सबसे वड़ी सन्तान होने के कारण परिवार के भरण–पोषण का भार सुषमा के कन्धों पर आ पड़ा है। मॉ को सुषमा की अपेक्षा अन्य भाई–बहनों की चिन्ता है। सुषमा

---

[1] आठवें दशक के हिन्दी उपन्यास , डा० राम विनोद सिंह पृ.स.9)

की छोटी बहन निरूपमा के विवाह के लिए काफी चिन्तित है लेकिन सुषमा के विवाह के वारे मे कभी नही सोचा। सुषमा अपने नीरस जीवन के प्रति माता–पिता को उत्तरदायी पाती है। एक दिन सुषमा की मुलाकात नील नामक युवक से नाटकीय ढग से होती है। धीरे–धीरे सुषमा नील की ओर आकर्षित हो जाती है। नील और सुषमा की दोस्ती को लेकर स्कूल मे तरह तरह की चर्चाए होती है। यह सब देखसुन कर सुषमा कुठिंत हो उठती है। विवश होकर वह नील से न मिलने का निश्चय करती है और उसके विवाह प्रस्ताव को ठुकरा देती है।

उषा प्रियंवदा ने अपने उपन्यास 'अन्तर्वसी' में अप्रवासी भारतीयो का पाश्चात्य संस्कृति और वहॉ के चका चौध से भरी जिंदगी के टकराव का जिक्र किया है।

<u>रूकोगीं नही राधिका–</u>

प्रस्तुत उपन्यास आधुनिक चेतना सम्पन्न भारतीय नारी की मनोदशा का चित्रण करता है। आज की नारी जीवन की विसंगतियों को उन्होनें बड़ी गहनता से आत्मसात किया है। परिवर्तित सन्दर्भो,नई परिस्थितियों तथा उलझन पूर्ण मनःस्थितियों में नारी के मिसफिट होनें की प्रवृत्ति और आधुनिक तथा भारतीय संस्कारो के मध्य सूक्ष्म द्वन्द्व को उन्होनें अपने उपन्यास 'रूकोगी नहीं राधिका?" में बड़ी सफलता से चित्रित किया है।

'रूकोगी नहीं राधिका की केन्द्रीय पात्र राधिका है। राधिका की मॉ बचपन में मर गयी है। जब उसके पिता 12 वर्ष बाद युवती विद्या से विवाह कर लेते हैं तो राधिका विचलित हो उठती है। पिता से झगड़ा कर वह विदेशी पत्रकार डैन के साथ अमेरिका चली जाती है। वहॉ पत्नीत्व के अनुकूल न पाकर डैन राधिका को छोड़ देता है राधिका अकेले पन की
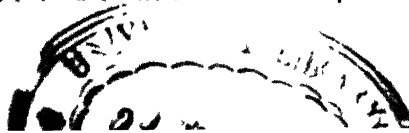
पीडा से भर जाती है । तीन वर्ष पश्चात फाइन आर्ट की डिग्री लेकर वह भारत वापस आती है। लेकिन जिस अपनत्व की आशा लेकर वह भारत आयी थी वह उसे नही मिलता। अक्षय और मनीष उसकी जिंदगी में आते है। राधिका मनीष को अमेरिका से ही जानती है। अक्षय का ट्रान्सफर कलकत्ता हो जाता है। राधिका अपने भाई के साथ लखनऊ आ जाती है। वैभव के बीच रहते हुए भी वह बेचैन रहती है। विमाता विद्या के आत्महत्या करने पर राधिका और उसका भाई पिता से मिलने जाते है पिता चाहते है राधिका पहले की तरह उनके पास रहें, लेकिन राधिका पिता को अकेला छोडकर चली जाती है।

उसके हिस्से की धूप– मृदुला गर्ग–

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने का प्रयास लेखिका ने 'उसके हिस्से की धूप' में किया है। व्यक्ति केन्द्रिय कृति होने के नाते इस उपन्यास में व्यक्तिवाद का स्वर प्रधान है। उसके 'हिस्से की धूप' में एक ऐसी नारी का चित्रण हुआ है, जो नारी स्वातन्त्रय की घोषणा करती हुई आत्महित एव आत्मतुष्टि को प्रधानता देती है।

मनीषा एक सुशिक्षित नारी है। वह शिक्षाका होने के साथ–साथ लेखिका भी है। मनीषा ने अपनी मर्जी से जितेन के साथ अरेंज मैरिज किया है। मनीषा स्वंय को जितेन के साथ भावात्मक स्तर पर जोड नहीं पातीं है। वह अपने और जितेन के बीच प्रेम की उष्णता का आभाव पाती है।

स्कूल के एक जलसे में मनीषा की भेंट मधुकर से होती है। मधुकर और मनीषा एक दूसरे से प्रेम करने लगते हैं अतः किसी की परवाह न करते हुए वह तलाक लेकर मधुकर से विवाह कर लेती हैं। चार

वर्ष बाद वह एक बार फिर अपने पूर्व पति से सम्बन्ध स्थापित करती है। वह जितेन और मधुकर को लेकर अपने अस्तित्व की सार्थकता पर विचार करती है। और अन्त मे इसी निष्कर्ष पर पहुँचती है कि अपनी सार्थकता अपने भीतर ही खोजनी होगी।

कठ गुलाब–

बंजर परिप्रेक्ष्य और बोझ अनुभव पर आधारित यह कथा कृति साहित्य की नयी समाज–शास्त्रीय व्याख्या है। इस उपन्यास की मूल समस्या श्रम और उत्पादन के स्रोतो से कटे और परोपजीवीं लोगों के बजर की कहानी हैं जिनकी जिंदगियों को अपनी सार्थकता 'बोसाई' या 'कठगुलाब' के प्रतीको में ही दिखाई देता है।

चितकोबरा–

यह स्त्री की 'सेक्सुअलिटी' पर लिखा गया उपन्यास है। इस सन्दर्भ में स्वयं मृदुला गर्ग की टिपण्णी है। "युं तो अनेक लेखिकाएं स्त्री की सेक्सुअलिटी पर लिख रही हैं और अरसे से लिख रही है। इसी कडी मे मैनें भी 1979 मे 'चितकोबरा' लिखा।" [1] 'अनित्य' और 'मै और मैं' भी महत्वपुर्ण उपन्यास है।

इदन्नमम् – मैत्रेयी पुष्पा–

स्त्री विमर्श, सत्ता और समर्पण पर आधारित यह उपन्यास 1974 में प्रकाशित हुआ इस उपन्यास का पाठ करते समय 'मैला ऑचल', 'गोदान', 'रागदरबारी', 'मुरदाघर' और 'पतरी परिकथा' जैसे उपन्यासों का

---

[1] राष्ट्रीय सहारा ' मथन ' , 'देह कभी आजाद नही हो सकती' पृ.सं.9)

स्मरण हो उठना स्वाभाविक बन जाता है। दरअसल यह उपन्यास स्त्रियो और बचितो की सघर्ष–कथा है। मैत्रेयी पुष्पा इंदन्नमम् में जिस आत्मीय लगाव और सवेदानात्मक गहराई से विध्यपर्वतीय अचल का चित्र प्रस्तुत करती हैं, उसमें विश्वसनीयता भी है और कथात्मक सादगी भी।

'इदन्नमम् सामंती समाज के हिसक अन्तर्विरोधो और दोहरें चरित्र को जानने–समझने के साथ–साथ, बदलते परिवेश में अन्य विकल्पों की अनंत सम्भावनाओ की तलाश मे निकली ग्रामीण अनपढ़ अंगूठाटेक औरतो की (आत्म) कथा है। जिसे उनकी अपनी भाषा में उनके संकल्पों का शपथपत्र भी कहा जा सकता है।

चाक–

चाक के बारे में यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि 'चाक' उपन्यास एक स्त्री की लम्बी लडाई का वृतान्त है, इसी अर्थ में उसके मुक्ति संघर्ष की महागाथा।

चाक का दूसरा नाम है 'समय चक' । चाक घूमेगां नही तो कुछ बनायेगा भी नही, वह घूमेगा और मिट्टी को विगाड़ कर नया बनाएगा, नये रूप में ढालेगा।

अतरपुर गॉव को उसमें रहने वाली किसान पत्नी सारंग को भी ढालकर नया बना रहा है 'चाक', लेकिन बनाना एक यातना से गुजरना भी तो है। न चाहते हुए भी सारंग निकल पड़ी है, ढाले जाने की इस यात्रा पर । इसी यात्रा की कहानी है यह उपन्यास ।

झूलानट–

गॉव की साधारण सी औरत है शीलों न बहुत सुन्दर और न वहुत सुघड, लगभग अनपढ। न उसने मनोविज्ञान पढ़ा है, न समाज शास्त्र जानती है। स्त्री–विमर्श और राजनीति का भी उसे पता नही है। यह उपन्यास एक स्त्री के अपने होने की उसकी जिजीविषा की और कठिन आत्मबल की अभिव्यक्ति करने वाला है। अलमाकबूतरी, उनका महत्वपूर्ण उपन्यास है।

छिन्नमस्ता–

प्रभाखेतान– 1993 में प्रकाशित इस उपन्यास के फ्लैप नं.2 पर लिखा गया है। यह उपन्यास प्रिया नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है, जो निरन्तर शेषित है समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरूष की आदिम भूख से भी, टूट जाने की हद तक लेकिन वह टूटती नहीं बल्कि शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बन कर एक नई राह पर चल पड़ती है, और यहॉ से आरंभ होती है उसकी बाहरी और आन्तरिक यात्रायें, संघर्षो का एक अटूट सिलसिला, बीच–बीच में वह शिथिलता अनुभव जरूर करती है लेकिन उसके सामने एक लक्ष्य है–समाज की जिन बर्बर मर्यादाओं और शक्तियो के सामने एक दिन वह मेमने की तरह मिमियाती रही थी वे देखे कि नारी सदा ही ऐसी निरीह नहीं रहेगी....... संक्षेप में कहें तो प्रिया के माध्यम से लेखिका ने नारी स्वातत्रय की भावना का वास्तविक रूप उद्घाटित किया हैं

पीली ऑधी–

'पीली ऑधी' राजस्थान के मारवाड़ी सेठ गुरमुख दास रूंगटा की हवेली से लेकर कलकत्ता में 'रूँगटा हाउस' तक संयुक्त परिवार की तीन पिढ़ियों के बसने, उजड़ने और टूटनें विखरने की विकास कथा है, कथा में सम्बन्धों का संयुक्त परिवार नहीं बल्कि संयुक्त परिवार में सड़ते

सम्बन्ध है। परम्परा, पूँजी और पहचान के आत्म–संघर्ष में छटपटाती स्त्री शक्ति अपनी मुक्ति के लिए अब एक नई परिभाषा भी गढ़ती रचती है।

प्रभा जी 'पीली ऑधी' रचने में जिस जाने–पहचाने समाज की गहरी जॉच पडताल सूक्ष्मता से की है, उसके किले में घुस पाना ही कठिन हैं, पोस्ट मार्टम तो बहुत दूर की बात है। अब तक इतनी बेवाकी और रचनात्मक ईमानदारी के साथ इतना कुछ नही कहा गया था।

इनके अन्य उपन्यास है– 'आओ पेपे घर चलें', 'ताला बन्दी', 'अग्निसम्मवा', 'अपने–अपने चेहरे', 'और अल्बेयर कामू'।

कलिकथाः वाया बाईपास–अलका सराबगी

"कलिकथाः वाया बाईपास 1925 में जन्में किशोर बाबू की कहानी है किस तरह दिल के बाइपास आपरेशन के बाद वे अपने कैशोर्य की दुनिया में चले जाते है और उन्हीं दिनों की तरह उलझनों से जूझते कलकत्ता शहर में पैदल चक्कर लगाते सड़कें मापने लगते हैं।" [1]

"इसमें किशोर बाबू की तीन जिंदगियों की कहानी है। पंहली देश की आजादी तक यानी किशोर बाबू की बाइस साल की उम्र तक। दूसरी पूरे पचास साल तक की यानी 1997 तक और तीसरी बाईपास के बाद, जिसमे तीनो जिन्दगियों में आवाजाहीं बनी रहती है। कथा को समय में कम–निरपेक्ष ढ़ग से आगे–पीछे ले जाने की सुविधा उसके शिल्प के कारण सुलम है।"[2]

'ऑवा'–चित्रा मुद्गल–

---

[1] कलिकथा ,वाया 'वाईपास फ्लैप पृ 1

[2] कथा–कम अक्टूबर–दिसम्बर 2000 उत्तर शती के उपन्यास ' महिला कथाकारों के सन्दर्भ में पृ 44

चित्रा मुद्गल का "आवाँ" बहुचर्चित उपन्यासों में से एक है। लेखिका का यह एक महत्वांकाक्षी प्रयास है। जो एक ओर यदि नारी–विमर्श की गहरी पडताल के कारण एक उल्लेखनीय उपन्यास है तो दूसरी ओर इसलिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि ट्रेड युनियन और मजदूर आन्दोलन से सम्बन्धित किसी महिला उपन्यासकार द्वारा लिखित यह हिन्दी का शायद पहला उपन्यास है।

ऑवा में अधिकॉश नारी पात्र हैं जो पहले शोषित होती हैं, फिर जागरूक होकर शोषण का विरोध करती है लड़ती है, शोषकों का मुकाबला करती हैं, लेकिन हार नही मानती।

'माई' – गीतांजलि श्री–

'माई' मध्यम वर्गीय परिवार के माध्यम से, सामाजिक आपात काल के प्रमाणिक और अविस्मरणीय अनुभवों का अनुवाद है। अर्थात मध्यमवर्गीय परिवार की कथा के माध्यम से सामाजिक अनुभवों की शाब्दिक अभिव्यक्ति है। 'भाई' समय और समाज का ऐसा प्रतिविम्ब है, जो एक लम्बी बहस की मॉग करता है।

'हमारा शहर उस बरस' भी इनका महत्वपूर्ण उपन्यास है इसमें साम्प्रदायिक समस्या को उठाया गया है।

"परछाई अन्नपूर्णा" क्षमा शर्मा

1996 में प्रकाशित यह उपन्यास आत्महत्या के विरूद्ध जीवन से एक मुठभेड़ है। इस लघु कृति में कामकाजी महिलाओं के संकट, संघर्ष और सामाजिक स्थितियों के संघर्ष में एक गम्भीर बहस की गयी हैं।

'रास्तों पर भटकते हुए' मृणाल पाण्डेय

मृणाल पाण्डेय का 'रास्तों पर भटकते हुए यदि एक ओर' सामान्यतः पत्रकारिता के सरोकारो की गंभीर पड़ताल में प्रवृत्त है तो दूसरी ओर वह स्त्री पत्रकार की निरन्तर कठिन होती जाती भूमिकोओं को भी समझने–समझाने की कोशिश करता है। ऐसा भी लग सकता है कि मंजरी के रूप में मृणाल के अपने अनुभव ही उपन्यास का एक बड़ा हिस्सा बनकर सामने आते हैं। इस अनुभव यात्रा में व्यवस्था की परतें धीरे–धीरे खुलती और उधडती चलती हैं।

इनके अतिरिक्त बीसवी शताब्दी के महिलाओं द्वारा लिखे उपन्यास निम्नलिखित है–

'वचन के मोल', 'प्रिया', 'जीवन की मुस्कान', 'पथचारी', 'आवाज', 'सोहनी', 'नष्ट नीड़' (उषा देवीं मिश्रा) 'अमलतास', 'नावें', 'सिढियॉ', 'परछाइयों के पीछे', 'क्योकि', 'कर्करेखा', 'परसों के बाद', 'ये छोटे महायुद्ध', 'उम्र एक गलियारें की', 'सागर पार संसार', (शशिप्रभा शास्त्री) 'चौदह फेरे', 'कृष्णकली', 'भैरवी', 'विषकन्या', 'रति विलाप', 'करियें छिमा', 'मणिक' (शिवानी) 'तत्सम' (राजी सेठ) 'वेगाने घर में', 'तिरछी बौछार' (मंजूला भगत), 'प्रिया', 'कोहरे', 'प्रतिध्यवनियॉ, 'वह तीसरा' (दीप्ति खण्डेलवाल), 'रेत की मछली' (कान्ता भारती), 'नरक दर नरक', 'पतरंगपुराण' (मृणाल पाण्डेंय), 'मेरे संन्धिपत्र', 'सुबह के इन्तजार तक', 'अग्नि पॉखी' (सूर्यबाला) , 'शेष यात्रा'(उषा प्रियंवदा)

(ख) कहानी

आदमी और कहानी की दोस्ती शुरू हुए हजारों साल वीत गये और आज भी साहित्य की दूसरी विधाओं की तुलना में कहानी से ज्यादा संवाद होता है।

कुछ भी हो कहानी में आदमी के दु:ख दर्द और संघर्ष है। तो कही न कहीं एक ऐसा 'कथा रस' भी है जो हमे लीन करता है। कहानी के साथ सैकडो साल आगे पीछे की यात्रायें तो होती ही है। यह जो कहानी का सपने दिखाना है और हकीकत में भी जुडे रहना है, कहीं न कही इसी वजह से आज भी व्यक्ति कहानी से ताकत, शक्ति लेता रहा है।

कहानी के क्षेत्र में तो महिलाओं का दखल शुरू से रहा है, यहाँ तक कि हिन्दी की पहली कहानी पर विचार करते समय जब 'ढुलाई वाली' कहानी का उल्लेख होता है तो इसकी लेखिका के रूप में 'बंग महिला' का नाम आता है। इनका पूरा नाम 'राजेन्द्र बाला घोस' है। अर्थात हिन्दी साहित्य में पहली मौलिक कहानी किसे माना जाय? इस बहस में 'ढुलाई वाली' कहानी शामिल है और इसकी लेखिका स्त्री है।

शिवानी, ममता कालिया, मृदुलागर्ग, नासिरा शर्मा, राजी सेठ, उषा प्रियंवदा, मन्नू भण्डारी, चन्द्रकान्ता, प्रभाखेतान, मैत्रेयी पुष्पा, सूर्यबाला, मंजुल भगत, चित्रामुद्‌गल, सरयू शर्मा, उषा महाजन, सिम्मी हर्षिता आदि वीसवीं शताब्दी की कुछ महिला कहानीकार हैं।

ममता कालिया की प्रतिदिन', 'जॉच अभी जारी है', 'काली साड़ी', आदि कहानियॉ एक ओर उपभोक्ता संस्कृत के निष्ठुर सत्य को खोलती हैं तो दूसरी ओर व्यंग्य करने से भी नहीं चुकती हैं।

राजी सेठ का रचना संसार विस्तृत न होते हुए भी मानवीय सम्बन्धों की सूक्ष्म पड़ताल करता हुआ दिखता है, 'सदियों से', कहानी में दाम्पत्य की धवलता को प्रमाणित करने में खट रहीं स्त्री की पीड़ा को शब्द दिये हैं। अभी तो : 'तदुपरान्त' और 'विकल्प' जैसी कहानियों में मानवीय मूल्यों से जुड़े सवालों को खड़ा किया है।

उषा प्रियवदा के कहानी सग्रह है: 'फिर वसंत आया', 'जिन्दगी और गुलाब' 'एक कोई दूसरा' और 'कितना बडा झूठ'। इनकी अधिकांश कहानियॉ रूढियो, मृत परम्पराओं तथा प्राचीन जड़ मान्यताओं पर हल्की–हल्की चोट करती हुई प्रतीत होती हैं। उषा प्रियंवदा ने आर्थिक मूल्यों को आधार बनाकर भी कुछ कहानियॉ लिखी है। उनकी 'पेरम्बुलेटर' कहानी इस दृष्टि की परिचायक है। इनकी 'मछलियॉ' कहानी में नारीमन की दुर्बलताओ का चित्रण मिलता है।

'वापसी कहानी परम्परागत मूल्यो में पराजय की कहानी है। यह एक व्यक्ति को अपने ही द्वारा निर्मित अपने परिवार से वापसी की कहानी न होकर सारे पुराने मूल्यों से वापसी और एक नई दिशा में चलने की कहानी है।

'पिघलती हुई वर्फ' अतीत से छुटकारा न पाने की कहानी है। इस अचेतन की ताडना इतनी तीव्र है कि वह व्यक्ति को सहज जीने भी नही देती। 'जिदंगी और गुलाब के फूल' में बदलते हुए अर्थ सम्बन्धों का यथार्थ चित्रण देखनें को मिलता है।

मन्नू भण्डारी की अधिंकांश कहानियां नारी जीवन की समस्याओं को आधार बनाकर नारी जीवन की समस्याओं को आधार बनाकर लिखी गयी हैं। 'रानी मॉ का चबूतरा' में मन्नू भंडारी ने नारीं जीवन की पीडओं और उसकी दयनीय स्थिति पर प्रकाश डाला है।

'यह सच है' इस कहानी में प्रेम त्रिकोण को नई दृष्टि से उठाया गया है। मन्नू भण्डारी की यह सर्वश्रेष्ठ कहानी है। इसमें नारीमन के यर्थाथ को चित्रित किया गया है।

पीढ़ियों का अन्तर भी, आधुनिक जीवन का सच है।'मजबूरी' कहानी इसी सत्य को उद्‌घाटित करती है। मन्नू भण्डारी की अन्य

कहानियॉ है, 'अकेली', 'इसा के घर इसान', 'तीसरा आदमी', 'ए खाने आकाश नाइ', 'नई नौकरी', 'शायद', 'खोटे सिक्के', आदि।

नसिरा शर्मा की कहानियॉ स्त्री जीवन के दोजख का जीवन्त दस्तावेज है। 'सगसार' इसका उदाहरण है। धार्मिक कट्टरता और यथा स्थितिवाद के समर्थक, विरोध का आरोप लगाकर मासूम लोगों पर कैसे जुल्म करते है 'गुंचादहन' इसका नमूना है। 'खलिस' में नसिरा शर्मा तसलीमा नसरीन की तरह धार्मिक उन्माद के विरोध में जेहाद छोड़ती हैं। 'इमाम साहब' कहानी धार्मिक साम्राज्य और अर्थसत्ता के बीच अकेले पड़ते एक निरीह आदमी की कहानी है, जिसे नासिरा ही लिख सकती है।

चित्रा मुद्गल द्वारा लिखित कहानियॉ खासकर बम्बई की झोपडपट्टी की औरतों की जिदगी पर लिखी गयी। उनकी कहानियॉ हैरत मे डाल देती है–एक सभ्रान्त शहरी औरत कैसे जिंदगी की इस तलछट में उतर कर शराब, माफिया और अपराध के सख्त जाल के बावजूद छलछला कर बहती इंसानियत को देख पाई होंगी। युं भी अक्सर उनके यहॉ जिंदगी की बडी कठोर शक्लें आती हैं। चित्रा मुद्गल जिन कहानियों से जानी जाती हैं 'प्रेतयोनि', 'फातिमा बाई कोठे पर नहीं रहती', 'जगदम्बा बाबू गॉव आ रहे हैं', 'भूख', 'ठहरा–ठहरा हुआ' और 'मामला आगे बढ़ेगा अभी' जैसी कहानियॉ हैं और यकीनन अच्दी कहानियॉ हैं। इनकी एक छोटी कहानी है 'लिफाफा' इस कहानी में एक वेरोजगार युवक की इतनी गहरी पीड़ा और अवसाद है कि उसका सामना करने में दिक्कत होती है। इसी प्रकार 'दरमियान' कहानी एक कामकाजी औरत के छोटे–छोटे दु:खों पर लिखी गयी ऐसी कहानी है जिसकी तरफ लोगों का ध्यान नहीं गया, लेकिन चित्रा गुद्गल की कथायात्रा में यह एक अलग तरह की कहानी है।

चन्द्रकान्ता भी एक महत्वपूर्ण कथाकार है जो अपने सहज कथा विधान और लयकारी वाली भाषा के सामर्थ्य से गिरफ्त मे ले लेती है। वह एक शक्तिशाली कथाकार है। 'देशकाल', 'चुनमुन चिरैया', 'ओ सोन किसरी', मे उन्होने बहुत ही सशक्त कहानियॉ लिखी हैं। 'ओ सोन किसरी' मे उन्होने 'पत्थरो के राग', 'सिद्धि का कटरा', 'तैती बाई' जैसी कुछ अविस्मरणीय कहानियॉ लिखी। अपने नये संग्रह 'कालीवर्फ' में कश्मीर के दुःख और त्रासदी पर कहानियॉ लिखी। खासकर 'शरणागत दीनार्त' और 'कालीवर्फ' कश्मीर के विस्थापतों की फटती हुई छाती के गवाह और भोक्ता के रूप मे दो जीवत दस्तावेज कही जा सकती है।

मैत्रेयी पुष्पा की कहानियो का आधार फलक ग्रामांचल है। बुदेलखड और व्रज प्रदेश उनकी कहानियों में शहरी संवेदना के साथ प्रकट हैं। उनकी प्रमुख कहानियॉ 'चिन्हार', 'अपना–अपना', 'आकाश', 'सहचर', 'बेटी', 'केतकी', 'रास', और 'गोमा हॅसती है' आदि हैं। मैत्रेयी का नया सग्रह 'ललमनियॉ' में उनकी कहानी का फलक काफी बढ़ा हुआ है। ललमनियॉ की मौहरों खाली अपने दु.ख के लिए रोने वाली स्त्री नही है। उराने अपना जीवन 'ललमनियॉ' के लिए दे दिया तो वह 'ललमनिया' उसके जीवन का तेज और एक तरह की ललकार भी बन गयी। जिसके पीछे उसकी दरिद्रता का सारा दुःख ढंका रहता है। और उसके नृत्य की वह तेजी तब भी कम नहीं होती जब नन्ही पिड़कुल आकर सूचना देती है–"हमारों बाबू दुल्हा बने हैं अम्मा हंस मोटर पर बैठे हैं"........... । हॉ यहीं ललमनियॉ तब उसके लिए महज एक नाच नहीं, बबंडर बन गया और "सारे शोर से बेखबर मौहरों दर्पण के लश्कारे मार–मार बेसुध हुई नाचती रही ......नाचती ही रहीं, एक आदिम नाच।"

इस तरह मैत्रेयी पुष्पा की 'फैसला' की इसुरिया कोई रोने–धोने बाली कमजोर स्त्रीं नहीं है। अपने ही पति के खिलाफ वोट

देकर न्याय और सच्चाई का पक्ष लेने वाली स्त्री है जो अपने भीतर की 'ईसुरिया' को नही मार सकी। उसके द्वन्द्व का वह क्षण बेहद मार्मिक है, जब एक ओर वह पराजय से दुःखी होकर एकालाप करते अपने पति को सान्त्वना दे रही है, दूसरी ओर पति को लगभग ध्वस्त कर देने वाले अपने निर्णय को मन ही मन सही भी ठहरा रही है। मैत्रेयी पुष्पा की कहानियॉ दिल को छूने वाली है।

चन्द्रकान्ता की ही तरह सरयूशर्मा और दीपक शर्मा की कहानियो की बुनावट सम्भवतः महिला कथाकारो के सामान्य ढॉचे से एकदम अलग है। नक्सलवाद के माहौल पर लिखी गयी उनकी 'बराबर का खेल' स्तब्ध कर देने वाली कहानी है। पुलिस और क्रान्तिकारियों की मुठभेड़ को जिस तरह वे कह गयी हैं, वह हर किसी के बस की बात नही। दीपक शर्मा की 'रणमार्ग' और 'कब्जे पर' जैसी कहानियॉ पारिवारिक तकलीफों के कुछ अलग अंदाज की कहानियॉ हैं। ऐसी कहानियॉ कम देखने को मिलती हैं । ऐसे ही सरयू शर्मा भी बहुत कम लिखकर चर्चित हुई एक समर्थ लेखिका हैं, जिनकी 'कितनी बार' कहानी फौजी उत्पीड़न के नीचे कुचले जाते आदिवासियो के दुःख और रोष को बडे शक्तिशाली ढग से कहती है। दीपक शर्मा की राजनीतिक कहानी 'बराबर का खेल' की तरह यह भी एक ऐसे अनुभव की कहानी है जिसे स्त्री कथाकारों ने बहुत कम लिखा। दो सहेलियों सॉगी और जोदी में से जोदी को फौजियों के ट्रक से कुचल दिये जाने और सॉगी के हाथ में स्टेनगन आ जाने से, जिससे एक हवलदार के भीतर उसने पूरी की पूरी गोलियॉ उतार दी थीं– फौजी उत्पीड़न का पूरा चेहरा सामने आ जाता है। सरयू शर्मा ने 'बीच में पड़ी चाबी' और 'लाख पन्नों की किताब' जैसी कहानियॉ बड़े सहज अंदाज से लिखी।

मंजुल भगत उपन्यास के साथ–साथ कहानी की रचनाकार भी मानी जाती है। इनका 'दूत' सग्रह की शीर्षक कहानी 'दूत' दाम्पत्य सम्बन्धो की जटिल और त्रासद कथा है जो अन्त आते–आते अकस्मिक रूप से एक नया स्तब्धकारी रूप ले लेती है। उनकी 'गुलदुपहरिया, भी अच्छी रचना है, एक सीधी–सादी स्त्री की मर्म कथा।

इसी तरह रमा सिंह भी अच्छी सशक्त कहानीकार हैं। इनकी 'बालूघाट की मछली' एक बडी सशक्त कथा है' जिसमें मछली और औरत का दर्द करीब–करीब एक हो गया है।

मणिका मोहनी अकविता काल मे अपनी तेज मारक–मारक कविताओं से चर्चित हुई थी। उन्होने काफी बोल्ड कहानियॉ लिखी जो कई बार दैहिक स्तरो पर ही फिसलती रह जाती हैं, पर बीच–बीच में उनकी ऐसी कहानियॉ भी लगातार देखने को मिली है जिनमें स्त्री के नाते पूरे सम्मान के साथ जीना चाहती है और पुरूष द्वारा दिये गये तीखे दंश और अपमान से लहुलुहान होकर भी उनकी जिजीविषा हार नहीं मानती । उनकी कई कहानियॉ उस दकियानूसी धारणा पर भी लगातार चौट करती है जिसमें स्त्री की देह को 'मंदिर' बना कर उसे पूजा तो जाता है पर उसे इंसान का जीवन नही मिल पाता।

मणिका मोहनी का कहानी संग्रह 'जग का मुजरा' में 'दिलेर' एक शक्तिशाली कहानी है, जिसमे फिल्मों की दुनियॉ में एक स्त्री के दैहिक उपयोग की नंगी सच्चाई अनावृत हुई है। 'साहेब उर्फ नृप' जैसी कुछ कहानियों में उनका व्यंगात्मक तेवर भी खुब चमका है, जिसमें खेल–खेल में वह बड़ी दूर तक मार कर करती हैं।

शिवानी बीसवीं शताब्दी की सफल उपन्यासकार और कहानीकार हैं। 'लाल हवेली', 'करियें छिमा', 'चोल गाड़ी', मधुयामिनी', 'सती' आदि शिवानी की प्रसिद्ध कहानियॉ हैं। शिवानी ने अपनी कहानियों

मे अधिकतर पर्वतीय समाज से सम्बन्धित समस्याओं, प्रथाओ और मनोभावो का चित्रण किया है। भावनात्मक, सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से जूझती, टकराती नारी को बहुत ही रोचक और मार्मिक ढंग से अपनी कहानियों मे प्रस्तुत किया है।

सूर्यबाला की कहानियॉ आकर्षित करने वाली हैं इसके बावजूद वह ज्यादा चर्चित कहानीकार नही हैं। उनकी कहानी 'मटियाला तीतर' गॉव से शहर आकर शहराती फंदे में फॅसा गये एक कामकाजी लड़के की कहानी है जो सारे दिखावटी प्यार के बाबजूद भीतर–भीतर रोता रहता है और एक दिन इस सारे छद्म को तोडकर भाग निकलता है। गॉव के उस अक्कड मटियाले तीतर की डब–डब करती ऑखें जल्दी कोई भूल नही सकता।

मृदुला गर्ग नारीवादी लेखन की एक महत्वपूर्ण लेखिका है। उनकी कहानी 'बड़ा सेब काला सेब, बहुत सशक्त कहानी है। इसमें एक स्त्री की जो आत्मविश्वास पूर्ण मुक्त छवि है, वह मन पर छप सी जाती है। बहुत ही सहज कहानी है यह। इनकी 'समागम' बहुत प्रभावशाली न होती हुई भी स्त्री की एक अलग मनःस्थिति की कहानी होने के नाते याद रह जाती है।

शशिप्रभा शास्त्री भी बरिष्ठ कथाकार है, और निरन्तर लिखती आ रही है लेखिकाओ में से है। उन्होंने 'एक टुकडा शन्तिरथ', 'रास्ता', तलघट में', 'दुश्मनीं की बातें' जैसी अच्छी कहानियॉ लिखीं हैं तो कुछ सामान्य ढ़ंग की भी कहानीयॉ हैं।

अर्चनावर्मा की 'जोकर' अतिरंजित नाटकीयता के बाबजूद अच्छी कहानी है। पर इधर उन्होंने कहानियॉ कुछ कम कर दिया है।

महिला कहानीकारों में उषा महाजन, कमल कुमार, सारा राय, नीलम कुलश्रेष्ठ निर्मला भुराड़िया, को भी अच्छी कहानियॉ हैं। कुसुम

अंसल भी अच्छी कहानीकार हैं। उनकी इकतीस कहानियों का बड़ा संग्रह छपा है जिसमें 'एक नई मीरा' जैसी कहानियॉ पढ़ने को मिलीं। एक दौर में कहानी लेखन में काफी सक्रिय रहीं सिम्मी हर्षिता भी हैं।उनका एक कहानी संग्रह कुछ समय पहले छपा था। अन्य कहानीकारों में मृणाल पाण्डेय, नीलम कुलश्रेष्ठ गीतांजलिश्री आदि हैं। जिनके सहयोग से हमारे साहित्य का कहानी लेखन समृद्ध हुआ है।

'खंडित ताम्रपत्र' रागिनी मालवीय का कहानी संग्रह है। संग्रह की पहली कहानी 'जहर' जो संग्रह की श्रेष्ठ कहानी भी है गरीबीं से जूझते दो मासूम बच्चों की संघर्ष कथा है उनकी कोठरी; अराजक तत्वों द्वारा जो स्कूल से जुड़े है, छीन ली गयी है। नीम के नीचे झोपड़ी बनाकर रहने वाले बच्चे प्रकृति की मार तो सहते ही हैं, माता–पिता की ओर से भी कुठिंत और तनाव ग्रस्त हैं। 'भयावह' कहानी में लेखिका की प्रमुख चिन्ता साम्प्रदायिक उन्माद के बाद उपजे परिणामों को लेकर है। संग्रह की अन्य कहानियॉ संगीता उर्फ फतिमा, 'बड़ी बी', खंड़ित ताम्रपत्र', 'फार्मूला', 'देश', 'संजीवना', 'मलिका' और 'चोर' आदि कहानियॉ हैं।

सभी कहानियॉ प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी हैं। इनकी कहानी के पात्र निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं।

(ग)–कविता

हिन्दी कविता के ससार में स्त्रियो की भागीदारी कम पुरानी नही है। मध्काल मे जब पुरूष प्रधान समाज अपने उत्कर्ष के चरम पर था तो स्त्रियॉ मात्र नायिकाएं थीं। वे आलम्बन हो सकती थी पर हिन्दी साहित्य के इतिहास मे ये विचित्र आश्चर्य है। सम्पूर्ण भक्तिकाल एवं रीतिकाल मे कवियित्रियों की उपस्थिति लगभग शून्य,उत्तर मध्यकाल में मीरा अपवाद है, उन्होने भक्त समकालीन कवियों के समान कृष्ण भक्ति के पदों की रचना की जिसका स्मरण स्त्रीलेखन की पृष्ठभूमि के रूप में किया जा सकता है। आधुनिक काल में जब आधुनिकता के प्रकाश में स्त्री पुरूष की समानता का विचार संरचित हुआ तो सुभद्राकुमारी चौहान जैसी कवित्रियॉ प्रकाश में आयी जो उस दौर के जागरणपरक कवियो की समानता में अपने काव्य संसार का सफल प्रस्तुतिकरण किया। 'त्रिधारा' और 'मुकुल' इनके काव्य संग्रह है। प्रथम वर्ग में इन्होनें राष्ट्र प्रेम की कविताएं लिखी। इनकी 'झॉसी की रानी' कविता तो समान्य जनता में बहुत प्रसिद्ध हुयी। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे कविताएं आती है जिनकी प्रेरणा इन्हे पारिवारिक जीवन से प्राप्त हुई है। ऐसी कविताओं में कुछ तो पति प्रेम की भावना से अनुप्राणित है और कुछ में सन्तान के प्रति वात्सल्य की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है।[1]

बहुत पीछे न लौटकर छायाबाद के प्रतिष्ठापरक तीन महाकवियों के साथ महादेवी वर्मा का ध्यान आता है जो आज तक की हिन्दी कवियित्रियों की प्रेरणास्रोत कही जा सकती है। गद्य और पद्य दोनों में ही महादेवी का स्थान किसी भी पुरूष, बड़े कवि के समकक्ष ही माना

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास ,डा0 नगेन्द्र , पृ स 539

जाता है। आगे चलकर शकुन्तमाथुर, चन्द्रकिरण, सोनरिक्शा, सुनीता जैन, गगन गिल, कत्यायनी जैसी कवित्रियॉ नई कविता के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाती रही है पर ये एक विचित्र औरे सुखद संयोग है कि नयी कविता और समकालीन कविता के क्षेत्रो मे अपनी रचनात्मकता प्रकाशित करने वाली सभी कवियत्रियॉ स्त्री लेखन तथा कथित प्रभाव से मुक्त और सहज कवि धर्म की राह पर चलने वाली कवियत्रियॉ है।

बस्तुतः जिस प्रकार स्त्रीवादी लेखन का प्रभाव कथा साहित्य पर है उस तरह का प्रभाव कवियत्रियो पर नही, उसका एक कारण यह भी है कि कविता की विधा समाज के विवरण–विर्तक और विश्लेषण को महत्व न देकर उसके अनुभव की सुगन्ध या दुर्गन्ध को संश्लिष्ट रूप से व्यक्त करती है, यही कारण है कि शकुन्तमाथुर को तारसप्तक मे अज्ञेय जी ने स्थान इसलिए नही दिया है कि वे स्त्री की पीड़ा को व्यक्त करते हुए नारी आन्दोलन की तथा–कथित क्रान्ति को संवेदनशील भाषा प्रदान करें बल्कि इसलिए दिया है कि उनमे प्रयोग धर्मिता, आधुनिकता बोध, बौद्धिकता और परम्परा के बरक्स उसी प्रकार प्रश्न खडा करने की प्रवृत्ति है, जैसे दूसरे प्रयोगशील और नयी कविता के कवि हैं।

आगे चलकर कविता की दुनियॉ में जो ख्यात–अल्पख्यात कवियित्रियॉ पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं हैं उनका भी स्त्री लेखन से कोई अतिरिक्त सम्बन्ध नही हैं। प्रेम, सामाजिक विडम्बना, आर्थिक बदहाली, प्रकृति चित्रण और देह तथा मन के यथार्थ का अंकन करती हुई ये कवियत्रियॉ सामान्य प्रवृत्ति की कविताएं लिखती रहीं, न कि स्त्री–विमर्श के तर्कशास्त्र के फ्रेमवर्क में अपना शाब्दिक विनियोग कथा लेखिकाओं की भॉति करती रही हैं।यह और बात है कि स्त्रियों के काव्य संसार में घरेलूपन की गंध ज्यादा है, कुछ आस्था भी शेष है और प्राकृतिक भावुकता का का भी सन्निवेश ज्यादा पाया जाता है। तीज,

त्योहार, ब्रत–उपवास, सास–ननद भौजाई, बेटा बेटियो की चिन्ता, पति की कमाई, और पुरूषो की वेवफाई उनके काव्य संसार में कुछ ज्यादा है। कुछ छिपाने की भी प्रवृत्ति है, वफा तथा रोमांस भी अपेक्षाकृत ज्यादा है। इधर की कवियित्रियॉ सुनीता जैन के लगभग आधा दर्जन काव्य संग्रह प्रकाशित हए हैं, उनमें ये प्रवृत्ति देखी जा सकती है। कृष्णा विष्ट की कविताओं मे भी पर्वतीय कवि मगलेश डवराल की बौद्धिक और विदास मानसिकता के समान उनके भी काव्य मे एक तरह का सलोनापन मिलता है। ये विचित्र बात है कि कविता के क्षेत्र मे कवियित्रयॉ समकालीन रचना संसार मे प्रथम पंक्ति मे नहीं आ पायी हैं। न तो किसी को साहित्य अकादमी का पुरस्कार मिला न किसी के रचना को केन्द्र बनाकर आलोचकों ने आलोचना का मुहाबरा बनाया। एक जमाने में अकविता और विटनिक कविता के तर्ज पर लिखने वाली मोना गुलाटी भी कोई काव्यात्मक शिखर प्रतिमान प्रस्तुत करने में असमर्थ रहीं। हलॉकिंइनके संग्रह 'सोच को दृष्टि दो' में काफी अच्छी कविताएं हैं– एक 'परिचय' शीषर्क से लिखी गयी छोटी कविता द्रष्टव्य है–

"लौटने पर तुम नहीं
पाओंगे
कोई पद चिन्ह, कोई
दूह
या बालू का घर!
मेरा परिचय
पींछे नहीं छूटता

साथ चलता है।"[1]

इसमे संग्रहीत बडी कविताए भी बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। शिनाढत–2 'मत पुछो नाम', 'शब्द दो मुझे', 'कविता के भीतर की कविता' आदि कविताएं किसी पुरूष कवि से कम अच्छी या सशक्त नही हैं।

इसी प्रकार गगन गिल की कविताओं मे बौद्धिक सम्पदा तो है, इतिहास बोध और संस्कृति बोध भी है पर जीवन की अथाह गहराई और प्रभावित करने वाला स्पन्दन वहाँ भी तिरोहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी की कविता विधा में स्त्री लेखन उतना समर्थ नही है जितना समर्थ कथा लेखन मे है।

लेकिन हमारे पितृसत्तात्मक समाज ने नारियों के लेखन को 'नारीवादी' लेखन नाम दिया है। 'नारीवादी' लेखन वह लेंखन है जो नारी की कलम से नारीं की समस्याओं को ही मद्देनजर रखकर रचा जा रहा है और नारी के दृष्टिकोण से ही उसका मूल्यांकन किया जा रहा है। इन नारियो का तर्क है कि अब तक साहित्य के मूल्यों एवं सिद्धान्तों का निर्माण पुरूष करते आये हैं लेकिन उन्हीं मानदण्डों पर 'नारी लेखन' का मूल्यांकन सम्भव नहीं उसके लिए नये पैमाने नये आधार चाहिए। यही कारण है कि अन्तिम दशक तक आते–आते ये कवियत्रियॉ भी स्त्री के केन्द्र बनाकर कविता लिखनें लगीं।

हिन्दी में स्नेहमयी चौधरी, सुमन राजे, चम्पावैद, मणिका मोहनी, उषाकांता, शशिशर्मा, मधुशर्मा, इन्दू जैन, कुसुम अंसल, मधु बी जोशी, गगन गिल, कात्यायनी, आदि कवियित्रियों ने नारी की त्रासदी पूर्ण स्थिति को उसकी छटपटाहट को उसके आकोश को उसके साहस को

---

[1] सोच को दृष्धि दो पृ 14

उसकी मुक्ति की चाह को कविताबद्ध किया है। यह उस नारी की दर्द भरी पुकार थी जिसके अस्तित्व को सदियों से नकारा गया है, उसे कंकड़ पत्थर की तरह ठोकरो से उडाया गया है। स्नेहमयी चौधरी की कविताओं मे नारी की यातनाए तह–दर–तह विछी हुई हैं उसकी सिसकियॉ दबी हुई है। उनकी दर्द भरी ऑखों ने भी नारी की बेबसी, मजबूरी, लाचारी देखा है और अपने कविता में चित्रित किया है.......... .

" हिन्दुस्तान मे जो औरते
वर्फ नही बन जाती है
वे जलायी जाती है।
या स्वंय जल जाती है "

होता यह आया है कि अब तक नारी ने पुरूष के सारे अत्याचारों और जुल्मो को खामोशी से सहा है, लेकिन अब................ वह उनके खिलाफ आवाज उठा रही हैं। इन्दूजोशी भी दमघोंटू वातावरण पर तीखा कटाक्ष करती है........................ .

"राख दिखने वाली मेरी खामोशी में
क्या तुम नही देख पाते छिपी आग को ?"

कत्यायनी ने भी अपने काव्य लेखन में पुरूषों के अत्याचारों का पर्दाफाश किया है, नारी युँ तो हमेशा से ही पुरुष समाज द्वारा रौंदी गयी है..... ....

"मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सर लुढ़केगा जमीन पर
मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना
मत उठाओं प्रश्न ब्रह्म सत्ता पर......."

यह तो सच है कि स्त्रियों ने जब भी पुरूष सत्ता को चुनौती दी है चाहे, साहित्य में हो या निजी जीवन में, उसने अपनी सुरक्षा के लिए उसके डेने तोड डाले है। पुरूष समाज ने नारी को इतना कुचल दिया है कि उसकी चेतना, उसकी भावनाए लाशो में बदल गयी हैं। आधुनिक कवियित्रयो ने अपनी कविता इसी विषय पर लिखी हैं, नारी के मार्मिक प्रसगो पर अपनी लेखनी चलाई जैसा कि सुमन राजे लिखती हैं—

" मेरी चेतना
जैसे तेल का गीलापन
जिसमे लाशे भरकर रख दी जाती है।"

महादेवी वर्मा आदि कवियित्रयों ने जहॉ 'मै नीर भरी दुःख की बदली' लिखा है वही आज की कवियित्रयॉ अपने दुःखद पूर्ण अतीत से त्रस्त है और आकोशित भी। यही आकोश वह अपने काव्य में व्यक्त कर रही है इनका कहना है.......... औरत मॉ है, बच्चे को जन्म देती है। पुरूष पैदा करने वाले को भगवान कहता है.... फिर नारी को बराबर का दर्जा देने से क्यो इंकार करता है.'.

" मैं नारी हूँ जिरो
सदियो
वक्त के पॉव तले
रौदा गया है।"

चम्पा बैद ने भी उस समाज के खिलाफ आकोश व्यक्त किया है, जहॉ बचपन से ही लडकी को डरा धमकाकर रखा जाता है उसके ऊपर अनेक बंदिशें होती हैं, प्रतिबंधों के घेरें में कैद वह मुक्त होकर स्वतंत्र होकर सॉस भी नहीं ले सकती। दबी, सिकुड़ी, धमकाई गयी बच्ची के व्यक्तित्व का स्वाभाविक विकास भी अवरूद्ध हो जाता है—

"मॉ कहती थी

लडकी हो

नगी मत नहाओ

लडको के सग मत बोलो

उनकी ऑखो में देखोगी तो

गर्भ ठहर जायेगा।"

ऐसी कविताएं लिखने वाली कवियित्रयों ने बड़े तल्ख अनुभव बटोरे है इसलिए उनमे बगावत की जो ऑच है वह बडी सच्ची और खरी है। दूसरो के चूल्हो पर आग तापने से उनके खून मे रवानी पैदा नहीं हुई है, यह उनका भोगा हुआ, जिया हुआ यथार्थ है, जिसको इन्होंने अपने लेखन मे व्यक्त किया है।

उषाकान्त की कविताओं में भी विवशता और वेवसी का तीव्र अहसास है–

" अलगनी पर

बरसों से टंगी

कोई इच्छा हूँ मैं ।"

अर्चना चतुर्वेदी ने भी समस्त स्त्रियों की पीड़ा को मुखर किया है। उन्हे भी जीवन जीवन नहीं लगता है। क्योकि जिस तरह का जीवन वह जीना चाहती है यथार्थ उसके विपरीत है, इसलिए एक कसक है उनके भीतर, उसी को उन्होंने व्यक्त किया है–

" काट रही हूँ जिन्दगी

सूली पर टंगे–टगे

निरूद्देश्य अहर्निश।"

अनुभूति चतुर्वेदी ने भी अपनी कविताओं में उसी कड़वी सच्चाई को व्यक्त किया है तथा उनका एहसास है कि समाज के थोथे सम्बन्धों को जीते–जीते उनकी पहचान ही चुक गयी है...............

" अब कुछ नही रखा

सम्बन्धो मे

एक थोथी बुनियाद पर जीते हुए।

खो गया अपना अस्तित्व "

राजी सेठ का भी काव्य संसार सीमित है, उन्होंने स्त्री विपयक उपन्यास कहानी के अतिरिक्त कुछ कविताएं भी लिखीं । उनकी कविताओ मे भी स्त्री की पीडा ही व्यक्त हुई है। कुछ कविताएं उनकी कुछ अलग है..... .

" तुमने क्यों पूछा, कि

मैं जो बुद्धिजीवी हूँ

मैं

जो घायल होता हूँ

उडती चिड़िया के पंख के आहत होने से

रोता हूँ बहिसाब

चीजों के अपदस्थ भर होने से।"

इन प्रबुद्ध नारियों ने महसूस किया कि वैधानिक अधिकार प्राप्त होने के बावजूद वह वास्तविक रूप से स्वतन्त्र नहीं हैं। वे एक ऐसी व्यवस्था में कैद हैं, जहॉ दीवारें नहीं, जंजीरें नही हैं फिर भी वे बंदी हैं तब उन्होंनें पुरूष सत्ता को ललकारा है। साठ से अस्सी के दशक की कवियित्रियों का रचना संसार सिर्फ पारिवारिक था, सिर्फ तीज, त्योहार और ब्रत, उपवास तक ही सीमित था वहीं उसके बाद की कवियित्रियॉ अपने काव्य संसार में नारी के अधिकारों के लिए पुरूष वर्चस्व के खिलाफ लड़ना शुरू कर दिया। बीसवीं शताब्दी का अन्तिम दशक आते आते यह विमर्श अपने चरम शिखर है। वे कवियित्रियॉ पुरूष सत्ता के खिलाफ खड़ी हुई हैं और प्रश्न उठाया है कि वे दोयम दर्जे की नागरिक क्यों है।?

(घ)–आलोचना एवं अन्य गद्य विधाएं

लेखिकाओ ने साहित्य में पिछले दशकों में एक बडा हस्तक्षेप किया है। महादेवी वर्मा एक ऐसी स्त्री लेखिका हैं जिनका लेखन बहुमुखी है। उन्होने काव्य क्षेत्र मे जितनी अपनी पहचान बनायी है उतनी गद्य की विधाओं में भी। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखायें', 'पथ के साथी', 'मेरा परिवार', नामक संस्मरण रेखा चित्र संग्रहों ने उन्हें सशक्त संस्मरण लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

'अतीत के चलचित्र' नाम संग्रह मे रामा, अलोपी, घीसा तथा बदलू नायक प्रधान और बिन्दी, विट्टो, सबिया, रधिया तथा लक्ष्मीं नायिका प्रधान चित्र हैं। इसमें उनके भोलें और सीधें–साधे जीवन का परिचय है। 'स्मृति की रेखायें' में भक्तिन, चीनी फेरीवाला, दो कुली, मुन्नी की माई, ठकुरीबाबा, धोविन और गुगियॉ के रेखाचित्र है तो 'पथ के साथी' में मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, निराला, प्रसाद, पन्त आदि पर आधारित संस्मरण हैं। 'मेरा परिवार में नीलकंठ, गिल्लू , सोना, दुर्मख, गौरा, निक्की, रोजी और रानी शीर्षिकों से क्मशः मोर, गिलहरी, हिरनी , खरगोश, गाय, कुत्ता, नेवला, कुतियॉ, घोड़ी आदि पर आधारित रेखा चित्र है। 'मेरा परिवार' नामक संग्रह लेखिका का पशु पक्षियों से आत्मीयता और प्रेम दर्शाता है।

'श्रृखला की कड़िया' महादेवी वर्मा के निबन्धों का महत्वपूर्ण संग्रह है। इस संग्रह के निबन्धों में उन्होंने भारतीय नारी की विषम परिस्थितियो को अनेक दृष्टि विन्दुओं से देखने का प्रयास किया है। इस

बारे मे उनका स्वय का कथन है– "अन्याय के प्रति मे स्वभाव से असहिष्णु हूँ अत. इन निबन्धों में उग्रता की गन्ध स्वाभाविक है। परन्तु ध्वस के लिए ध्वस के सिद्धान्त मे मेरा कभी विश्वास नहीं रहा। मै तो सृजन के उन प्रकाश तत्वो के प्रति ष्ठिावान हूँ, जिनकी उपस्थित में विकृति अंधकार के समान विलीन हो जाती है। जब तक प्रकृति व्यक्त नही होती तब तक विकृति के ध्वंस मे अपनी शक्तियों को उलझाा देना वैसा ही है जैसा प्रकाश के आभाव में अधेंरे को दूध से धोकर सफेद करने का प्रयास। वास्तव मे अंधकार स्वय कुछ न होकर आलेक का आमाव है, इसी से तो छोटा सा छोटा दीपक भी उसकी सघनता नष्ट कर देने में समर्थ है।" [1]

स्त्री– देह की राजनीति से देश की राजनीति तक– यह मृणाल पाण्डेय का निबन्ध सग्रह है। इसका प्रकाशन 1987 में हुआ था। इसमें सकलित निबन्धो में स्त्री और सर्वहारा वर्ग की समस्याओं को उठाया गया है। 'स्त्री : देह की राजनीति से देश की राजनीति तक' की भूमिका में लिखा है "दुनियॉ भर में सर्वहारा वर्ग का अधिंकाश हिस्सा स्त्रियों और बच्चों का हीं है अत. उसकी परख किये विना विश्व में राजनैतिक, आर्थिक या समाजशास्त्रीय किसी भी क्षेत्र के असंतुलन और विषमताओं का व्यौरा नहीं बिठाया जा सकेंगा। देहनीति से राजनीति तक उलझे नारी मुक्ति के प्रश्नों की पडताल में मृणल पाण्डेय इतिहास, धर्म दर्शन, साहित्य समाज, शिक्षा, अर्थ व्यवस्था, कानून और राजनीति को राष्ट्रीय और अर्न्तराष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखती समझती और परखती है। स्त्री–पुरूष के बीच विषम असंतुलन की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक आर्थिक और पारम्परिक

---

[1] 'श्रृखला की कडियॉ' – महादेवी वर्मा , 'अपनी बात' शीर्षक से

पृष्ठभूमि और उनके प्रकाश मे समसामयिक समस्याओ और सत्ता नीतियो का तार्किक विवेचन करते ये लेख औरतों के आक्रोश और विरोध को एक इमानदार अभिव्यक्ति ही नही, सामाजिक सोच की एक नई दिशा भी देते है।" भूमिका में आगे उल्लेख है–" स्त्रियों की स्थिति की मार्फत हमें पितृ सत्तात्मक परम्परा, जातिवाद, धर्माधता, उपनिवेशवाद और वर्ग भेद– सबकी अधिक गहरी और ऐतिहासिक समझ मिलने लगती है। नारीवाद में विश्व भर मे विश्व भर के प्रबुद्ध और सवेदनशील चिंतको की रूचि की यही वजह है।' स्वंय मृणल पाण्डेय को पूरे बीस बरस लगे हैं सदियों से चले आ रहे, पीढ़ी दर पीढी लागू एक पेचीदा सत्ता तंत्र की सही ताकत समझने मे और यह स्वीकार (सिर्फ) इतिहास समाजशास्त्र या अर्थशास्त्र के आंकडों से नही आया।"[1]

'परिधि पर स्त्री'

यह मृणाल पाण्डेय के विचारोंत्तेजक निबन्धों का दूसरा संग्रह है। यह 1996 मे प्रकाशित हुआ है। इसमें लेखिका ने शोषित प्रताडित ग्रामीण शहरी कामकाजी महिलाओ के दुःख–दर्द को प्रभावशाली ढंग से रेखाकित किया है, साथ ही उनके कल्याण के लिए मानवीय दृष्टि विकसित करने की भी कोशिश की है। पुस्तक मे नारीवाद से जुड़ी विभिन्न समस्यायों पर बेवाकी से प्रकाश डाला गया है।

स्त्री सम्बन्धी सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक पेचीदा प्रश्नों पर हिन्दी में लिखकर सचमुच मृणालपाण्डेय महत्वपूर्ण ही नहीं , उल्लेखनीय और सार्थक जमीन को जीवन दे रही हैं। 'सभी भारतीय स्त्रियों के लिए एक बेहतर विकल्प' की तलाश और संघर्ष में 'निर्ममता से

---

[1] (स्त्री–देह की राजनीति से देश की राजनीतितक तक पृ 49)

हर 'झूठ का पर्दाफाश' कर लेखिका ने परिधि पर गुम सुम खड़ी स्त्री को जो सवाल शब्द और समझ के शास्त्र और शस्त्र दिये हैं, वे निःसंदेह उनके चेतन अवचेतन को कही गहरे तक आन्दोलित करेगे।

दुर्गद्वार पर दस्तक–

'दुर्ग द्वार पर दस्तक' (1997) कात्यायनी के लेखों– टिप्पणियों का सकलन हैं। नारी मुक्ति के सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक पक्षों पर केन्द्रित लेखो के पीछे एक सुनिश्चित इतिहास बोध भी है और 'सवेदनशील कवि का अहसास भी। इन लेखो मे कात्यायनी की चिन्ता का मूल विषय है पूजी पर पुत्राधिकार के कारण साम्रज्यवादी पूँजीपत्रो द्वारा स्त्री की श्रम और शरीर का शोषण–उत्पीड़न। पूंजीवादी परिवार समाज में गुलामी के विरोध और नारी मुक्ति आन्दोलन को दबाने भटकाने के लिए पितृसत्ता द्वारा लागू दमनकारी खतरनाक योजनाओं–परियोजनाओं पर गभीर विचार–विमर्श करती यह पुस्तक सिर्फ एक दस्तक नहीं बल्कि चुपचाप 'बारूदी सुरंग' विछाना है।

अपने लेखों में इन्होंने कहा है कि विवाह–संस्था में पिता–पुत्र और पति का वर्चस्व ही स्त्री को 'घरेलू गुलाम' बनाता है। आज दुनिया की 98 % सम्पत्ति पर पुरूषों का अधिकार हैं, क्योंकि वह पीढ़ी दर पीढ़ी उसे उत्तराधिकार में मिलती रही है और आगे भी मिलती रहेगी। जब तक पूँजी पर पुत्राधिकार वना रहेगा, तब तक स्त्रियों की मुक्ति, अस्मिता, स्वतन्त्र पहचान समानाधिकार, समान न्याय, मानवीय गरिमा और सम्मान का सपना साकार होना असमव है।

'यौन उत्पीड़न और जनवाद' पर वहस में कुछ मुद्दे उठाकर कात्यायनी राजेन्द्र यादव के लेख और शिवमूर्ति की कहानी 'तिरिया चरित्र' पर प्रभावशाली ढंग से प्रतिबाद करती हैं। कात्यायनी नारी मुक्ति

आन्दोलन को लेकर अत्यन्त महत्वपूर्ण सवाल उठाती हैं। इस दिशा मे दोनो लम्बे लेख इस पुस्तक की सार सामग्री है।

स्त्री का समय–क्षमा शर्मा

"स्त्री का समय(1998) अपने समय का स्त्री का घोषणा प्त्र है जिसमे कहा गया है कि– 'यह मेरा शरीर है इसके बारे में फैसला करने का अधिकार भी मुझे ही होना चाहिए। 'मगर पितृसत्ता समझाती है'– महिलाये घरो मे जाकर (रहकर) बच्चे पाले क्योकि मातृत्व से बडा कोई सुख नही है।"

'स्त्री का समय' में समय–समय पर लिखें गये अठ्ठाइस लेख और टिप्पणियॉ शामिल हैं। यह सब कभी बहुत आक्रोश तो कभी बहुत दु.ख मे लिखा गया है। स्त्रियो के सवालों से जूझते, ये लेख बेहद जटिल और गंभीर मुद्दो पर विचारणीय बहस हैं। तीसरी दुनिया के महानगरीय मध्यवर्ग की एक सुशिक्षित स्वावलबी और चेतना सम्पन्न स्त्री द्वारा बदलती स्त्री छवि को देखने की यह कोशिश अनेक अन्तर्विरोधों और विसंगतियों के बावजूद एक महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है।

प्रथमलेख 'वह लिखेंगी अपना इतिहास' में क्षमा शर्मा ने लिखा है– "आजादी के बाद हम देखते है कि सरकारों की तरफ से स्त्रीं और पुरूष के लैंगिक भेद को स्वीकार नहीं किया गया....। हमारे नेताओं ने सम्पत्ति में स्त्रियों के कानूनी अधिकार की बात पर स्त्रियों का कितना भला किया, यह बात हम उन विधवाओं की दशा देखकर जान सकते हैं जिन्हें या तो सती कर दिया जाता था या भिक्षुणी बना दिया जाता था या जीवन भर वे पूरे परिवार की गुलामी करने और उफ न करने के लिए मजबूर होती थी।"

इसी प्रकार 'डबल मोर्चा' मे कहा गया है कि अभी हाल तक के सम्पति–कानून गवाह है जहॉ विधवा स्त्री को अपने बेटों की इजाजत के बिना अपने पति की सम्पत्ति तक को बेचने का अधिकार नही था।

एक अन्य लेख 'बढ़रही है बाल–वेश्यावृत्ति' में क्षमा शर्मा का कहना है कि, भारत मे वेश्यावृत्ति सम्बन्धी कानून बेहद ढ़ीले हैं। लोग इन्हे आसानी से तोड देते हैं उन्हे सजा भी नही मिलती। 'नारी तुम केवल श्रद्धा नही हो' मे लिखा है मुझे हमेशा ऐसी स्त्रियॉ फैसीनेट करती रही हैं जिन्होने किसी न किसी रूप मे समाज को चुनौती दी है। जो डरती नही, जो दबती नही, जो हर कानून, हर मार्यादा को चुनौती दे सकती हैं।

यह पुस्तक अपने समय की स्त्री के सवालों से उलझती है। सोचती है। समझने और समझाने की पूरी ईमानदारी से कोशिश करती है। 'स्त्री का समय' वर्तमान मे तर्क–विर्तक का समय है और बीच–बहस में सार्थक हस्तक्षेप भी।

<u>नारी प्रश्न–</u>

सरला माहेश्वरी की पुस्तक 'नारी प्रश्न' के बाबन पृष्ठों के लम्बे लेख मे 'परिवार निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति से लेकर 'उत्तर आधुनिकतावादी विचारकों तक की अत्यन्त आलोचनात्मक दृष्टि से जॉच परख की गयी है। इसमें चवालिस पृष्ठों का अंग्रेजी परिशिष्ट है। शेष पृष्ठों में अधिकांश लेखिका द्वारा राज्यसभा में दिये वक्तव्य या भाषणों पर आधारित लेख है। नारी जीवन से जुडे कई जरूरी सामाजिक प्रश्नों पर ही नहीं आर्थिक, वैधानिक और राजनैतिक प्रश्नों पर भी गम्भीरता से रोशनी डालने का प्रयास किया गया है।

सक्षेंप में नारी प्रश्न यह है कि क्या सचमुच नारीवाद की सम्पूर्ण विचारधारा में किसी ऐसे नयी सोच का दिग्दर्शन होता है जो

दुनिया की रूपान्तरण की एक समग्र दृष्टि प्रदान करता है। या यह केवल ऐसा विचार मात्र है जिसमे सामाजिक यथार्थ की अनेक विसगतियो के सकेत तो मिलते है, लेकिन उनसे उबरने का कोई नया रास्ता दिखाने की बजाय अपनी अतिम परिणति मे स्वंय उन्ही विसगतियो का एक हिस्सा बन कर रह जाता है।" (नारी प्रश्न–13) इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में लेखिका नारीवादी विमर्श और मार्क्सवादी सिद्धान्तो पर सूक्ष्मता से सोच विचार करती है और अन्ततः इस निष्कर्ष पर पहुॅचती है कि मार्क्सवादी और समाजवादी नारीबाद भी इस बात को मानने लगा है कि नारियों के उत्पीडन की समस्या का कोई सरल समाधान मुमकिन नही।"

कुल मिलाकर 'नारी प्रश्न' नई चुनौतियॉ, समझने और रेखाकित करने का निष्ठापूर्ण प्रयास है।

'चुकते नहीं सवाल' (निबन्ध संग्रह) मृदुला गर्ग

मृदुला गर्ग की यह किताब 'चुकते नहीं सवाल' लम्बे अन्तराल मे बहुत से मुद्दो पर लिखे निबन्धों का संग्रह है। पुस्तक के आवरण से लगता है कि इसमे मृदुलागर्ग ने 'नारीवाद' की नई परिभाषा गढ़ी है जिसके जरिये वह 'प्रखर महिला प्रवक्ता' के रूप में सामने आती हैं।

कुछ समय से दलितों और स्त्रियों की तरफ से साहित्य में जो सवाल खडे किये गये हैं उन्होने साहित्य में काफी वेचैनी पैदा की है और इस घटना में मृदुला गर्ग की भूमिका भी उल्लेखनीय है। इस किताब में कई तरह से लेखिका ने इस बात की पड़ताल की है कि स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखे गये अधिकाशं पुरूषों के लेखन में कहॉ चूक होती है आरै स्त्री को केन्द्र में रखकर लेखिकाओं ने जो रचनाएं लिखीं उनमें कौन से जरूरी सवाल उठाये गये हैं। अपने इस विमर्श में मृदुला गर्ग ने सभी लेखको को खारिज नहीं किया है बल्कि स्त्री–विमर्श के सही कोण की

पहचान भी उनमे की है। लेखिका ने राजेन्द्र यादव, योगेश गुप्त और व्रजेश्वर मदान की कहानियो का उल्लेख इस नजर से किया है कि उनके लेखन मे स्त्री–विमर्श के सकारात्मक पहलू देखे जा सकते है। मृदुला जी ने यह बात बडे विश्वसनीय तर्कों के साथ कही है कि लेखक अक्सर जब स्त्री के पक्ष मे होते है तो केवल उनके यौन सम्बन्धों तक ही सीमित रहते है। स्त्री जीवन के आर्थिक–सामाजिक दबाव और तनाव अक्सर उनसे गायब रहते है। जो सवाल लेखिका ने उठाया है उसके परिप्रेक्ष्य मे समूची मानव सभ्यता को लेकर एक विराट इतिहास दर्शन के सूत्र खोजे जा सकते है।

'चुकते नही सवाल' में उनकी मुख्य चिन्ता साहित्य में स्त्री को लेकर होने वाले अन्याय जिनमे लेखकों की पक्षधरता और अक्सर स्त्री को सही न समझने की शिकायत आदि को लेकर है। इसमे लगभग आधी जगह उनकी यही चिन्ता व्यक्त हुई है। 'साहित्य में स्त्री छवि' शीर्षक निबन्ध में महाभारत के कुछ प्रसंगों का जिक किया है। उन्हें द्रौपती की चुनौती पसद आयी है। एक बहुत महत्वपूर्ण वक्तव्य मृदुला गर्ग ने अपने लेख 'कहानी में नारी चेतना' शीर्षक मे दिया है, 'इस दशक में ऐसी बहुत सी कहानियॉ लिखी गयी हैं जिनमें स्त्री पात्राओं ने वे मुखौटे उतार फेंके है जो मर्द मानसिकता ने उन्हें पहनाए थे। यह एक कारगर और सार्थक भाष्य है जो निश्चय ही आलोचना का एक पुख्ता आधार बनता है।

ममता कालिया द्वारा लिखा गया 'संस्मरण', 'मैनपुरी का शहजादा' इसमें उन्होने अपने और कथाकार कमलेश्वर के सम्बन्धों का विवरण, बम्बई की भेंट–मुलाकातों का वर्णन है।

इसी प्रकार शिवानी द्वारा रचित संस्मरणात्मक रेखाचित्र 'दरीचा' है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि बीसवी शताब्दी के शुरू मे जहॉ स्त्रियो ने साहित्य रचना मे रूचि नही दिखाई वही बाद के दशको मे अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करायी। और साहित्य मे उपन्यास कहानी, कविता के साथ–साथ निबन्ध, लेख और सस्मरण, रेखाचित्र आदि विधाओ मे भी महत्वपूर्ण भागीदारी निभाई।

अध्याय–3

बीसवी शताब्दी का अन्तिम दशक और हिन्दी उपन्यास

हमारे ज्यादातर साहित्य के कथानक और मूल्य पश्चिम और वहॉ की जीवन पद्धति से आयात किये जा रहे है। जिस हद तक हमारा जीवन पश्चिम की जीवन पद्धति से प्रभावित हुआ है उससे कहीं उधिक उसका असर हमारे साहित्य पर है। कुछ ऐसा दबदबा है पश्चिम के विचार और पद्धति का कि प्रेमचद जैसे किसी खालिस और दृष्टि सम्पन्न भारतीय उपन्यासकार की कल्पना आज नहीं की जा सकती।

नये उपन्यास अपने छोटे–छोटे कलेवरों में ही सही जीवन के यथार्थ का गतिशील और जीवंत आइना होते है। इनमें सामाजिक जीवन का यथार्थ, सघर्ष और अत्याचार और अनाचार सन्निहित है।

शताब्दी के अन्तिम दो दशकों के उपन्यास आम आदमी के साथ यात्रा करते हुए चलते हैं। और हमारी रोजमर्रा की जिंदगी की इतनी छोटी–छोटी चीजों में दिलचस्पी लेते हैं कि हैरानी होती है कि अच्छा, यह सब भी उपन्यास हो सकता है, यह सब भी उपन्यास में आ सकता है। सच तो यह है कि आदमी का छोटे से छोटा सुख–दु.ख इन उपन्यासों में बगैर किसी झिझक के चला आता है और कई बार तो मुख्य कथानक के बजाए ये छोटे–छोटे प्रसंग कहीं ज्यादा गहरी अर्थ व्यंजनाएं कर जाते हैं। 'कलिकथा' के किशोर बाबू को याद करें तो, बाईपास सर्जरी के बाद वे एक बदले हुए आदमी हैं। सारी दुनिया की नजरों में पागल या 'अधपागल'। यहॉ तक कि परिवार के लोग भी उन्हें इन्ही हैरत और दु:खभरी नजरों से देखते हैं। यह अलग बात है कि किशोर बाबू को लगता है, पागल तो वो तब थे, जब वे एक सफल आदमी समझे जाते थें। अब तो वो रास्ते पर आ गये हैं। और फिर हम देखते हैं कि, रास्ते पर आने के बाद, किशोर बाबू अजीबो गरीब बात सोचते हैं, जिससे उनकी

पत्नी तक को शार्मिंदगी उठानी पडती है। मसलन यह कि बाजार मे औरतो के लिए मूत्रालय क्यो नही है? वे जरूरत पडने पर कहॉ जाती होगी? एक छोटा सा सवाल, बहुत लोगो को याद रह गया होगा, क्योकिं यह एक छोटा सा सवाल स्त्री के बारे मे हमारे समाज की लापरवाह सोच की पोल खोल देता है। ऐसे ही 'निन्यानवे' की बहुत सी बातें राजनीतिक अवसद वाद है दगा है, आपातकाल की यन्त्रणा है, ये सब याद आते हैं तो इसके साथ ही एक छोटी बच्ची भी नही भूलती जो कच्चे ऑगन मे एक तरफ हाथ मे मिट्‌टी लिए खडी है– 'अम्मा हाथ धुंला दो', 'निन्यानबे' कस्बाई जीवन का उपन्यास है। उस पर कस्वाई जीवन का होना जितना इस और इस जैसे कुछ प्रसगो से खुलता है, उतना बडे–बड़े राजनीतिक घटनाक्रमो से नही। इसीक्रम में शशिप्रभा शास्त्री के उपन्यास 'हरदिन के इतिहास' की याद आती है। यह एक मामूली सा उपन्यास है जो खास प्रभावित नहीं करता, पर इसमे एक निहायत गॅवई स्त्री है, जो पहली बार फ्रिज को देखती है, तो हैरानी से उसका मुॅख खुला कर खुला रह जाता है, वह बार–बार उसे ठडी आलमारी कहकर बुलाती है। उपन्यास में कोई प्रमुख पात्र नहीं है परन्तु वह अपने उपन्यास सवाद से इस कदर उभरती है कि सामने एक त्रित्र सा बन जाता है।

अन्तिम दशक में जहॉ ऐसे साधारण विषयों पर उपन्यास लिखें गये वही गंभीर विषयो पर भी बहुत सारे उपन्यास लिखे गयें। 'उत्तर आधुनिकता' कथा–साहित्य में इसी दशक की देन है। अन्तिम दशक के उपन्यास उत्तर आधुनिकता से भी प्रमाणित हैं जिस समाज में अन्याय, अत्याचार, अनाचार और शोषण का बोल–बाला हो वहॉ हत्या एक बहुत ही मामूली समस्या है। इन भयावह स्थितियों में नये उपन्यास ने जन–मानस को पुनर्जागरण की ओर ले जाने का जो बीड़ा उठाया है वह काफी चुनौतीपूर्ण है। आज के हिन्दी उपन्यास का मकसद केवल मनोरंजन

हर्गिज नही है बल्कि लोगो को जागरूक बनाने के लिए उनके सोये हुए मन को जगाने की कोशिश है।

इस दशक के उपन्यासो ने जिस पक्ष को लेकर अपनी आवाज बुलन्द की है उस पर ध्यान देने का मतलब है अनेक ऐसी नंगी सच्चाइयों के मुखातिब होना जिनसे देश के कर्णधार जनसामान्य लोगों का सामना नही होने देना चाहते। देश के जिस स्वरूप को व्याज्य सा मान लिया गया है और उसमे परिवर्तन की पूरी सुगबुहाहट देखने को मिल रही है, यह उपलब्धि है इस दशक के उपन्यासो की। अब यह सवाल यदि पुनः बुद्धिजीवी वर्ग मे उभर रहा है, बाद–विवाद का विषय बन रहा है तो यही आज के उपन्यासकरो का श्रेय है। यह स्थिति पैदा करने के लिए हिन्दी उपन्यास को जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, मोहनराकेश तथा भगवतीचरण वर्मा जैसों के बीच से मुलायम और लिसलिसे कॉटों भरा सफर तय करना पडा है।

व्यवस्था से जुडे श्रीकान्त वर्मा जैसे अनेक लेखको ने कई बार अनेक मंत्रों से यह सवाल किया है कि नये लेखकों के द्वारा उठाये गये ये मुद्दे क्या अतिशयोक्तिपूर्ण हैं? क्या इससे देश की छवि बाहर के देशो में सचमुच नही बिगड रही है? प्रगति के नाम पर आजादी के बाद क्या कुछ भी नही किया गया और क्या यह निराशाबाद हमें हमेशा हमेशा के लिए अपने में दफन नही कर लेगा।

प्रेमचन्द के बाद यदि मुर्दा बनी स्थिति को गहराई से देखने और समझकर कथाबद्व करने की रचनात्मक कोशिश की जा रही है तो यह लगता है कि इन छोटे–बड़े नये उपन्यासों के माध्यम से यहॉ इन उपन्यासकारों द्वारा इस समस्याओं का कोई फार्मूलाबद्व समाधान खोज निकालने का प्रश्न नही है। क्योंकि इसे तो पूरे समाज को खोजना है।

निश्चय ही अन्तिम दशक के उपन्यासो के माध्यम से विचार की प्रकिया मे तेजी आयी है और यह प्रकिया उपन्यास रचना जैसे लोकप्रिय माध्यम से बन रही है जो सबसे महत्वपूर्ण बात है।

आज सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न सामाजिक प्रासगिकता का भी है। जो रचनात्मक कर्म उपन्यास जैसी विधा को स्वतन्त्रता के तत्काल बाद करना चाहिये था वह कर्म आज के लेखक को अब शुरू करना पड़ रहा है।

जिदगी के बदलाव के आधार पर साहित्य और कला मे बदलाव एक शाश्वत सत्य है। अत. हिन्दी उपन्यास में मनोरजन पूर्ण किस्सागोई और 'मानवताबाद' के नाम पर जो मनोवैज्ञानिक शार्टकट और छिछली एकरूपता सी बन गयी थी। वह अब अपने बदलाव के दौर में है।

इन उपन्यासो से यह पता चलता है कि भारतीय जन–समाज कैसे–कैसे त्रासदी से गुजर रहा है। वैसे भी जब समाज अड़ियल रूढिवादी व्यवस्थाओ के बोझ को सहते–सहते पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, तब एक विस्फोट की सीमा आ जाती है। मनुष्य में आदिकाल से ही समूह बनाकर सतुलित ढंग से जीने का आग्रह रहा है, जीवन का अधिक से अधिक सुगम और मोहक बनाकर जीने का आग्रह।

इन उपन्यासो की कहानी में कई–कई अर्थ छिपे पड़े हैं। इनके छोटे–छोटे प्रसगो से जीवन के कई बडे सच प्रकट हो जाते हैं और यही है अन्तिम दशक के उपन्यास की सबसे बड़ी पहचान।

यों मोटे तौर से शताब्दी के अन्त के उपन्यास अपनी 'असाधारणता' खो चुके उपन्यास हैं लिहाजा वे साधारण में हीं असाधारणत्व की प्रतिष्ठा करते हैं। एक तरह से ये 'नायकत्व के विसर्जन' के उपन्यास हैं। और नायक कोई है तो 'समय', जो अजीब त्रासद स्थितियॉ और विडम्बनाएं रचता है और अक्सर हमें वहॉ उपस्थित कर

देता है, जहाँ हम होना नही चाहते और जहाँ हमे होना चाहिये, वहाँ हम 'लापता' होते है। लिहाजा 'दास्तान–ए–लापता' जैसे आम आदमी के साधारणत्व से जुडे उपन्यास आज की औपन्यासिक पृष्ठभूमि के केन्द्र मे नजर आते है। हालत यह है कि गिरिराज किशोर महात्मा गाँधी पर उपन्यास लिखते है 'पहला गिरमिटिया' तो उन्हें उनके 'महात्मा पक्ष' के बजाय उनके 'मोहनदास–पक्ष' पर लिखना ही ज्यादा बाजिब लगा। क्योंकि महात्मा गाँधी तो बडे आदमी है, कछ–कुछ मानवेतर, लेकन मोहनदास हमारी आपकी तरह एक मामूली आदमी है, जिसके भीतर छोटी–छोटी कमजोरियाँ और खासियतें छोटे–बडे सुख–दु.ख और राग–विराग है। हो सकता है, महात्मा गाँधी पर लिखा उपन्यास हमें उतना अपना न लगता, जिसमे मोहनदास के महात्मा गाँधी बनने से पहले की कथा है।

जनता यानी लोग। लोग यानी जनता।..................................सदी के अंत के साहित्य खासकर उपन्यासों के ये 'बीज शब्द' है। दिलचस्प बात यह है कि जैसे–जैसे उत्तर आधुनिकता के नाम पर तमाम अयातित और दिखावटी चीजो को रोकनें की बहुत बड़बोली और हास्यास्पद कोशिशें और उद्घोषणाये की जाती रही हैं, वैसे–वैसे लोग यानी जनता– ये शब्द कही ज्यादा प्रासगिक और अर्थपूर्ण और जादुई बनकर सामने आते जा रहे हैं और यह जितना उपन्यास में हुआ है, उतना साहित्य की शायद ही किसी और विधा में।

हलाँकि जनता का रूप– यहाँ साफ कर देना जरूरी है– छठें–सावते दशक की झूठी 'कान्ति–मुद्राओं' वाली किताबी जनता जैसा नही, जब कि हर हाथ में जबरन बन्दूक और 'लाल किताब थमा दी जाती थी और असलियत कुछ और थी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जनता माने लोग हमारे दूर–पास के लोग। दु:ख, गुस्से, मुश्किलों और शिकायतो अपनी बड़ी–बड़ी सम्भावनाओं लेकिन अपनी बहुत–छोटी छोटी

कमजोरियॉ और लाचारी वाले लोग। यही लोग वेशक और बेझिझक हमारे उपन्यासों के सबसे बडे और उज्जवल खजाने हैं और यही वे लोग हैं जो दुर्वलताओ से भरे हैं मगर अजेय है और लेखन को अर्थ देते है।

इस दौर की एक खासियत यह भी है कि कथाभूमि मे तमाम ऊॅची–ऊॅची गद्दियों और मठो की परम प्रतिष्ठा के बावजूद, कम से कम उपन्यास लेखन की दृष्टि से यह एक मुक्त और पूर्वाग्रह–रहित दौर है, और सबको अपनी–अपनी तरह से अपनी अपनी–अपनी चाल और लयकारी के साथ यहॉ प्रवेश की छूट है। यो 'बिल्ले' और लेबल भी हैं और वे वही काम करते है जिस काम के लिए उन्हें बनाया जाता है, मगर उन्हे परे झटकने वाले हाथ भी हैं, ताकि एक उपन्यास की पहचान एक उपन्यास–यानी एक कृति के रूप में पहले हो–बाकी चीजे बाद में।

'पहला गिरमिटिया' की ही तरह कमलाकात त्रिपाठी का 'पाही घर' हो या 'बेदखल' या कामतानाथ का 'कालकथा' ये जनता की ऑष से देखे दिखाये गये स्वाधीनता संघर्ष या जनक्रान्ति की कथांए हैं। 'बेदखल' के किसान आन्दोलन के महानायक बाबा रामचन्द्र तो पूरी तरह जनता के आदमी हैं। रवीन्द्र वर्मा का 'निन्यानबे' बुन्देलखंड की जनता की कथा है–आजादी के बाद वहॉ की जनता, वहॉ के लोगो मे आए बदलाव की कथा। ज्ञान चतुर्वेदी के 'बारामासी' में यही कथा कुछ अलग से व्यंगात्मक टोन में आती है, जिसमें कही कही विद्रूपता के बावजूद कस्बाई जीवन रस का कुछ अलग सा आस्वाद है। एक लीक पर कवायद करते–करते तमाम–तमाम ढर्रे के उपन्यासों की बीच 'निन्यानबे' और 'बारामासी' जैसे उपन्यास अपनी जीवन्तता और भाषा की ताजगी के कारण अलग से पहचान में आ जाने वाले उपन्यास हैं। द्रोण वीर कोहली के 'वाहकैम्प' में देश विभाजन की पीड़ा है और खासकर पंजाब का दर्द, जो अपनी पूरी प्रमाणिकता के साथ उभरा है। खास बात यह है, यह एक किशोर की

ऑख से देखी गयी विभाजन की पीडा है। जो उसके मन पर आडी–तिरछी रेखाओ की शक्ल मे अकित होती है। शताब्दी के अन्त मे एक ऐसा उपन्यास आया जिसने विभाजन के दर्द और इतिहास के उन रक्तरजित पन्नो को फिर से हमारी ऑखो के आगे ताजा कर दिया है। हलॉकि द्रोणवीर कोहली की खासियत यह है कि वे ऐसे प्रसग को भावावेग या उत्तेजना से बचाते हुए, एक बैचारिक सुथरेपन, समझदारी और साफ 'विजम' के साथ उठाते है। फिर एक खास बात यह भी है कि 'वाह कैंप' विभाजन की राजनीति को कही कही छूता तो है, पर उपन्यासकार का पूरा ध्यान उस राजनीति के कारण सिर पर दुःख का पहाड टूटने से, दर–दर भटक रही जनता पर ही है। यानी 'वाह कैंप' का अगर कोई नायक है तो वह विशाल जन समुदाय ही जिसने अपने सिर पर इतिहास का यह मार–काट और तकलीफो भरा महानाटक झेला था।

यही बात एक भिन्न सन्दर्भ मे भगवान दास मोरवाल के 'काला पहाड' विद्यासागर नौटियाल के 'भीम अकेला', 'सूरज सबका है', वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और ऐसे ही और तमाम उपन्यासों के बारे में कही जा सकती है। मोरवाल का 'काला–पहाड' तो पूरी तरह मेवात की जनता की कथा है–वहा के लोगों की साझी संस्कृति और अयोध्या विवाद के बाद उसमें आ गयी 'दरार' की कथा है। एक युवा कथाकार का यह पहला उपन्यास इतना दम–खम वाला है कि कहा जा सकता है कि हमारी शताब्दी का आखिरी दशक जिन उपन्यासों के कारण जाना जायेगा, उनमें निस्संदेह 'काला पहाड' भी है। इसी तरह वरिष्ठ कथाकार विद्यासागर नौटियाल का एक छोटा सा मार्मिक उपन्यास 'भीम अकेला' पहाड़ की जनता के दैन्य और गरीबी की कथा है। इन्हीं का एक और उपन्यास 'सूरज सबका है' इतिहास और वर्तमान के दर्द और जीवन का सामना करने के पहाड़ी जीवन को एक सीधी, लेकिन असरदार कथा में ढ़ालकर

प्रस्तुत करता है। युवा उपन्यासकार वीरेन्द्र जैन का एक अत्यन्त प्रभावशाली उपन्यास 'डूब' बॉध बनने से अक्रान्त जनता के दैन्य और गरीबी की कथा है– ऐसे लोग जिन्हे सिर्फ सरकारी दावों के कपट के भरोसे छोड दिया गया है। यहॉ तक कि 'अपने–अपने कोणार्क' जो चन्द्रकान्ता का एक प्रेम कथात्मक उपन्यास है वह भी सिर्फ कुनी की कथा या कुनी का उपन्यास नही, उडीसा के एक खास तरह की मर्यादाओ मे बॅधे एक रक्षणशील परिवार की स्वाभिमानी बेटी कुनी की कथा है , जो मर्यादा की इन भारी–भरकस अर्गलाओ के बीच किस मुश्किल से अपने लिए सॉस लेने की थोडी जगह बचाती है। यानी यह भी अकेली कुनी की कथा नही, उडीसा की एक खास तरह की जमीन वाली कुनी की कथा है। इसमे से उडीसा निकाल दीजिये, पुरी और कोणार्क निकल दीजिये – यह एक मामूली प्रेम कथा होकर रह जायेगी।

अन्तिम दशक की एक विशेषता यह भी है कि इस दशक मे पुरूप ने स्त्री को केन्द्र मे रखकर उपन्यास लिखा। उनकी समस्याओं और उनके सघर्ष को भी अपने उपन्यास मे स्थान दिया। इस दशक में उपन्यासो में बहुत बदलाव भी आया है। उत्तर आधुनिकता इसी दशक की देन है।

(क) पुरूषों द्वारा लिखे हुए

शताब्दी के आखिरी दशक में जिन बड़े कथाकारों की रचनाधर्मिता सक्रिय रहीं, उनमें जैनेन्द्र कुमार और अमृतलाल नागर उल्लेखनीय हैं इसमें जैनेन्द्र कुमार का 'दशार्क' तो खासा चर्चित रहा। अमृतलाल नागर के 'करवट' और 'पीढ़ियों' की ओर भी बहुतों का ध्यान गया। जैनेन्द्र का 'दशार्क' एक सुन्दर चित्ताकर्षक और समझदार युंवती

रजना की कहानी है, जिसे पति की अधिकार लिप्सा और पशुता तोडती है। रजना का गृहस्थ जीवन खडित हो जाता है और अपना सम्मानित पारिवारिक जीवन छोडकर रजना एक दूसरा रास्ता चुन लेती है, जिसे एक शब्द मे कहा जाय तो वह 'वेश्या' होना है। हलॉकि रजना जो कुछ है, उसे बताने मे भाषा शायद असमर्थ है।

इसीतरह अमृतलाल नागर के 'करवट' और 'पीढ़ियॉ' उपन्यास उनकी साहित्यिक यात्रा के आखिरी छोर के उपन्यास हैं। ये दोनो उपन्यास मिलकर एक श्रखला बनाते है और 'करवट' की कथा 'पीढ़ियॉ' मे जाकर अपना विकास पाती है। यह एक ही खत्री परिवार की कई पीढियो की कथा है, जिसका 1854 से लेकर 1902 तक का हिस्सा 'करवट' उपन्यास मे आया है और आगे की कथा 'पीढ़ियॉ' में चलती है।

कुछ बरस पहले छपा विष्णुप्रभाकर 'अर्धनारीश्वर' काफी चर्चित उपन्यास है और साहित्य अकादमी का पुरस्कार तो इसे मिला ही है। 'अर्धनारीश्वर' बलात्कार पर लिखा गया उपन्यास है उपन्यास की कथा नायिका सुमिता जो बलात्कार से पीडित औरतो की मानसिकता पर शोध कर रही है, अपने थीसिस के सिलसिले मे कई ऐसी औरतों से मिलती है। और उसे बलात्कार से पीडित हर वर्ग की स्त्रियो के अलग–अलग अनुभव और पीडा के एक नीले डरावने वृत्त से होकर गुजरना पड़ता है कई बार उसे लगता है कि वह सब सुनने और सह पाने की ताकत उसमें नही है बार–बार उसके भीतर कुछ उबलता है, बार–बार वह सहमकर छिटकती है पर हर बार अपनी सारी शिथिल चेतना को समेटकर फिर जुटती है। यह शोध उसके लिए वैसा नीरस और मुर्दा शोध नही है जैसा आजकल होता है। यह उसके लिए चुनौती है– जीवन की सबसे बड़ी सबसे कठोर चुनौती, जिसमें उसकी सारी शक्तियॉ पूजीभूत हैं। उसकी चेतना बार–बार एक ही विन्दु पर आकर घूमने लग जाती है– ऐसा क्यों होता है? सभ्य

समाज मे यह जगलीपन क्यो–किसलिए इसे वर्दाश्त किया जाता है? और ऐसे हालत मे नारी क्या करे? कैसे खुद को बचाए? बलात्कार करने वाला तो छूट जाता है, लेकिन वही स्त्री जिसके साथ अत्याचार होता है, क्यों सबकी ऑखो मे चुभने लग जाती है? दोहरी नैतिकता का यह कैसा डरावना सत्य है? यही सवाल है जो सुमिता को यहॉ से वहॉ भटका रहा है। वह खोज–खोज कर उन औरतो का पता लगाती है, जो जंगली दरिंदो की हवस का शिकार हो चुकी हैं,उनसे इटरव्यू लेती है। उन्हें कमवार दर्ज करती है और उन सीधे और सख्त निष्कर्षो तक पहुचती है, जहॉ से स्त्री मुक्ति के रास्ते निकलते है यानी एक औरत के चौंकाने वाले दुःसाहस का नाम है सुमिता। मगर सुमिता ऐसी क्यों है, इसकी भी एक कहानी है– वड़ी ही त्रासद कहानी – और कहा जाय तो उपन्यास का पूरा ढॉचा ही उस पर टिका है।

निर्मल वर्मा हिन्दी के उन बड़े लेखको में से एक है, जिनका लिखने और चीजों को देखने का एक खास ढंग है। उनका उपन्यास 'अन्तिम अरण्य' उन्हीं के खास रंग और ढग का उपन्यास है। हॉ अपने इस खास ढग को उन्होंने इस तरह का विस्तार दिया है। सच तो यह है कि निर्मल वर्मा के उपन्यासों मे 'अंतिम अरण्य' ही वह उपन्यास है, जो एक बडे उपन्यासकार के रूप में उन्हें प्रतिष्ठापित करता है।

'अंतिम अरण्य' की विशेषता यह है कि वह केवल आत्म विस्तार का ही उपन्यास नहीं, बल्कि एक मृत्यु से सीधे–सीधे साक्षात्कार का भी उपन्यास है। हिन्दी के उपन्यासों में मृत्यु का ऐसा साक्षात्कार दुर्लभ है। पत्नी दीवा की मृत्यु के बाद जीवन से बीतराग हो चुके मेहरा साहब का धीरे–धीरे एक एक कदम मौत की ओर बढ़ना कारूणिक तो है ही , परन्तु यह भी है कि इतनी सुन्दर मृत्यु भी कोई और नहीं हो सकती, जितनी सुन्दर मृत्यु 'अंतिम अरण्य' में मेहरा साहब पाते हैं। अगर इस

मृत्यु से तुलना करनी हो तो पूरे हिन्दी उपन्यास जगत मे सिर्फ एक उपन्यास है, देवेन्द्र सत्यार्थी का 'घोडा बादशाह' जिसके कथा नायक गगन जोशी, जो एक प्रसिद्ध चित्रकार है और एक अनौपचारिक किस्म का स्कूल चलाते है – शिष्य शिष्याओ से घिरे जोशी जी इसी तरह चित्र बनाते बनाते एक दिन मृत्यु के महासमुद्र में विलीन हो जाते है।

'अन्तिम अरण्य' में धीर गम्भीर मेहरा साहब और अपने चारों ओर खिलखिलाहटों की मोहिनी सी लुटाती दीवा के अलावा अगर कोई पात्र भीतर तक उतरकर अपनी उपस्थिति दर्ज करवा पाया है तो वह तिया है, जिसका दुःख भीतरी उजाड और उखडापन उपन्यासकार ने भी अपरिभाषित ही छोड दिया है, मानों उसे बॉधना उसे शब्दो में कह डालना उसके साथ अन्याय है और उसे छोटा कर देना है। पिता और पुत्री के बीच इस तरह के गहरे प्रेम और अप्रेम का द्वन्द हिन्दी उपन्यास में कम ही देखा जाता है। वैसे उपन्यास के सबसे कारूणिक पन्ने वे है, जब मेहरा साहब को (दीवा के चले जाने के बाद) हम इस तरह समान समेटते देखते है, जैसे उन्हें किसी लम्बे सफर पर जाना हो। फिर 'अंतिम अरण्य' सिर्फ' मृत्यु से आपका साक्षात्कार ही नही कराता, वह मृत्यु को सुन्दर प्रार्थना में बदल देता है, जिसके बाद मृत्यु कम से कम कोई भयानक चीज नहीं रह जाती। 'अंतिम अरण्य' के गद्य के बारें में यह निःसकोच कहा जा सकता है कि वह हिन्दी का सबसे अच्छा गद्य है।

निर्मल वर्मा के सामने रामदरश मिश्र और विवेकीराय खासे 'ग्रामीण' नजर आयेगें और जिंदगी की हलचलों जैसी हलचल में कुछ ज्यादा धॅसें हुए भी। रामदरश मिश्र वरिष्ठ पीढ़ी के उन उपन्यासकारों में से हैं जिन्हें प्रेमचन्द की परम्परा का सच्चा उत्तराधिकारी कहा जा सकता है। शताब्दी के आखिरी दौर में भी रामदरश मिश्र की सृजनधारा पूर्णतः गतिमान है और उन्होंने 'दूसराघर' 'बिना दरवाजों का मकान', 'थकी हुई

सुबह', और 'बीसबरस' जैसे उपन्यासों की रचना की। दूसरा घर उनके बडे और महत्वाकक्षी उपन्यासों मे से एक है और उनके लम्बे गुजरात प्रवास के अनुभव इसमें बड़े सच्चे और प्रमाणिक तौर पर आये है। 'थकी हुई सुबह', 'विना दरवाजे का मकान', और 'बीस बरस'' रामदरश मिश्र के अपेक्षाकृत छोटे उपन्यास है। इनमे 'थकी हुई सुबह' स्त्री से जुडे प्रश्नों को केन्द्र मे रखकर लिखा गया उपन्यास है उपन्यास की शुरूआत इस सूचना के साथ होती है कि 'उमा जी गुजर गयी' है। फिर उमा जी कौन थी? इस सवाल से होते हुए कथा नायिका लक्ष्मी की अपनी जिदगी के पन्ने खुलने लगते है इसलिए कि उमा जी उन्ही रामधन मिश्र की पत्नी थी, जिन्होंने कथानायिका को उस समय अवलंब और सहारा दिया था, जब वे पूरी तरह टूट चुकी थी। और फिर समय की एक तेज बाढ मे उमा जी पीछे छूट गयी और उनकी जगह आ गयी लक्ष्मी। उमा जी तड़फती रहती है और लक्ष्मी को भी ऐसा तो विल्कुल नहीं कि अपराधवोध न हों पर यह एक नया यथार्थ है और हाथ मे आयें सुख को वह छोडना नही चाहती । पूरे उपन्यास में लक्ष्मी की दुःख–दाह भरी जीवन यात्रा और तकलीफो के पन्ने फडफड़ाते रहते है। बीच–बीच मे उमा जी की तकलीफें भी आती है और इस तरह 'थकी हुई सुबह' एक साथ दो स्त्रियों के शोषण और तकलीफो की गाथा है। यानी एक शोषित स्त्री द्वारा दूसरी स्त्री का शोषण । लक्ष्मी के एक मर्मांतक अपराधबोध के सहारे ही इसे साधा जा सकता है।

रामदरश जी के एक और छोटे उपन्यास 'विना दरवाजे का मकान' में घरों मे काम करने वाली स्त्री दीपा के माध्यम से आज की महानगरीय जिदगी के यथार्थ को देखने की कोंशिश है। आम तौर से मध्यवर्गीय ऑख से निम्नवर्ग के पात्रो को उनकी करूण और असहाय जिंदगी के उतार–चढ़ाव और हाहाकार को देखा जाता रहा है, पर 'विना

दरवाजे का मकान' मे फ्रेम आफ रेफरेस एकाएक बदल गया है। और यह दीपा जो यह सब देखती है और कहती है, एक बहुत मजबूर और असहाय स्त्री है। अपने सम्पूर्ण स्त्री होने की इच्छाओ के बावजूद वह असहाय है, इसलिए उसका पति जो रिक्शा चलाता है, एक सड़क दुर्घटना मे घायल और लाचार होकर घर पर पडा है। उसकी रीढ की हड्डी अब बेकार हो चुकी है। उसके धाव सडने लगे हैं और उसके लिए अब जिन्दगी मे कुछ बाकी नही बचा है। पर रामदरश जी का उद्देश्य महज दीपा और उसके पति की लाचारी दर्शाना ही नही है, वे कुछ बडे कारणो तक जाते है। बिना दरवाजे के मकान' में रामदरश जी बगैर किसी नारे बाजी के बहुत हल्के संकेत में ये कह जाते है कि समाज में एक हिस्सा जब सड रहा हो तो दूसरा हिस्सा भी खुशहाल नहीं रह सकता ह। एक साधनो की कमी से सडता है तो दूसरा अपनी साधन सम्पन्नता से दूसरी तरह से सडने लगता है। दीपा लाचार है। दीपा जैसी मेहनत कश स्त्रियॉ लाचार है, मगर वे तमाम धनपशुओं से कहीं बेहतर भी है, क्योंकि वह अपने से बाहर निकलकर देखना, सोचना और जीना भी जानती हैं।

'बीस बरस' उनके महत्वाकाक्षी उपन्यासों 'पानी के प्राचीर' और 'जल टूटता हुआ' की परम्परा की ही एक कड़ी हैं जैसे वह गॉव जो 'जल टूटता हुआ' में छूट गया था 'बीस बरस' बाद उसका फिर से जायजा लिया जा रहा है। खास बात यह है कि इन बीस बरसों में जो कुछ बदला है, उसके प्रति रामदरश जी की दृष्टि बड़ी खुली और स्वस्थ है। यही ठीक है कि गॉव में अब पहले जैसी सरलता, आत्मीयता, रामरंग और उत्साह नहीं बचा, पहले जैसी दुःख कातरता नहीं बची। त्योहार और शादी व्याह के मौके पर पूरे गॉव के एक परिवार होने का बोध नहीं बचा। पर एक अच्छी बात यह है कि पहले की बहुत सी अशोभन चीजों और जो अंधविश्वास थे, वे अब चले गये। होली में कबीरा गाकर दूसरे की मॉ

बहनो को जबानी नगा करना बन्द हो गया। हरिजन टोले के लोग और स्त्रियॉ अब ज्यादा हिम्मत के साथ खुद पर हो रहे अन्यायों का प्रतिकार करते है। लेकिन सबसे बडा विकार जो गॉव मे आया और उपन्यास के कथानायक दामोदर जी को विचलित करता है, वह है–गॉव के नवयुवकों द्वारा शहर की भोडी नकल। आधुनिकता के नाम पर घिनौनी विकृतियॉ। क्या रूप ले रहा है गॉव? और फिर आत्मीयता के भीतर छिपा छल, मित्रता की आड मे चापलुसी....। और यह सब देखते हुए प्रख्यात पत्रकार दामोदर जी छुट्टियॉ बीच में ही खत्म करके दुःखी होकर वापस दिल्ली चले जाते है। जाहिर है बहुत भारी मन से लिखा है रामदरश जी ने यह उपन्यास। वे इसमें बहुत अधिक रमें नही, तो भी 'बीस बरस' में ऐसा बहुत कुछ है। जो रामदरश जी का इतने निकट से देखा जाना और भागा हुआ है कि हम उससे अनछुए नहीं रह सकते।

गिरिराज किशोर का 'पहला गिरमिटिया' सदी के अंत के उपन्यासों में से एक हैं इसके पहले इनका 'ढाई घर' काफी चर्चित रहा। पर 'पहला गिरमिटिया' में वे गॉधी के चरित्र के जरिये जिस उदात्त को छूॅ पातें हैं, वैसा उनके लेखन मे पहले कभी नहीं हुआ। 'पहला गिरमिटिया' कई वजहों से हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासो मे से है, पर इसकी इसलिए खासकर तारीफ की जानी चाहिये कि इसने गॉधी को अपना नायक या महानायक बनाया–यह एक बड़ी चुनौती थी। इसलिए गॉधी के बारे मे जितना कहा–सुना औ लिखा गया, वैसा गौरव शायद ही किसी और राजनेता को मिला हो। ऐसे में बहुत संभव था कि उन पर जो उपन्यास लिखा जाता वह या तो गॉधी की जीवनी जैसा हो जाता या फिर नीरस और उबाऊ वर्णनों से भरा। लेकिन पहला गिरमिटिय' इस कसौटी पर पूरा खरा उतरता है गिरिराज किशोर ने गॉधी पर इतना जीवन्त , दिलचस्प और उत्तेजक उपन्यास लिखकर दिखाया है, जो गॉधी

को इतिहास के बंद दायरो से उठाकर फिर से हमारे आगे रूबरू खड़ा कर देता है और खास बात यह है कि गिरिराज किशोर ने गॉधी में सायास महानायकत्व प्रतिष्ठा की कोई कोशिश नही की।

'पहला गिरमिटिया' असल मे गॉधी के गॉधी हो जाने के बाद उनके करिश्माई व्यक्तित्व के करिश्मो की कथा नहीं है। बल्कि यह उस गॉधी की कथा है जिसकी बहुत धुँधली छवि हमारे ऑखों में रहती है और जिसे सच मे हम बहुत कम जानते है। यह एक मामूली आदमी के लगातार आत्मसघर्ष से गुजरते हुए गॉधी हो जाने की कथा है। लिहाजा सेठ अब्दुल्ला जैसा व्यापारी जो शुरू में गॉधी को देखकर हॅसा था, उसका बहुत बडा भक्त और प्रशसक बन जाता है। बहुत बड़ी सख्या में अग्रेज उसका सम्मान करने लगते हैं। दक्षिण अफ्रिका में नस्ल भेद और गुलामी के खिलाफ लडाई का वह महायोद्धा हो जाता है और उस जैसे निहत्थे आदमी के पास सिर्फ एक सत्य का बल है। उसने सत्याग्रह के एक अनोखे अस्त्र का अविष्कार किया और अन्याय, दमन का विरोध करने के लिए हजारो लोगो का मीलों लम्बा जुलूस लेकर चल पड़ा, जिसने सारी दुनिया का ध्यान अपनी ओर खीचा। 'पहला गिरमिटिया' की सबसे बड़ी शक्ति इसकी उदात्ता है। गॉधी में जो सच्चाई का बल था वह न सिर्फ 'पहला गिरमिटिया' के पन्नो में विखरा हुआ है, बल्कि इसे पढ़ते हुऐ वह धीरे–धीरे हमारे खून में उतरने लगता है। यह उपन्यास पाठक के मन में एक तरह का गौरव भी जगाता है और उसे अपने सामने मॉजूद सत्य की लड़ाइयों में कूद पड़ने के लिए उकसाता और तैयार करता हैं 'पहला गिरमिटिया' की एक विशेषता यह भी है कि वह गॉधी के अन्तर्विरोधों को टालता नहीं है और उन्हे उनकी कमजोरियों की बीच ही दिखाता है। यही वजह है कि गॉधी जब–जब कस्तूरबा के निर्मम सवालों के सामने पड़ते हैं, तो कभी–कभी श्रीहीन और कभी–कभी निरूत्तर भी हो जाते हैं।

इसमे शक नही कि इस सदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों की जब–जब चर्चा होगी, 'पहला गिरमिटिया' को भूलना असभव होगा।

शताब्दी के आखिरी दशक मे मुस्लिम अस्मिता और उससे जुड़े सवालो को लेकर एक साथ कई उपन्यास आये है– मंजूर एहतेशाम का 'दास्तान–ए–लापता' असगर बजाहत का 'सात आसमान', आबिद सुरती का 'मुसलमान' तथा अब्दुल विस्मिल्लाह का 'मुखडा क्या देखें' आदि।

मजूद एहतेशाम का 'दास्तान–ए–लापता' मुस्लिम समाज की कथा है। सक्षेप में यह कथानायक जमीर अहमद खान उर्फ लापता भोपाली के लापता या 'मिसफिट' होनें की कहानी। जमीर अहमद खान जैसा अपने ढग से सोचने–विचारनें, अपने ढंग से जीने वाला आदमी अपने समाज मे तो मिसफिट होता ही है, अपने घर परिवार में मिसफिट है, कारोबार मे मिसफिट है–यहॉ तक कि अपनी पत्नी और बच्चो के लिए भी अजनबी है। डाक्टर मगरमच्छ उसकी बीमारी समझ नहीं पाता और पूरा मुँख खोल कर देखने और जॉच करने के बाद उसका मजाक उड़ता है दोस्तों में विवेक और अच्छन हैं, जो कभी ऐसा लगता है कि उसे समझते हैं, दिन–दिन भर बाते करते हैं, बहस करते हैं और कभी आपस में शीशे की दीवार खडी हो जाती है। जमीर अहमद खान का एक लापता व्यक्तित्व और है, जो लगातार उसके समानांतर चलता है और लोगों से मिलते, बातें करते, कारोबार की चर्चा करते यहॉ तक की घर में पति या पिता की भूमिका निभाते हुए भी लगातार अकेला और अलग–थलग रहता है। उसके जीवन में आई मुश्किलों की जड़ उसका यहा अकेलापन या अलग–थलग रहना ही है। तमाम दूसरे जब अपने–अपने लापता को दुत्कारने की हद तक वेशर्म हो चुके हैं मंजूर एहतेशाम बेहिचक दोहरी यात्रा करते हैं और उसमें आई छोटी से छोटी मुश्किलों को खुलकर बयान करते हैं।'दास्तान–ए लापता' की यहीं खूबी है।

कुछ अरसा पहले छपा असगर बजाहत का 'सात–आसमान' मुस्लिम परिवेश पर लिखे गये उपन्यासो में एक विल्कुल अलग उल्लेखनीय उपन्यास है।

'सात आसमान' असल मे एक मुस्लिम परिवार के चार सौ साल लम्बे जीवन प्रवाह की कहानी है इसलिए जाहिर है यह कई पीढियों की कहानी है, जिसे एक तेज आत्मकथा वाली शैली में, एक उपन्यास में पिरोया गया है। इसमे अब्बू साब की पीढी है, अब्बा मियॉ की पीढ़ी है और फिर अब्बा की– इसके बाद धीरे–धीरे मौजूदा हालात छाने लगते है और हम अब्बा को कमजोर लाचार और शिथिल है। मगर सिर्फ यहीं नही 'सात–आसमान' तो बहुत अजब और गजब चरित्रों का पूरा समन्दर है। इसमें ऐसे ऐसे चरित्र है कि लगता है, मानों जिंदगी की भट्टी से सीधे निकलकर आये हो। इसमे करूणा है, हास्य है, रईसी शान और ऐंठ है कही दया नतकारी है तो कहीं कलाकारी और खुद्दारी भी। कुल मिलाकर उनके चेहरे और सूरते इतनी असली है जितनी असली जिंदगी में जूझ रहें और जी रहे लोगों की होती है। इसलिए यह उपन्यास तो है ही, लेकिन साथ ही यह जीवन को ज्यो का त्यों पेश कर देना है।

इस दशक मे कृष्ण बलदेव वैद का 'नरनारी', 'हमजाद' मनोहरश्याजोशी और 'दो मुर्दो के लिए गुलदस्ता' जैसे उपन्यास भी लिखे गये– जो आदमी को किसी बेढब (सुरेन्द्र बर्मा) सेक्स पशु या गलीज प्राणी जैसा दर्शाते थें। ऐसे उपन्यास आये तो उनके साथ उत्तर आधुनिक महिमामंडन और न जाने कैसी–कैसी चमत्कारी दलीलें आयीं।

उपन्यास लेखन के क्षेत्र में रूपसिंह चन्देल एक नये और युवा लेखक हैं। 'रमला बहू' के बाद इनका उपन्यास 'पाथरटीला' भी ग्राम्य जीवन पर आधारित है और कानपुर के आस–पास के एक गॉव की कहानी कहता है।

कुछ समझदार और अच्छे लोगो के प्रयास से साम्प्रदायिक तनाव टल जाता है और गॉव मे सौहार्द का वातावरण बना रहता है।

उपन्यास की कथा निरन्तर एक उत्सुकता को जन्म देती हुई बढती है। लेखक यह बखूबी जानता है कि कब, कहॉ, क्या और कैसे कहना है यही कारण है कि उपन्यास के कथा सूत न विखरते है, न ही परस्पर गड्ड–मड्ड होते है। और एक औपन्यासिक कृति के लिए यह एक बेहद अहम बात है, जिसमे लेखक अपने पिछले उपन्यास 'रमला बहू' मे भी सफल रहा था और 'पाथरटीला' मे भी सफल रहा है।

सुरेन्द्र बर्मा हिन्दी रंगमच एवं नाट्य साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि ही नही हैं, बरन इस औपन्यासिक उपलब्धि के बाद उन्हे सीधे प्रसाद, मोहन रोकेश की उस परम्परा मे रखा जा सकता है, जिन्होंने हिन्दी, 'नाटक' एवं 'उपन्यास' साहित्य दोनो को समान रूप से समृद्ध किया है।

'मुझे चाद चाहिये' उपन्यास मे एक कलाकार के सघर्ष का वर्णन है। यह सघर्ष भी दो स्तरों पर चलता है– एक स्तर पर कलाकार का 'व्यक्ति' के रूप मे अपने परिवार, निजी सम्बन्धों कला के बाजार और विपरीत सामाजिक परिस्थितियॉ से कठोर सघर्ष, दूसरे स्तर पर एक 'कलाकार' के रूप मे अपने माध्यम, कला मूल्यो, कला परिवेश तथा अपनी कलात्मक तथा अपनी कलात्मक लालसा और निजी क्षमता के बीच संतुलन का बिकट आत्म संघर्ष है। इस दृष्टि से ये संघर्ष जितना बाह्य है, सामाजिक,उतना ही निजी और आभ्यान्तरिक भी।

" 'मझे चाद चाहिये' कथारस के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है, महत्वपूर्ण है एक अल्पपरिचित कलाजगत के आन्तरिक जीवन संघर्ष , प्रेम,

यातना, आसक्ति चुनोती, प्रतिस्पर्धा, द्वन्द्व के मिले–जुले अनुभव चित्रण के लिए।"[1]

इस उपन्यास मे वर्षा वशिष्ठ इस ससार को देखने और दिखाने वाली ऑख है, एक ऐसा ही होल जिसमें में झॉककर हम भीतर देखते है या फिर एक ऐसा दर्पण जिससे परावर्तित होकर दृश्य हमारे पास आता है। निस्सदेह वह केवल माध्यम भर नही एक सकिय भागीदार भी है इसलिए जो कुछ हमे दिखता है वह वर्षा के अनुभव तन्त्र पर दर्ज होने की प्रकिया मे दिखता है।

शाहजहॉपुर का उसका जीवन इस योग्यता की आधार शिला है। उस जिदगी को एक हठ या सकल्प के साथ पीछे छोडकर वह दिल्ली के रगजगत मे प्रविष्ट होती है, शाहजहॉपुर एक चुनौती की तरह उसके भीतर जीवित है। दिल्ली उत्कृष्ट कलात्मक मूल्यों के अर्जन और सर्जन का ससार है। डा0 अटल और उनकी शिक्षण पद्धति इस संसार की सूत्र धार है।

'मुझे चॉद चाहिये' मे बहुत सीमित दुनिया है। कलाकारों की जीवन शैली की अनिवार्य जटिलताओं से घिरी हुई ! क्षुद्र और उदात्त' कोमल और क्रूर ऐसी अन्तरंग दुनियॉ कि आंचलिक लगने लगे शाहजहॉपुर से दिल्ली और दिल्ली से बम्बई तक की कथा के इस ताने –बाने में एक प्रगाढ रग स्थानीयता का भी है। ग्रामीण न सही, कस्बाई और शहरी आचलिकता का। शाहजहॉपुर तो शाहजहॉपुर है जहॉ दिव्या कात्याल जैसी युवा अध्यापिका थी उपस्थिति ही सनसनी के लिए काफी थी। मण्डी हाउस का रंगकर्म संसार एक 'अंचल' ही है। आधुनिकता के

---

[1] परमानन्द श्रीवास्तव , 'उपन्यास का पुर्नजन्म उपन्यास में नाटक उपन्यास का पुनर्जन्म पृ. 184

तमाम लटको के बीच वर्षा वशिष्ठ 'सिलबिल' होने के अनुभव से छुटकारा नही पाती। विडम्बना यह है कि आधुनिक और आचलिक के द्वन्द की गहरी छाप लिये वह बहुत हद तक 'आइसवर्ग' ही बनी हुई थी। ढ़क्कन खोलने वाली दिव्या कात्याल के अपने जीवन में भी कुछ ऐसा घटित हो चुका था जिसे भूलने के लिए ही वह शाहजहॉपुर के मिश्रीलाल डिग्री कालेज मे अध्यापन के लिए आई थी। वर्षा वशिष्ठ दिव्याकात्याल की खोज थी। 'अभिशप्त सौम्यमुद्रा' के मचन के समय वर्षा की पहली पहचान वनी।

'सिलविल' और यथोदा से 'वर्षा बशिष्ठ'– इस नामान्तर के लिए भी संकीर्ण परिवार सस्कार और पिता से टकराना पडा।

सुरेन्द्र वर्मा का सकेत है कि दिव्याकात्याल के साहचर्य मे वर्षा का खिलना ऐसा था जैसे रघु के सिहासन पर बैठते ही जल की मिठास अधिक हो उठी हो।

अनुभव की जिस गहराई तक जाने के लिए बहुत से आधुनिक लेखक जादुई यथार्थ, मिथक स्पप्न, प्रतीकात्मकता जैसे सूत्रो पर निर्भर रहे है, उसे सुरेन्द्र वर्मा ने सीधे अनुभव ज्ञान और सहज अन्तदृष्टि के आधार पर उपलब्ध किया है, सहज रूप से आधुनिक होने की समझ और विश्वसनीयता के साथ। क्षत–विक्षत वर्षा ने अन्त में और कुछ न उपलब्ध किया हो, यह साहस तो अर्जित किया ही है कि बिन ब्यॉही मॉ होने में शर्म न महसूस करें। इसमें सन्देह नहीं कि वर्षा की संघर्षगाथा या प्रेमगाथा को इस रूप में प्रत्यक्ष करने की कला कई कला रूपों और युक्तियो के समावेश से सार्थक हुई है। दृश्य माध्यमों की शब्दावली का उपयोग यहॉ वर्णित परिस्थिति–सन्दर्भ की मॉग भी है और सुरेन्द्र वर्मा के अपने सर्जनात्मक अनुभव का हिस्सा भीं।

अन्तिम दशक में और भी कई महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गये उनकी सूची निम्न लिखित है– 1 'ढाईघर' (गिरिराज किशोर 1991) 2. 'कालकथा' (कामतानाथ–1998) 3. 'पाहीघर' (कमलाकान्त त्रिपाठी 1991) 4. 'बेदखल' (कमलाकानत त्रिपाठी 1997) 5. नदी की याद नहीं' (सत्येन कुमार 1998) 6. 'दिल्ली दूर हैं' (1993), 'कुहरे में युद्धं' (95), 'वैश्वानर'(96), ('शिव प्रसाद सिंह'), 'नर–नारी'(96), 'मायापोत'(1999), (कृष्ण बलदेव वैद), 'उन्माद' (भगवान सिंह 1999), 'बीच में विनय' (स्वयं प्रकाश 94), 'जवाहर नगर' (रवीन्द्र वर्मा 1995), 'काला पहाड़'(भगवान दास मोरवाल 1999), 'पापा के जाने के बाद' (प्रकाशमनु), 'यह जो दिल्ली है'

(प्रकाशमनु), 'डूब'(91), 'पार' (वीरेन्द्र जेन 94), 'पचनाम' (बीरेन्द्र जैन'96) 'जुलूस वाला आदमी' (रमाकान्त), 'दो मुर्दो के लिए गुलदस्ता'।

स्त्रियों द्वारा लिखे गये उपन्यास

बीसवी शताब्दी के आखिरी दशको मे जो कथाकारों की कई पीढियॉ एक साथ सकिय रही उनमे पुरूषों के साथ महिलाओं ने भी बड़ी सख्या में हिस्सेदार की है। उपन्यासों की बडी भरी–पुरी दुनिया है जिसकी रचना महिलाओ की कलम से हुई है। इसमें तरह–तरह के उपन्यास है। समाज में स्त्री की स्थिति, उसकी पीडा, यंत्रणा बेवसी, असमंजस, विद्रोह, संघर्ष, महात्वाकॉक्षा, शक्ति और कहीं कहीं सिर्फ उसके होने को तरह–तरह से अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासों में इन्हें रचने वाली कलम की वर्गीय पहचान अपनी शक्ति और सीमा दोनों में उजागर हो जाती है।

अतिम दशक मे जो स्त्रियो द्वारा लिखे गये उपन्यासों में यह बात देखने मे आई कि–स्त्री की सार्थकता सुख खोजने मे नही, त्याग मे मानने वाले परम्परागत विचार–चौखट को आज की स्त्री ने तोड़ना शुरू कर दिया है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया और 'आओ पेपे घर चलें' उपन्यास की कथा बस्तु और उसके पात्र , उनके संवाद एक तीक्ष्ण तिलमिला देने वाली अभिव्यंजना है। स्त्री चाहे मारवाडी रूगटा, गुप्ता परिवार की हो या बुदेलखण्ड की या अतरपुर के जाट परिवार की। लूटी जाने की पीड़ा उसकी अपनी है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया स्त्री होने की जकड़नों के खिलाफ निरन्तर संघर्ष करती हुई 'स्वंय' होने तक की यात्रा करती है। सबसे टकराती है, भिडती रहती है, लड़ती रहती है। प्रिया की जिंदगी एक आधुनिक पढी–लिखी युवती के अभिशप्त जीवन की त्रासद गाथा है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न कहे जाने वाले समाज में भी एक शिक्षित और कर्तव्यगार स्त्री के जीवन की शोकान्तिका भीषण सच्चाई है। चाक की सारंग 'छिन्नमस्ता' की प्रिया , 'पीली ऑधी' की पद्मावती, 'कठगुलाब' की स्मिता सभी इस सच्चाई से जुडी हैं।

वीसवी शती के अन्तिम दशक की महिला उपन्यासकारो के उपन्यासों मे यह तथ्य उभर कर सामने आया कि औरत की त्रासदी और असूरक्षा के मूल मे उसका नारी देह है। इसी देह के कारण वह शोषित होती है। माता होना यही उसकी सबसे वडी कमजोरी है। सतान से वह इस कदर चिपटी रहती है जैसे शरीर और उसकी परछॉही। अन्यथा 'चाक' की सारग क्या कभी सर झुकाती? आखिर संतान यह तो उसके शरीर से जुडा है, मन से जुडा है, नस–नस मे बहते रक्त से जुड़ा है। चदन के लिए ही तो मास्टर साब और मास्टर साहव के लिए उसका दिल पसीजता है अपने एक मात्र पुत्र चन्दन के लिए। उसके रोम–रोम में प्यार उमडा है अपनी औलाद के लिए सिर्फ अपने जाये चन्दन के लिए। अंतिम दशक की स्त्री उपन्यासकारो ने अपनी रचनाओं में स्त्री को अधिकार अस्मिता 'स्व' को पाने और सुरक्षित रखने की दिशा में नारी सघर्ष के विभिन्न स्तरो को प्रस्तुत किया है।

मृदुलागर्ग के 'कठगुंलाब' मे मारियान के शब्द हैं, औरत होना बिडम्बना को जन्म देता है, नही औरत होना एक विडम्बना है, नहीं, नहीं औरत खुद एक विडम्बना है। जहॉ औरत होगी वहॉ विडम्बना जन्म लेगीं ही। मारियाना के इन शब्दों में औरत और मन की मूलभूत–संरचना से जुडे कठोर यथार्थ को एक क्षण के लिए भी हम अनदेखा नहीं कर सकते।

पुरूष भोगे और स्त्री भुगतती रहे यह इस दशक की स्त्री को गान्य नहीं। इस दशक की महिलाओं का कहना है कि स्त्री का शरीर उसकी अपनी मल्कियत है, उसके देह पर उसका अधिकार है, वह चाहेगी तभी पुरूष उसका उपभोग कर सकता है। प्रभा खेतान 'पीली ऑधी' में पुरूष के निर्मम और विलासी चरित्र को उद्घाटित कर रख देती है। 'जरीदार ओढ़नी' दरअसल उस परम्परा का बोझ है जिससे मुक्त होने में ही उस समुदाय की मुक्ति है।

रचना, रचनाकार और रचनादृष्टि तीनो समय सापेक्ष है, जैसे समय मे मोड का वैसा ही दृष्टि मे कोण का सबसे ज्यादा महत्व हैं। कोण ही हमारे सामाजिक जीवन के सिद्धान्त हैं और मोड उन घटनाओं के गवाह है जो एक लम्बे बैचारिक सघर्ष के बाद अचानक समाज के या व्यक्ति के जीवन मे पैदा हो जाते है, इसलिए जो कुछ समय और दृष्टि के सापेक्ष मे घटित होता है वह सब समाज सापेक्ष है। विना समाज के , विना घटनाओं के समय की कोई पहचान नही बन सकती। बीसवीं शती के अन्तिम दशक में स्त्री उपन्यासकारो ने अपनी कृतियो पर समय की मुहर लगाई है, ये समय के सच्चे दस्तावेज हैं। निर्भ्रान्त सत्य और तिलमिला देने वाले कडवे सच को इन महिला उपन्यासकारों ने प्रस्तुत किया है।

अन्तिम दशक मे महिलाओ द्वारा लिखें गये उपन्यासो की सूची निम्नलिखित है– सूर्यवाला का 'यामिनीकथा' और दीक्षांत, नीलिमा सिह का 'अपनी सलीबें', मजुलाभगत का 'गंजी', इंदिरा दीवान का 'मानदंड', ज्योत्सना मिलन का 'अवस्तुका', राजीसेठ का 'निष्कवच', सुधा अरोड़ा का 'यह रास्ता अस्पताल को जाता है', शकुन्तला दुबे का 'बंटी', चन्द्रकान्ता का 'वितस्ता बहती रहीं', अपने–अपने कोणार्क', ''अंतिम साक्ष्य', नासिरा शर्मा का 'ठीकरे की मंगनी', 'जिंदा मुहावरे' , श्यालमली' , दिनेश नंदिनी डालमियॉ का 'मरजीवा', मृदुलागर्ग का 'कठगुलाब', रंजना जैदी का 'हिंसा अंहिसा', महाश्वेता देवी चतुर्वेदी का 'टूटा पुल', मीरा सीफरी का ''गल्ती कहॉ', रमणीका गुप्ता का 'सीता', कमल कुमार का 'हमबर्गर', सुधा श्रीवास्तव का 'चॉद छूता मन', सुनीता शर्मा का 'मंगत', ममता कालिया 'एक पत्नी के नोट्स', प्रभाखेतान का 'छिन्नमस्ता', 'पीली ऑधी आओ पेपे घर चले', 'अपने–अपने चेहरे', मैत्रेयी पुष्पा का 'बेतवा बहती रहीं', 'इद्न्नमम्', 'चाक', और 'अलमा कबूतरी', चित्रा मुद्गल का 'ऑवा' मृणाल

पाण्डेय 'रास्तो पर भटकते हुए', क्षमा शर्मा का 'परछाई अन्नपूर्णा' और गीताजलिश्री का 'माई' और 'हमारा शहर उस बरस'।

पुरूषों द्वारा लिखे गये उपन्यासों मे स्त्री–विमर्श

हिन्दी उपन्यासो के आरम्भ काल से ही मानवीय समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी मे जिस रूप में कविता में जन–जीवन के बृहत्तर सन्दर्भ आये, उस रूप में उपन्यासो मे नही। यह इस लिए हुआ कि या तो उपन्यास घर परिवार की दुंनिया तक सीमित रहे या जासूसी, ऐय्यारी और तिलस्मी दुनिया तक। लेकिन प्रेम चन्द ने आकर वीसवी शताब्दी के दूसरे दशक मे ही जब कविता में छायावाद चल रहा था तब यर्थाथवादी समस्याओ से उपन्यास का ऐतिहासिक चरण आरम्भ हुआ यह हिन्दी उपन्यासों के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

स्त्रियो की समस्याओं को लेकर स्त्री लेखिकाओ ने तो उपन्यास लिखे ही कुछ पुरूष कथा लेखकों ने भी स्त्री की समस्याओं, उसकी त्रासद स्थिति को अपने उपन्यास का विषय बनाया।

जहॉ पहले स्त्री को 'नरक का द्वार' कहा गया हैं वहीं अब कुछ स्थितियॉ बदलने लगी हैं। छठे दशक मे स्त्री की स्वाधीनता को लेकर जो चिन्ता प्रकट की गयी वह यहॉ आकर और घनीभूत हो गयी है। यह चिंता ऐसे समय मे और प्रमाणिक हो जाती है जब संसद में हमारा पुरूष वर्ग ही महिला आरक्षण विल को पास नहीं हानें दे रहे हैं। स्त्री स्वतन्त्रता का नारा पश्चिम से आया था लेकिन आज हमारे समाज का भी अविभाज्य अग बन गया है। हमारे जीवन का एक राग बन गया है। लेकिन हमारे देश में स्त्री स्वतन्त्रा के अर्थ क्या हैं , पुरूषों का इस बारे में क्या दृष्टिकोण हैं, इसको समझने के लिए हमें पुरूषों द्वारा लिखे उपन्यास और उसमें स्त्री–विषयक चिन्तन को देखना होगा।

'मुझे चॉद चाहिये' सुरेन्द्र वर्मा का महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसका मुख्य और आदर्श कलिगुला का यह उद्धरण है–'अचानक मुझमें

असभव के लिए आकाक्षा जागी। अपना यह ससार काफी असहनीय है, इसलिए मुझे चन्द्रमा, या खुशी चाहिये –कुछ ऐसा, जो वस्तुतः पागलपन सा जान पडे। मै असभव का सधान कर रहा हूँ देखो तर्क कहाँ तक ले जाता है, शक्ति अपनी सर्वोच्च्य सीमा तक, इच्छाशक्ति अपने अनंत छोर तक। शक्ति तब तक सम्पूर्ण नही होती जब तक अपनी काली नियति के सामने आत्मसमर्पण न कर दिया जाये। नही, अब वापसी नही हो सकती। मुझे आगे ही बढते ही जाना है..........।'

एक छोटे से कस्बे शाहजहाँपुर के स्कूल मास्टर की लड़की सिलबिल वर्षा वशिष्ठ बनने के लिए इसी आदर्श उद्धरण का सहारा लेती है। जीवन के तमाम समझौते उसके मार्ग को प्रशस्त करते है, वह परिवार की रूढियों और सस्कार कहे जाने वाले तमाम अवरोधों को तोड़ने में किसी प्रकार की देरी नही करती। उसे जीवन में वह सब पाना है, जो एक मध्यमवर्गीय लडकी के लिए सपने में भी सम्भव नहीं है– वह उन ऊचाइयों तक पहुँच जाती है जहाँ आजीवन कठोर श्रम और मेधा की तमाम विवेकपूर्ण दृष्टियो के बावजूद नही पहुचाँ जा सकता। अकादमी पुरस्कार, पदमश्री, बेस्ट कलाकार तथा अन्य प्रकार की कीर्ति में निमग्न वर्षा हर्ष से विवाह पूर्ण सम्बन्धो तक में परेशानी का अनुभव नहीं करती लेकिन अपनी यश पताका के आसमान में फहराने के समय जब अनव्याहें उसकी गोदी मे एक पुत्र पैदा होता है तब हर्ष का आत्महत्या करना उसे अन्दर तक तोड देता है और जीवन की सारी उपलब्धियाँ व्यर्थ सी लगने लगती हैं। वह कहती है–'मेरे वास्ते चन्द्रमा हमेशा के लिए बुझ गया है। कलिगुला के अचूक उद्धरण ने वर्षा के मन में जो अदम्य इच्छा उत्पन्न की थी। अंग्रेजी की व्याख्याता दिव्या कात्याल ने जो स्त्री स्वतंत्रता की भूख उसके अन्दर पैदा की थी– वह हर्ष के न रहने से अचानक विलुप्त कैसे हो गयी? क्या वर्मा जी यह बताना चाहते हैं कि स्त्री की तमाम

उपलब्धियो से अधिक बडी उपलब्धि पत्नी बनकर गृहत्थी चलाना है। क्या एक गृहस्थी ही स्त्री की सम्पूर्णता है। यहाँ यही लगता है कि वर्षा यही चाहती है और उसके कहने मे यह अर्थ ध्वनित होता है बल्कि यह है कि वह सब कुछ के साथ अंत में एक शानदार घर और गृहपति भी चाहती है। स्त्री को स्वतन्त्रता से अधिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है। यह वाक्य उपन्यास में भी एक जगह आया है। और उपन्यासकार का उद्देश्य भी यही है।

'मुझे चॉद चाहिये' उपन्यास में एक कलाकार का संघर्ष वर्णित है। यह संघर्ष भी दो स्तरों पर चलता है– एक स्तर पर कलाकार का 'व्यक्ति' के रूप मे अपने परिवार निजी सम्बन्धों, कला के बाजार और विपरीत सामाजिक परिस्थितियों से कठोर संघर्ष, दूसरे स्तर पर एक 'कलाकार' के रूप में अपने माध्यम कला –मूल्यों, कला–परिवेश तथा अपनी कलात्मक लालसा और निजी क्षमता के बीच संतुलन का विकट आत्म संघर्ष।

54. सुल्तानगंज से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में सिनेमा संसार तक फैले हुए 'मुझे चॉद चाहियें' के कथा संसार में यों तो अनेक चरित्र आते हैं, लेकिन इसकी सबसे तीखी बहुमुखी व्यंजना जिन दो पात्रों के माध्यम से हुई है वे हैं– उपन्यास की नायिका वर्षा वशिष्ठ उर्फ सिलविल और दिव्या कात्याल।

दिव्या,वर्षा के लिए 'फ्रैन्ड ,फिलॉसफर एण्ड गाइड' है, जिसने उसके अन्दर ज्वार को मुक्त करने का सही रास्ता सुझाया था।

''तुम्हारे अन्दर जो ज्वार भरा है उसे मुक्ति देने के लिए ढक्कन खोलने की जरूरत है।'' [1]

---

[1] मुझे चाूद चाहिये पृ स 28

इसलिए "अगर मिस कत्याल उसके जीवन मे न आती तो वह या तो आत्महत्या कर चुकी होती या रूँ–रूँ करते चार पॉच बच्चो को सभालती किसी क्लर्क की कर्कश , बोसीदी जीवन सगिनी होती। " [1]

पिता किशन दास शर्मा सस्कृत के अध्यापक जरूर है , परन्तु घिसी–पीटी जीवाश्म भाषा की तरह ही पुरातन पंथी। उन्हें जिस दिन यह पता चलता है कि सिलविल ऋतसहार पढती है उन्होने किस कुलगुरू के ग्रन्थो में से चुन–चुन कर आलिंगन, अभिसारिका, सीत्कार जैसे शब्दो पर पेंसिल पोत दी। सिर्फ पिता ही क्यो मॉ, बडा भाई, मुहल्लें के ऐरे–गैरों से लेकर उसके मित्र और प्रेमी भी उसके रास्ते रोककर खडे हैं। एक तरफ उसे नाटक से मिली वाह–वाह, पहचान और जगमगाती टी.वी फिल्मो की दुनिया दिखाई दे रही है तो दूसरी तरफ उसके स्त्री होने की सीमाओ पर लगातार हमले करता पूरा का पूरा समाज–

"मडवे में विठा दो इसे हाथ–पॉव बॉध के। जान तो छुटे"– मॉ ने कहा। [2]

"सिलबिल तुम हर लिहाज से सीमा पार कर चुकी हो–" पिता बोले। [3]

"अब तेरी वजह से लडके एक दूसरे का सिर भी फोड़ने लगे"–भाई दहाडे। [4]

---

2 वही पृ 13

[2] 'मुझे चाूद चाहिये' पृ 76

[3] वही पृ 76
[4] वही पृ 77

किन्तु दिव्या जैसे प्राध्यापिकाओ की थपकी ऐसा आत्मविश्वास पैदा करती गयी कि रूप–रग मे सामान्य सी लगने वाली लडकी ने नेशनल स्कूल आफ ड्रामा से होते हुए बम्बई, हालीबुड में धूम मचा दी, किन्तु ज्यों, ज्यो वाह्य उपलब्धियो की मीनारो पर चढती गयी त्यो–त्यो अपनी निजी चाहत की बढती दूरी के दंश से छीजती गयी।

वह मानती है कि–"जगत विसर्जन कोई समाधान नही।" और इसीलिए अपनी इमोशनल एकर दिव्या से कहती है कि–"यह दुर्वलों और कायरो की अपनी बौनी क्षमता को पहचानने की स्वीकृति है, सच्चे और महान वे है, जो अपनी असफलता की कचोट के साथ जिन्दा रहते है अपने निकृष्टतम रूप मे भी जिंदगी मौत के सर्वश्रेष्ठ ढंग से बेहतर है।" [1]

वर्षा के जीवन दर्शन और उसके भावात्मक सतुलन की तार्किक परिणति इस रूप मे प्रतिफलित होती है कि वह कलात्मक शिखरों के साथ ही व्यवसायिक ऊँचाइयों की बुलन्दियो को छूपाने में सफल रहती है। यही नही धीरे–धीरे वह अंधेरे की बादी ने निकलकर "कालिगुला" का यह सवाद याद करती है–

"विषाद भी टिकाऊ नहीं हो सकता। विषाद भी दंश है।"[2]

प्रभा खेतान अपने लेख में वर्षा वशिष्ठ के बारे में लिखती है–"मुझे चॉद चाहिए की नायिका–वर्षा वशिष्ठ का सर्जक पुरूष है। उपन्यास में गजब की कला चेतना है एक सचेष्ट और सजग रूप से बुना गया ताना–वाना रचना धर्मिता का ऐसा संतुलन जो मंच के सफल निर्देशक की ओर इंगित करता है। क्लाइमेक्स, ऐंटिक्लाइमेक्स......इतनी

---

[1] वही पृ 549

[2] वही, पृ 567

सयत, सुदृढ भाषा पुरूष की हो सकती है क्यो कि विरासत मे उसे कालिदास मिले है, किन्तु जहॉ तक उपन्यास की नायिक वर्षा वशिष्ठ का सवाल है, तो ऐसा लगता है मानो लेखक एक प्रतिभा का निर्माण कर रहा हो.. मगर सारे प्रयासो के बाबजूद वह वर्षा वशिष्ठ में प्राण नही फूॅक पाता। वर्षा वशिष्ठ होकर नही सोच पाता। वर्षा वशिष्ठ स्वय नही चल रही है, लेखक उसकी महत्वाकाक्षाओ की पारम्परिक सीढियों पर चढा रहा है। यहॉ तक कि हालीबुड ले जाता है और उसके बाद वह बच्चे की मॉ बनती है। क्या लेखक के मानस मे वही एक घिसा–पिटा मुहावरा काम नहीं कर रहा है कि तुम कुछ भी करो, कही भी जाओ कितनी भी ऊॅचाई पर... . लेंकिन पुरूष के विना अधूरी हो मातृत्व ही तुम्हारी वास्तविक सफलता है।" [1]

इतना ही नहीं वह आगे लिखती हैं–"उस लिजलिजी पुरूष परम्परा का प्रतीक वह बच्चा है.....।" [2]

पर कहना न होगा कि प्रभा जी के इन शब्दों में उनके नारीवादी मानदण्डो की प्रतिध्वनि है जिसकी पृष्ठभूमि मैत्रेयी पुष्पा के "इदन्नमम' की नायिक मन्दा है जो मॉ नहीं बनी, उसके प्रारब्ध में विवाह नही है" जिसकी पृष्ठभूमि देहात हैं जबकि इन दोनों के कथा संसार एवं परिस्थिति मे अन्तर है। मैत्रेयी की नायिक का प्रेमी कभी लौटकर उसके पास नहीं आता जबकि वर्षा का प्रेमी, 'हर्ष' उसके सारे संघर्ष में, उसे पूरे चरित्र मे, उसकी पूरी सोच में उसके साथ है।

सच तो यह है कि मातृत्व एवं पत्नीत्व छोडकर स्त्री को प्रगतिशील बनाने की दृष्टि पुरूष की नही है। परन्तु स्त्री पर पड़ी पुरूष

---

[1] हस, 1994 अक . दो नये उपन्यासों के बहाने नारी चेतना की पड़ताल –प्रभा खेतान

[2] वही

वर्जना को खत्म करना भी जरूरी मुद्दा है, जो पूरी हिम्मत व सोच समझ के साथ वर्षा वशिष्ठ करती है। बचपन से लेकर अन्त तक स्त्री होने के कारण करणीय–अकरणीय के सभी पारस्परिक विधि–निषेधो को तोडने के सफल प्रयत्न इसमें किया गया है।

महानगरीय आधुनिक स्त्री के रूप में उसके (वर्षा) व्यक्तित्व का रूपान्तरण होता है। दिल्ली मे हर्ष के साथ गणतन्त्र दिवस के दिन उसका पहला मौन सम्पर्क घटित होता है और यह समागम उसके भीतर न तो 'पाप बोध' जगाता है, न यौन उच्छृ खलता की ओर प्रेरित करता है। यहॉ वर्षा उस पारम्परिक स्त्री से अलग हो जाती है जो यौन शुचिता को ही अपना आदर्श मानती है।

वर्षा की दो विशेषताएं सबसे बडी है–उसकी दृढ़ता और सतुलित नमनीयता। उसका जन्म उत्तर प्रदेश के एक पिछड़े हुए कस्बे शाहजहॉपुर के एक ऐसे परिवार में हुआ था जो "पैसे की कलेजा निचोड सनातन कमी' के बावजूद कट्टर रूढिवादी मूल्यों में जकडा हुआ था। उपन्यास के प्रथम पैराग्राफ में ही उसकी सम्भावित नियति और उससे उबरने का सकेत व्यजित है–" अगर मिस दिव्या कात्याल उसके जीवन में न आतीं तो वह या तो आत्महत्या कर चुकी होती या रूँ–रू करते चार–पॉच बच्चों को संभालती किसी क्लर्क की ककर्श वोसीटी जीवन संगिनी होती।"

निःसेदेह दिव्या उसकी मार्गदर्शक और आत्मीय भावनात्मक सबल है, जिसने उसके अन्दर भरे ज्वार को मुक्त करने का सही रास्ता सुझाया था– 'तुम्हे अपनी अभिव्यक्ति के लिए एक माध्यम चाहिये। वह

क्या होगा, यह मै अभी पक्के तौर पर नही कह सकती। पर एक बार रगमच की कोशिश कर लेने मे कोई हर्ज नही।" [1]

प्राय चुप रहने वाली वर्षा उर्फ सिलविल मे बचपन से ही मौन आक्रोश और विद्रोह के जवर्दस्त तेवर थे। इसकी पहली अभिव्यक्ति तब हुई जब सिलबिल अपना नाम यशोदा शर्मा से बदलकर वर्षा वशिष्ठ रखती है। इसके बाद दिव्या के सानिध्य में मिश्रीलाल डिग्रीकालेज, शाहजहॉपुर और लखनऊ के रंगमंच पर अभिनय से लेकर राजधानी के एन0 एस0 डी0 में प्रवेश लेने तक उसने हर विपरीत पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों का उत्कृष्ट दृढता के साथ मुकाबला किया। कलामार्ग पर अपने एकाग्र लक्ष्यभेद में सलग्न सिलविल के लिए 'मिट्ठू' के प्रति आकर्षण भी अवरोध नही बन पाता। यहॉ तक कि आगे चलकर हर्ष ओर सिद्धार्थ के साथ उसके प्रेम सम्बन्ध और उनके उतार–चढ़ाव भी उसकी कला साधना और अपने माध्यम को साधने के आत्मसंघर्ष में बाधा नही बन पाते। वह अपने निजी, पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के साथ–साथ कलात्मक मूल्यो के प्रति भी पूरी तरह ईमानदार और निष्ठावान बनी रहती है। अपनी असाधारण नमनीयता और तार्किक सनतुलन के फलस्वरूप वह प्रत्येक विपरीत परिस्थिति की अन्धी खाई में से उबरकर व्यक्तिगत सफलता और कलात्मक बुलदियो के चॉद छू लेती है।

'अर्धनारीश्वर' विष्णु प्रभाकर द्वारा लिखा गया उपन्यास है, जो कि खासा चर्चा में रहा है साहित्य अकादमी का पुरस्कार भी इसे मिला है। इसमे स्त्री बलात्कार की पीडा कैसे सहती है कितनी कुंठित होती है यह दिखाया गया है। इसीलिए शायद 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास कम, बलात्कार

---

[1] मुझे चॉद चाहिए पृ 28

पर लिखा गया कच्चा चिठ्ठा ज्यादा है। उपन्यास की कथा नायिका सुमिता जो बलात्कार से पीडित औरतो की मानसिकता पर शोध कर रही है, अपनी थीसिस के सिलसिले मे कई ऐसी औरतो से मिलती है। और यों उसे बलात्कार से पीडित हर वर्ग की स्त्रियों के अलग–अलग अनुभव और पीडा के एक नीले डरावने वृत्त से होकर गुजरना पडता है। कई बार उसे लगता है कि वह सब सुनने और सहपाने की ताकत उसके अन्दर नहीं हैं बार–बार उसके भीतर कुछ उबलता है, बार–बार वह सहम कर छिटकती है पर हर बार अपनी सारी शिथिल चेतना को समेट कर फिर जुटती हैं। यह शोध उसके लिए वैसा नीरस और मुर्दा शोध नही है जैसे आजकल विश्वविद्यालयों मे होते है। यह उसके लिए चुनौती है, जीवन की सबसे बडी ,सबसे कठिन चुनौती, जिसमे उसकी सारी शक्तियॉ, पुॅजीभूत है। उसकी चेतना बार–बार एक ही विन्दु पर आकर घूमने लग जाती है– ऐसा क्यो होता है? सभ्य समाज में यह जंगलीपन क्यों– किसलिए इसे बर्दाश्त किया जाता है? और ऐसे हालात में नारी क्या करे? कैसे खुद को बचाये? बलात्कार करने वाला तो छूट जाता है, लेकिन वही स्त्री ,जिसके साथ अत्याचार होता है, क्यो सबकी ऑखों मे खटकने लगती है? दोहरी नैतिकता का यह कैसा डरावना सत्य है। यही सवाल है जो सुमिता को यहॉ से वहॉ भटका रहे है। वह खोज खोज कर उन औरतों का पता लगाती है, जो जंगली दरिदों की हवस का शिकार हो चुकी हैं, उनसे इण्टरव्यू लेती है। उन्हे कमवार दर्ज करती है और उन सीधे और सख्त निष्कर्षो तक पहुॅचती है, जहॉ से स्त्री मुक्ति के रास्ते निकलते है–यानी एक औरत के चौकाने वाले दुःसाहस का नाम है सुमिता।

यह तो कटु सत्य है कि हमारे समाज में पुरूष दोषी हो भी तो उसे सजा नही मिलती और स्त्री विना कसूर के दण्ड भुगतती है। वलात्कार जैसा जघन्य अपराध तो पुरूष करता है परन्तु सजा मिलती है

स्त्री को। बलात्कार की शिकार हुई औरतो से मॉ–बाप,भाई–बहन, दोस्त, रिश्तेदार और समाज कहता रहता है–" कलमुँही तु मर क्यो नही गई? " पुरूष से कभी कोई इस तरह नही कहता। समाज के दुहरे मापदंडों की कथा है अर्धनारीश्वर। यह सत्य है कि यदि यह उपन्यास किसी स्त्री द्वारा लिखा गया होता तो इसकी मार्मिकता और सुमिता के साथ ही साथ अन्य स्त्रियो की पीडा और उभर कर सामने आती।

रामदरश मिश्र वैसे तो आचलिक उपन्यासकार हैं, परन्तु इसका उपन्यास "थकी हुई सुबह" स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। स्त्री से जुडे हुऐ प्रश्नो को उठाया गया है। उपन्यास की शुरूआत इस सूचना के साथ होती है कि उमा जी गुंजर गयी। फिर उमा जी कौन थी? इस सवाल से होते हुए कथा नायिका लक्ष्मी की अपनी जिंदगी के पन्ने खुलनें लगते है, इसलिए कि उमा जी उन्ही रामधन मिश्र की पत्नी थी, जिन्होने लक्ष्मी को उस वक्त सहारा दिया था जब वे पूरी तरह टूट चुकी थी । और फिर समय की एक तेज बाढ मे उमा जी पीछे छूट गयी। और उसकी जगह आ गई लक्ष्मी। वह रामधन मिश्र की प्रेमिका पत्नी के रूप में आ जाती है, यह भी विडम्बना ही है कि जिस स्त्री ने उनको सहारा दिया उन्होंने उसी का अधिकार छीन लिया। उमा जी तडफती रहती हैं और लक्ष्मी को भी ऐसा तो बिल्कुल नही है कि अपराध बोध न हो । पर यह एक नया यथार्थ है और हाथ मे आये सुख को वह छोड़ना नहीं चाहतीं। पूरे उपन्यास में लक्ष्मी की दुःख दाह भरी जीवन यात्रा और तकलीफों के पन्ने फडफडाते रहते है। बीच–बीच में उमा जी की तकलीफें भी आती है और इस तरह 'थकी हुई सुंवह' एक साथ दो स्त्रियों के शोषण और तकलीफो की गाथा है। यानी एक शोषित स्त्री द्वारा दूसरी स्त्री का शोषण। लक्ष्मी के एक मर्मांतक अपराध बोध के सहारे ही इसे साधा जा सकता है। पर दुर्भाग्य से वह उपन्यास में बहुत धीमा है।

आज मध्यवर्गीय स्त्री की महत्वाकाक्षा बड़ी है वह चाहती है कि वह भी जानी या पहचानी जाय। वह कुछ करे। इस प्रकिया में वह कई बार अपनी वास्तविक क्षमताओं से अधिक की चाहना भी कर बैठती है। रामदरश जी के एक और छोटे उपन्यास 'विना दरवाजे का मकान' मे घरो मे काम करने वाली स्त्री दीपा के माध्यम से आज की महानगरीय जिदगी के यथार्थ को देखने की कोशिश है। आमतौर से मध्यमवर्गीय ऑख से निम्नवर्ग के पात्रों को उनकी करूण और असहाय जिंदगी के उतार–चढाव और हाहाकार को देखा जाता रहा है। पर 'बिना दरवाजे के मकान' मे फ्रेम आफ रेफरेस एकाएक बदल गया है। और यह दीपा जो यह सब देखती है और कहती है, एक बहुत मजबूर और असहाय स्त्री है। अपने सम्पूर्ण स्त्री होने की इच्छाओं के बावजूद वह असहाय है, इसलिए कि उसका पति बहादुर जो रिक्सा चलाता है, एक सड़क दुर्घटना मे घायल और लाचार हो कर घर पर पड़ा है। उसकी रीढ़ की हड्‌डी अब बेकार हो चुकी है। उसके घाव सडने लगे है और उसके लिए अब जिंदगी मे कुछ बाकी नही बचा है पर रामदरश जी का उद्‌देश्य महज दीपा और उसके पति की लाचारी को ही दर्शाना नहीं है। वे कुछ बडे कारणों तक जाते हैं। 'विना दरवाजे के मकान में' रामदरश जी बगैर किसी नारे बाजी के बहुत हल्के सकेते में यह कह जाते हैं कि समाज में एक हिस्सा जब सड रहा हो, तो दूसरा हिस्सा भी खुशहाल नहीं रह सकता। दीपा जैसी मेहनतकश स्त्रियॉ लाचार हैं, मगर वे उन तमाम धन–पुशुंओं से कहीं बेहतर भी है, क्योंकि वह अपने से बाहर निकलकर देखना, सोचना और जीना भी जानती है।

अन्तिम दशक मे पुरूषो ने जो भी स्त्रियों को लेकर लिखा वह कुछ हद तक तो परम्परा से अलग है, फिर भी है परम्परा में। जैसा कि सुरेन्द्र वर्मा ने 'मुझें चॉद चाहिये' मे अपना दुष्टिकोण दिया कि चाहे स्त्री

विवाह करे या न करे परन्तु उसका मॉ बनना आवश्यक है, मॉ बने बिना उसकी मुक्ति सम्भव नही है। विवाह परम्परा आवश्यक नही है।

पुरूप स्त्री को कभी भी अपने समान नही मानता है या तो देवी मानकर पूजा करेगा या फिर दासी बनाकर उसका शोषण । आज स्थितियॉ कुछ बदली है लेकिन फिर भी पुरूष के अवचेतन मे उसका अहम् विद्यमान है, यदि ऐसा नही होता तो वर्षा के अन्दर जो स्त्री स्वतन्त्रता की भूख दिव्या कात्याल ने पैदा की थी वह हर्ष के न रहने पर अचानक विलुप्त कैसे हो जाती।

लगभग सारे पुरूष कथाकारों ने स्त्री स्वतन्त्रता की बात तो की लेकिन साथ–साथ यह भी सकेत किया कि स्त्री की तमाम उपलब्धियों से अधिक बडी उपलब्धि पत्नी बनाकर गृहस्थी चलाना ही है। यहॉ यह प्रश्न उठता है कि क्या एक गृहस्थी ही स्त्री की सम्पूर्णता है? क्या स्त्री को स्वतन्त्रता से अधिक सुरक्षा की आवश्यकता होती है? जैसा कि इन उपन्यासकारो का दृष्टिकोण है। इतना चिन्तन होने के बाबजूद स्त्री समस्या आज भी हमारे सामने बहुत भयावह स्थिति मे है। देश की अस्सी प्रतिशत महिलाए अशिक्षित है। महानगरो मे जिन पढी लिखी महिलाओ ने नौकरी और व्यवसाय को अपने जीवन का अनिवार्य अंग बनाकर घर की चारदीवारी छोड़ी है वे भी बाहर आकर पुरूष की मानसिकता देख रही है कि उनकी दृष्टि मे स्त्री आज भी वैसी ही यौन–रूपा है, उसका भोग ही उनके जीवन की सार्थकता है।

अध्याय–4

अन्तिम दशको में स्त्रियो द्वारा लिखे गये उपन्यासों का विवरण–

बीसवी शताब्दी कई महत्वपूर्ण कारणो से ऐतिहासिक है– यह शताब्दी विचार और कर्म के स्तर पर नई राह दिखाने वाली है। दुनिया को एक होने का आदर्श और शोषण, मुक्त समाज को प्रत्यक्ष करने वाली स्त्रियो को स्वाधीनता का रास्ता बताने वाली दलितो को आगे बढकर समानता की ओर ले जाने वाली यही शताब्दी है। इसी शताब्दी ने ऐसे अनेक प्रश्न हमारे सामने उपस्थिति किये जो आने वाली इक्कीसवीं शताब्दी के लिए न केवल महत्वपूर्ण है बल्कि समस्या उत्पन्न करने वाले भी है।

इक्कीसवी शताब्दी मे दो समस्यायें महत्वपूर्ण होंगी और माना जाा रहा है कि साहित्य और राजनीति दोनो में दलित और स्त्रियॉ केन्द्र में होगे। दोनो की समस्याओं से बचकर कोई भी क्षेत्र प्रभावशालीं नहीं हो सकेगा लेकिन ये दोनो समस्यायें इसी बीसवीं शताब्दी ने उभारी है और बताया है कि किस प्रकार हजारो साल से शोषण के शिकार दलित और स्त्री अब आगे उस प्रकार का शोषित जीवन नहीं जी सकेगें जिस प्रकार का अब तक जीते चले जा रहे है। राजनीति ने तो कोई विशेष कार्य नहीं किया परन्तु साहित्य में इस ओर बहुत काम हुआ है। हिन्दी में स्त्री विमर्श इस समय केन्द्र में है। स्त्री लेखन और स्त्रियो को केन्द्र बनाकर उनकी समस्याओं को केन्द्र में रखकर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे गये हैं।

बीसवीं शताब्दी के आखिरी दो–तीन दशकों के कथाकारों की जो कई पीढ़ियॉं एक साथ सक्रिय रही हैं उनमें पुरूषों के साथ महिलाओं ने भी बडी सख्या में हिस्सेदारी की है।

अन्तिम दशक मे उपन्यासो की बडी भरी–पुरी दुनिया है जिसकी रचना महिलाओ की कलम से हुई है। इनमें तरह–तरह के उपन्यास है। समाज मे स्त्री की स्थिति उसकी पीडा, यत्रणा, बेबसी, असमजस, विद्रोह संघर्ष, महत्वाकांक्षा, शक्ति और कही–कही सिर्फ उसके होने को तरह–तरह से अभिव्यक्ति देने वाले उपन्यासों मे इन्हे रचने वाली कलम की वर्गीय पहचान अपनी शक्ति और सीमा दोनो में उजागर होती है।

समस्या यह है कि सदियो से पुरूष प्रधान समाजों मे स्त्री का शोषण और दमन होता रहा है। समाज में उसकी हैसियत और भूमि का निर्धारण पुरूष के हाथों हुआ है। पुरूष ने उसे समाज में जो दर्जा दिया है वही उसकी मानसिक बनावट तय करता है, उसके व्यवहार के प्रतिमानों को भी उसके दमन के निमित्त पुरूष ने तय किया। लगातार उन्हे अर्जित करते–करते वे स्त्री का स्वभाव हो गये। जो अन्तर केवल जैविक था वह धीरे–धीरे बोध के सहारे सास्कृतिक हो गया। उसे 'देवी' 'मॉ', सहचरि प्राण बना दिया गया। एक ओर उसे नरक की खान और दूसरी ओर 'शक्ति रूपा' पूजनीया बताने वाली व्याख्याएं उसकी रचनात्मक मानसिकता को एक खास सॉचे में ढालती रहीं। पुरूषों ने नारी पात्रों की जो रचना की वे भी आत्मपीड़न आत्मोत्सर्ग के मंत्र से बद्ध थे। उन्होंने जिन नारी चरित्रो की सृष्टि की वे पुत्री, पत्नी मॉ, बहन, प्रेमिका या फिर वेश्या के अलावा कुछ हो ही नही सकती थी।

समाज मे स्त्री की स्थिति पर केन्द्रित उपन्यास तो पुरूष कथाकरो ने भी लिखें पर अन्तिम दशक में यह 'लिखना' कुछ दूसरें ढंग का है। इधर की रचनाओं मे भाव, विगलन, आत्मदया, आत्मदान में गौरव के एहसास जैसी अनुभूतियों के लिए जगह नहीं रह गयी थी। स्त्री अपने को नये सिरे से तलाश रही थी। रिश्तो की समस्या, परिवार और परिवेश

मे अपनी भूमिका की नये सिरे से व्याख्या कर रही है। वह अपनी अस्मिता की नई पहचान करवा रही है यह विश्वव्यापी लहर थी, 'नारीवाद' सोच ने समाज के हाशिये पर खडी स्त्री के लिए केन्द्र मे जगह बनाने की मॉग की।

हिन्दी मे कृष्णा सोबती, मन्नू भडारी उषा प्रियंवदा जैसी बरिष्ठ लेखिकाओ ने तो 'मित्रो मरजानी', सुरजमुखी अँधेरे के', 'दिलो दानिश', 'आपका बटी', 'रूकोगी नही राधिका', 'शेष यात्रा' जैसे उपन्यास लिखे ही थे, उसके बाद की एक पूरी पीडी स्त्री को केन्द्र में रखकर उपन्यास रचना के क्षेत्र मे उतर आयीं इनमें मृदुला गर्ग, राजी सेठ, मंजुलभगत, ममता कालिया, नासिरा शर्मा, प्रभाखेतान, मृणाल पाण्डेय, गीताजंलिश्री, चन्द्रकान्ता, मैत्रीयी पुष्पा, चित्रा मुद्गल आदि।

इन रचनाकारों की रचनाओ में ध्यान आकर्षित करने वाली बात एक खास ढंग की साहसिकता है जो तरह–तरह से इनके नारी पात्रों मे पकट होती है। कही–कही लगता है कि जीवन से ज्यादा साहसिकता इनके लेखन मे है। घटित तथ्यों को ही नही आकांक्षित सत्यों को भी इन्होने औपन्यासिक विन्यास दिया। इसके अलावा ये उपन्यास यह एहसास जगाते हैं कि समस्या सिर्फ स्त्री–पुरूष के बीच नही रह रह गयी है। सदियों से पुरूष भोक्ता रहा और स्त्री भुगतती रही, इसलिए उसकी सार्थकता सिर्फ इस वस्तुस्थिति के खिलाफ आवाज उठाने में है या फिर सुशिक्षित होकर आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाना ही स्त्री के लिए काफी है, ऐसा इन उपन्यासों को पढने से नहीं लगता। इन उपन्यासों से स्त्री के व्यक्तित्व को नये सिरे से पहचानने और पाने की कोशिश की गयी है। पुरूष की ज्यादतियो का, स्त्री के खिलाफ बर्बरता से बल प्रयोग किया, उसे दूसरे तीसरे दर्जे की हैसियत तक पहुँचा देने की मानसिकता का वर्णन–चित्रण भी अन्तिम दशक के उपन्यासों में किया गया है। ऐसे

वर्णन प्रसग कथानक रचते है, सिर्फ एक परिदृश्य बनाते है, पर महत्वपूर्ण है वह बोध जो स्त्री के भीतर इनसे पैदा होता है। जैसे 'कठगुलाब' की 'मारियाना' का यह कहना कि 'औरत खुद एक–विडम्बना है'। खास बात है समाज मे अपनी गैर–बराबरी का एहसास सदियो से 'जरीदार ओढनी' की तरह कधो पर पडे परम्पराओ के बोझ को उतार फेकने मे अपनी मुक्ति तलाशने की कोशिश। पुराने 'औरतनुमा छल प्रपंच' के वारे में उसकी नापसदगी यानी मातृत्व की परम्परागत व्याख्याओ की नये सिरे से जॉच करने और उनसे इकार करने का हौसला।

और एक उल्लेखनीय विशेषता अपनी निजता का अतिक्रमण और विस्तार भी है। स्त्री अपनी निजी और विशिष्ट अनुभव सम्पदा के प्रति न तो उदासीन है और न तो उसके रचनात्मक उपयोग में कैसे भी सकोच का अनुभव करती है। वह अपनी निजता से शुरू करके एक विस्तृत और व्यापक जीवन जगत से अपने को जोडती है।

अन्तिम दशक में महिला उपन्यासकारों ने स्त्रियों की समस्या को लेकर कई उपन्यास लिखे। प्रभा खेतान में 'छिन्नमस्ता' (1993), 'अपने–अपने चेहरे' और 'पीली ऑधी' जैसे उपन्यासो की रचना की। इनकी रचना 'छिन्नमस्ता' प्रिया नामक ऐसी स्त्री की कहानी है जो निरन्तर शोषित है। समाज की रूढियों से और पुरूष की व्यवस्था से भी।

प्रभा खेतान ने अपने लिए जो क्षेत्र चुना है वह उनका बहुत परिचित और अपना क्षेत्र है। वह समाज की जड़ता और अन्तर्विरोधों से जूझते और टकराते हुए आज इस स्थिति को पहुंची हैं। कोई भी टकराव आदमी को किसी न किसी स्तर पर लहुलुहान करता है। इस टकराव में मै स्वय अपने और उनके प्रति अपनी दृष्टि को नये सिरे से तौलने–परखनें की जरूरत होती है जो अपने होने पर भी उसके लिए पीडा और यातना का समानातर ससार रचते है।

प्रभा खेतान का रचनात्मक क्षेत्र मारवाडी समाज की महिला का आत्मसघर्ष है। जो एक रूढ, परम्पराप्रिय और बन्द समाज से टकराते और अपने को भावनात्मक स्तर पर लहुलुहान करते हुए अपने अस्तित्व को नये सिरे से परिभाषित करने के सघर्ष में जुटी है।

इनका पाचवॉ उपन्यास 'पीली ऑधी' राजस्थान के मारवाडी सेठ गुरमुख दास रूँगटा की हवेली से लेकर कलकत्ता में 'रूँगटा हाउस' तक सयुक्त परिवार के तीन पीढियो के बसने–उजडने और टूटने विखरने की विकास कथा है।

'पीली ऑधी' की प्रथम फ्लैप पर एक छोटा सा साराश दिया गया है। मेरे विचार से यह साराश इस उपन्यास का अर्थायित करने की समझदारी पैदा करता है और साथ ही कथापाठ के लिए आकर्षण भी। वह मुद्रित अश है – यह न आत्म कथा है न पटकथा इस उपन्यास में कोई एक परिवार नहीं, इसमें कुल है, कबीला है – संयुक्त परिवार है – मगर सब कुछ टूटता हुआ। उडती हुई रेत की दूहें जैसे स्त्री, पुरूष और उनकी किरकिराती हुई रेतीले क्षण। तीन पीढियों की स्त्रियॉ चाची, बडी मॉ और सोमा, अपनी–अपनी बात कहते हुए भी खामोशी की धुन्ध में खोती हुई।

बगाल की बारिस में, कीचड से सनी हुई सड़कें, राजस्थान के पदचापो की धड़कन सुनेगी और कहेगी–अरे यह 'पीली ऑधी' बंगाल में क्या कर रही है।

मैत्रेयी पुष्पा का 'इदन्नमम्' (94) 'चाक' (97) 'झूलानट' और 'अलमा कबूतरी' स्त्री–समस्याओं को लेकर लिखा गया उपन्यास है।

'इदन्नमम्' के बारे में कहा जा सकता है कि 'इदन्नमम्' सामती समाज के हिसक अन्तर्विरोधों और दोहरे चरित्र को जानने समझने के साथ–साथ बदलते परिवेश मे अन्य विकल्पों की अनंत सम्भावनाओं की तलाश मे निकली ग्रामीण अनपढ ॲगूठा टेक औरतों की (आत्म) कथा है,

जिसे उनकी अपनी भाषा मे उनके सकल्पो का शपथपत्र भी कहा जा सकता है।" [1]

'चाक' ब्रज क्षेत्र मे अलीगढ की तहसील इगरास के एक गॉव छतरपुर को केन्द्र मे रखकर विकसित होता है। 'चाक' उपन्यास एक स्त्री की लम्बी लडाई का वृतान्त है इसी अर्थ में उसके मुक्ति सघर्ष की महागाथा। 'अलमा कबूतरी' में भी वह दलित –विमर्श और नारी–विमर्श का चित्रण करती है।

'कठगुलाब' (1996) उपन्यास मे स्त्री की एक अलग छवि उभर कर आती है। 'कठगुलाब' स्त्री मुक्ति को समाज से निरपेक्ष एक ऐसी आत्यतिक समस्या मानकर लिखा गया है, जिसके बारे में मुद्दे–मुहाबरे पश्चिमी 'फेमिनिज्म' से लिए गये है – विरोध और समर्थन दोनों में।

इस उनन्यास के सभी पात्रो के लिए परिवार या विवाह सस्था समाप्त हो गयी है। 'कठगुलाब' की मूल समस्या श्रम और उत्पादन के स्रोतो कटे और परोपजीवी लोगों के 'बजर' की कहानी है, जिनकी जिंदगियों को अपनी सार्थकता 'बोसाई' या 'कठगुलाब' के प्रतीको में दिखाई देती है।

'कलिकथा: वाया वाईपास' (97) अलका सरावगी का महत्वपूर्ण उपन्यास है साथ ही अन्तिम दशक का भी महत्वपूर्ण उपन्यास है। 'कालीकथा वाया बाईपास' कथानक किशोर की तीन जिंदगियों की कहानी है। मारवाडी समाज या जीवन–शैली पर उपन्यास लिखने वाली अलका सरवगी दूसरी लेखिका है।

---

[1] (औरत–अस्तित्व और अस्मिता–अरविन्द जैन पृ0 101)

श्रीमती चित्रा मुद्गल का 'आवां' (99) एक महत्वाकांक्षी प्रयास है जो एक ओर यदि नारी विमर्श की गहरी पडताल के कारण उल्लेखनीय है तो दूसरी ओर इसलिए भी महत्वपूर्ण है कि ट्रेड यूनियन और मजदूर आन्दोलन से सम्बधित किसी महिला उपन्यासकार द्वारा लिखित यह हिन्दी का शायद पहला उनन्यास है।

यो तो कहने को यह उपन्यास एक नई जमीन पर लिख गया है जिसमे ट्रेड यूनियनो की समझौता परस्ती, पतनशीलता उनका अन्दरूनी सघर्ष और उसमें घुस आयी अपराधी प्रवृतियो की पडताल शामिल है लेकिन उसका केन्द्रीय तत्व स्त्री है। स्त्री जाति की आधुनिक समाज मे स्त्री की स्थिति उसका जीवन संघर्ष शोषण और उत्पीडन वर्णित है।

कुल मिलाकर कथा–साहित्य मे स्त्री विमर्श जो कि छठे–सातवे दशक से शुरू हो जाता है अन्तिम दशक आते–आते अपने पूर्ण चरम पर पहुॅच चुका है।

अन्तिग दशक के कथ्य उपन्यारो में स्त्री से सम्बन्धित हर सवाल उठाया गया है चाहें वह उसकी शिक्षा, अस्मिता से सम्बन्धित हो या सामाजिक आर्थिक, परम्परा उसके सामने लायी गयी समस्या हो। उन सभी समस्याओ को उन्होने उठाया और उसका पर्याप्त हल खोजने का भी प्रयास किया।

'छिन्नमस्ता' के माध्यम से प्रभा जी ने नारी का स्वाभिमान और उसका अस्तित्व, व्यक्तित्व को सामने लाने की कोशिश की है। यह इनका आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया का बचपन अपने परिवेश और समाज की टकराहट के गहरे जख्मों और टीस से भरा है दस वर्ष की उम्र मे ही वह चौदह की लगती थी और घर में अपने ही भाई बहनो से उसे इसके लिए क्या क्या नही सुनना होता था। प्रिया अपने परिवार की चौथी और सॉवली लड़की है इसलिए उसे दूसरों

से ही नही स्वय अपनी मॉ से घृणा और उपेक्षा ही मिली। दाई मॉ ने यदि मॉ जैसी ममता देकर उसे पाला न होता तो पता नही उसका क्या होता अपने स्वास्थ्य के कारण वह 'पागा' अर्थात बछेडी और 'मिलिट्री घोडा' कहकर चिढाई जाती थी जो चार कदमों मे ही कमरा पार कर लेती थी। मॉ की उपेक्षा और अपने को मनहूस समझी जाने के कारण ही शायद वह बीमार रहने लगी थी। कार्तिक की नवमी को उसका जन्म होने को कारण पिता के लिए वह जरूर लक्ष्मी के रूप मे आयी थी।

पहले बडे घर की बेटी और उसके बाद में उससे भी बडे घर की बहू होकर भी वह एक भयावह सन्नाटे के बीच पली–बढी और उस सब की अभ्यस्त हुई। अपने को जिस तरह उसने गढा और बनाया है, उसमे इसी कारण अडतालीस की उम्र मे भी वह एक मुकम्मल और साबुत औरत के रूप से अपने को बचाये रख सकी है। दस वर्ष की उम्र को पहुॅचते–पहुॅचते अपने ही बड़े भाई से मिला वह 'अनुभव' कहीं न कहीं उस परिवेश का ही स्वाभाविक परिणाम है जिसमें लड़के को सारी छूट, सुविधाओं और लाड दुलार के बीच पाला जाता है वह लड़की का उसके लड़की होने का दण्ड और उपेक्षा एक ऐसी सहज स्थिति मान ली जाती है कि इसमें किसी को कहीं कुछ गलत लगता ही नही।

गहरी असुरक्षा और उपेक्षा के बीच पलते और बढते हुए सिर्फ बाबूजी पिताजी ही थे जो उसे वट वृक्ष जैसे लगते थें परन्तु सम्पत्ति के लोभ मे एक षड्यन्त्र के तहत सम्बन्धियों और हिस्सेदारों द्वारा ही पिता की हत्या के बाद वह पुरी तरह असुरक्षित और बेसहारा हो जाती है।

कालेज मे एक बार असीम ने उससें एक बार उसे देखकर कभी किसी के भूल न पाने की बात कहकर उसकी असुरक्षा और उपेक्षा को तोडने की कोशिक की थी लेकिन मारवाड़ी समाज में किसी लडकी का एक बंगाली लडके से विवाह की कल्पना ही सिहरन पैदा करती थी।

इसीलिए और भी जल्दी मे नरेन्द्र द्वारा उसे पसन्द किये जाने पर उसे बडे घर की बहू बनाकर मुक्ति की सॉस लेने का मौका उसके परियार जनो को एक तरह से अपना सौभाग्य ही लगता है।

अपने व्यवसाय की शुरूआत उसके लिए एक आइडेटिटी है। इसलिए उसने अपने लिए मोटो निर्धारित किया है--काम को काम की तरह किया जाना चाहिये। अपने व्यवसाय के प्रति एक निष्ठ समपर्ण नरेन्द्र को परेशान करता है। शुरू मे नरेन्द्र को यह लगा ही नही कि अपने निजी व्यवसाय के रूप मे प्रिया की छोटी सी शुरूआत उस पर उसके स्वामित्व के अन्त की शुरूआत भी है। अपने व्यवसाय के सिलसिले में जब वह लदन जा रही थी तो उसने साफ कहा था कि लन्दन जाने का अर्थ है कि तुम इस घर से हमेशा के लिए जाओगी और बेटे सजय पर भी कोई अधिकार नहीं रहेगा।

अपने ससुर की अबैध सन्तान नीना को परिवार और व्यवसाय में शामिल करके वह उपेक्षित, तिरस्कृत स्त्री के हक की लडाई भी लडती है।

प्रिया के चेतन अवचेतन मे इतने अन्तर्विरोधी और विसंगतिपूर्ण भ्रमजाल फैले पडे हैं कि उसे खुद पता नही कि वह क्या है? क्यों है? जो है वह स्वीकारती क्यों नही? कहती है--"मैं विशिष्टता के बोझ के नीचे दबना नहीं चाहती और न ही अब ज्यादा गंभीरता से अपने को ले पाती हूँ।" लेकिन वस्तुस्थिति ठीक इसके उलट है, पुरुष की कोई भूमिका उसे अब अपने जीवन में लगती नही, वह क्या दे देगा? लेकिन उसका शरीर एक पुरूष का स्पर्श भी चाहता है।

'छिन्नमस्ता' कुलीन, भद्रलोक में अपनी अलग पहचान जमीन और व्यवस्था बनाने का खतरा बताती दिखाती शायद पहली आत्मकथा

(आत्म विश्लेषण) है, जिसमें बहुत कुछ ऐसा है, जो कहा नहीं गया था अब तक।

'पीली ऑधी' स्त्री विशयक चिन्तन को लेकर लिखा गया दूसरा उपन्यास है। 'पीली ऑधी' राजस्थान के मारवाडी घराने की वृहत्कथा है। मारवाडी सेठ गुरूमुख दास रूंगटा की हवेली से लेकर कलकत्ता मे रूगटा हाउस तक एक संयुक्त परिवार की तीन पीढियो के रचने बसने, उखड़ने, टूटने, बिखरने और फिर अलग होने की विस्तृत विकास कथा। कथा का धरातल लम्बा है इसमे सयुक्त परिवार का विस्तृत जगल है। सम्बन्धो में माधुर्य का अभाव है परम्पराएं, पर रूढि के निर्वाह मे, सम्बन्धों की बुनावट में नही। सम्बन्ध है पर सडते–गलते विखराव लेकर। पूँजी है, व्यापार वृद्धि है पर पहचान के लिए आत्मसंघर्ष की छटपटाहट । स्त्री शक्ति पराधीनता का अनुभव करती है, परन्तु मुक्ति के लिए मार्ग अवरूद्ध है। 'पीली आधी' मारवाडी संस्कृति का कथात्मक दास्तावेज है।

'पीली ऑधी' का प्रस्थान वृत्त अकाल कथा है। इस उपन्यास का आरम्भ हीं वहॉ से होता है, जहॉ "तीसरों सूखो आठवों अकाल" आदमी की नियति है। 'पीली ऑधी मे बडे–बुढों का जीवन उपदेश देते बीतता है। स्त्रियॉ प्रायः बेटियो–बहुओं को यह सीख देती दिखलाई पड़ती है कि प्यास पर कैसे कावू पाया जाता है। सात–आठ कोस से पानी लाने मे रेत में भी बहू–बेटियों का पैर कहीं फिसल न जाय, इस बात की विशेष चिन्ता की गयी है। 'पीली ऑधी' में दिसावरी के लिए निकलने वाले मारवाडी बाणिये सूखा और अकाल से उतने भयमीत नहीं हैं जितने कि सामन्ती उत्पीडन से। सामन्ती उत्पीडन को भी वे झेलकर जाते मगर कम्पनी शासन के नजराना से वे अधिक बेहाल थे। इस तरह सामन्ती उत्पीडन और कम्पनी सरकार के धनदोहन के बीच पिसते हुए ये मारवाड़ी

बाणिये दिसावरे के लिए अभिशप्त थे। उपन्यास के आरम्भिक पृष्ठ तीन तरह की मारवाडी व्यथा का संकेत देते है– ए तो अपने क्षेत्र (राजस्थान) मे पडने वाला सूखा (अकाल), दूसरे सामन्तो का उत्पीडन, तीसरे अग्रेजी सरकार की शोषण नीति। इस त्रिगर्त से निकलकर भाग खडा होने के अतिरिक्त इन मारवाडियों के समक्ष कोई विकल्प नहीं था।

इस उपन्यास मे अग्रेजी राज के बर्बर अत्याचार और देशी राजाओं की शान का वृत्त उपस्थिति कर पराधीन भारत की पिसती, उखडती जनाकाक्षाओ का रेखांकन किया गया है। कम्पनी सरकार को नजराना भेजना, देशी राजाओ की शान को चमकाना, सेठ साहूकारो की नियति बन गयी थी। इस कूर वातावरण मे भी जीने की विवशता ही थी। श्रम किसी का उत्पादन, किसी का और मौज–मस्ती दूसरो की। वृद्ध सेठानी के माध्यम से लेखिका ने इस तथ्य को उद्घाटन किया है, " हमारे बेटे–पोते जगल–जंगल भटकें, दिसावरी करें और रामराज रूपया खोस ले।"[1]

इस तरह सामान्ती उत्पीडन अंगेजी कम्पनी का नजराना, मदिर से लौटती हुई बाणिये की लुगाई को उठाकर ले जाना, बूँढ़े लाचार ससुर की कातर पुकार, खाली मुट्ठी और ऑखो में अंधेरे का छाना और अन्ततः अपनी जमीन की आन्तरिक त्रासदी को झेलना, मर्यादाओं का उल्लघन आदि प्रसंग 'पीली आधी' के कथाविन्दु हैं।

'पीली ऑधी' में राजस्थान की मरूभूमि से चलकर कॉदा–कीचड भरी आडी नगरी कलकत्ता में स्थापित हुए मारवाडी बणिकों की आप–बीती दास्तान कही गयी है। इस समय के अनकहे इतिहास और

---

[1] पीली ऑधी पृ 9

उसकी मनोभूमि को समझने का प्रयास किया गया है। उपन्यास का एक पात्र किशन सिर्फ व्यापार के निमित्त कलकत्ता आता है। यहाँ पर पहले से ही बसा हलवाई किशन को सलाह देता है कि यह नगर रहने के लायक नही है, यह दोजख है। यहाँ पैसा तो कमाया जा सकता है मगर जीवन नही जिया जा सकता। सभी व्यस्त है अपने में सवेदना का यहाँ लोप है। कलकत्ता सट्टेबाजी का शहर है। यहाँ अधिकतर मारवाडी आ बसे है। बाजार में बडी–बडी गद्दियाँ हैं, जिनमें व्यापार के लिए निकले बहे आकर बसते है, खटते हैं और खा–पीकर सो जाते है।

'पीली ऑधी' की मुख्य कथा –'अकाल कथा' है, 'स्त्री कथा' है, 'पुरानी और नई संस्कृतियों के अन्तराल' की कथा है। गौण कथा में स्त्री और पुरूष के पुराने और नये विविधताधर्मी सम्बन्ध तथा अन्तराल सम्मिलित किये जा सकते हैं। अंग्रेजो और सामन्तों का बर्बर शोषण नीति तथा पराधीन भारत की व्यापारिक दशा और दिशा का वर्णनात्मक उल्लेख भी आनुषंगिक वृत्त के अर्न्तगत ही रखा जा सकता है।

'पीली ऑधी' भविष्य की स्त्री का सपना भी है और नये सविधान की रूप रेखा भी। विवाह संस्था और परिवार के विधान और अर्थशास्त्र को समझने–समझाने की दिशा मे, पीली ऑधी, सार्थक और महत्वपूर्ण भूमिका है। किसी कथा के बहाने इतिहास से प्रश्न करना और वर्तमान को चुनौती देना प्रभाखेतान जैसी जागृत कथा–शिल्पी द्वारा ही सम्भव है।

'इदन्नमम्' (मैत्रेयीपुष्पा) उपन्यास की कथा विंध्यअंचल की माटी, हवा, जल, अग्नि और आकाश उस अचल के पंचतत्वों से ही निर्मित है, जिसमें वहीं के जन–जीवन की एक–एक धड़कन सॉस लेती ही। यह कथा है, तीन पीढियो के नारी चरित्रो की, जो वहाँ के नदी, पहाड़, धूल, जगल, झाड़ी के बीच ही, फले–फूले है। जो वहाँ के रीतिरिवाजों से बँधे

हुए है और जो शोषको–उत्पीड़कों के साथ–साथ न्याय रक्षा को ही अपना उच्चतर जीवन मूल्य मानने वालों के बीच सजीव रूप में अब स्थिति है। उपन्यास का कैनवस बहुत विस्तृत है। इसमे एक ही साथ कई दृश्य सत्यो को उकेरने–समेटने की कोशिश की गयी है– एक ओर तीन पीढ़ियों के नारी पात्रों को उनके परिवेश के साथ विम्ब–प्रतिविम्व रूप में चित्रित किया गया है और इनके द्वारा अपने अपने ढ़ग से समाज के साथ चलने या उसके विरोध को पूरी व्यपकता के साथ रूपायित किया गया है तो दूसरी ओर राजनीतिक आर्थिक शोषण, अत्याचार, झूठ, विसंगतियों तथा इनसे लड़ते, जूझते विरोध करते हारते एव जीतते लोगों की संघर्ष यात्रा को भी व्यापक पैमाने पर चित्रित किया गया है।' यह जितना हमारे समय की जुझारू स्त्री से सम्बन्धित है, उतना ही उस सामाजिक पारिवारिक आर्थिक व्यवस्था और नाते–दारियों के अत्याचारी रूझानों से भी जिनसे उपन्यास की नाभि 'गन्दा' (गन्दाकिनी) उसकी बाल सहेली सुगना और दिलेर कुसमा लगभग अघोषित तौर पर संगठित होकर लड़ती है।" [1]

उपन्यास की कुल कहानी मन्दा और 'बउ'(सोनपुरा की मातौन) की कहानी है। अपने बेटे महेन्दर सिंह की राजनीतिक हत्या और महेन्द्रर सिंह की जवान विधवा प्रेम का घर छोड़ भाग जाने और मृतक महेन्द्र सिंह की जायदाद के लिए मुकदमा लंड़ने से आतंकित और घबड़ाहट, बऊ, (मन्दा की दादी) को इसलिए अपना गॉव सोनपुरा छोड़ श्यामली गॉव के परधान दादा पंचम सिंह की शरण लेनी पडती है। क्योंकि मन्दा की मॉ प्रेम भी कुचकियो के षड्यन्त्रो का शिकार हो अपने घर से निकल चुकी है। नैतिक और आर्थिक स्तर पर छलनी–दलनी और लगभग टूट चुकीं

---

[1] साक्षातकार , जुलाई पृ 103

'बऊ' जब श्यामली गॉव पहुॅच अपनी पोती मन्दा को गहरी नींद से जगा रही है तो ऐसा लगता है एक समूची विरासत निद्रा मे डूबी हुई नई पीढ़ी के कधो को थपथपा कर कह रही हैं, लो इतने देर से हम और क्या कर रहे है। मन्दा की उमर तब फ्राक पहनने वाली है, लगभग तेरह। उपन्यास पढते हुए मुर्च्छित स्त्री चेतना की मुर्च्छा टूटेगी और नीद भी खुल जाया करेगी।

श्यामली गॉव के प्रधान दाऊ पचम सिह और उनके परिवार के अन्य भाई बन्द बलभद्र, यशपाल दारोगा, विक्रम सिंह, लाभ–हानि का समीकरण विठाने वाले गोविन्द सिह, मन्दा का किशोर मित्र मकरंद, देवगढ़ वाली कक्कों और यशपाल की परित्यक्कता कुसमा और दाऊ अमर सिह के अनैतिक सम्बन्धों का व्यौरेवार और चुनौतीपूर्ण इतिहास लिखता उपन्यास जब श्यामली से उठकर सोनपुरा फिर लौटता है तब उपन्यास का यह वाक्य 'दसिया देस' को ही जाता है' कवि केदार नाथ सिंह की पंक्तियो की याद दिलाता है– 'ओह मेरी भाषा / मै लौटता हूॅ तुममे /' सोचते तो बहुतो को देखा जा सकता है पर मैत्रेयी पुष्पा की तरह लौटने वाले विरले ही होंगे।

मुख्य कथानक के साथ–साथ उपन्यास में कुछ उप कथानक भी है। आजादी के पहले और बाद के हिन्दू मुस्लिम सम्बन्धों में आती खटास और अलगॉव, आजादी के बाद की भारत की पतनघाती, भ्रष्ट राजनीति और नौकरशाही, ग्रामीण विकास, परम्परागत ग्रामीण समाज और विकास के नाम पर लगी चली आती सामाजिक विकृतियॉ, जमीदारों और जागीरदारों के जबडों से मुक्त होकर छुटभैयो राजनेताओं और असंख्य ठेकेदारों, दलालों के चंगुल में फसता लोक समाज जातियों की राजनीति, आरक्षण, शहरों से चलकर गॅवई जीवन में सेंध लगाती आक्रामक और घृणित साम्प्रदायिकता की विकृति और उससे पैदा हुआ अवसाद यहॉ खूब

है। चीफ साहब की कथा, रतन यादव और अभिलाषा सिंह की कथा, आरक्षण पीडित भृगदेव की कहानी और मन्दा के प्रेरणा केन्द्र और दिग्दर्शक महाराज की कथा उपन्यास को एक ऐसे ठिकाने पर ले आते है जहॉ से आजादी के बाद की सम्पूर्ण राजनीति सामाजिक जीवन और उसे चारों ओर से घेरते जाते कठिन और उलझे सवालों का साक्षात्कार किया जा सकता है। लेखिका का मन इन कहानियों में टूटा–टूटा हुआ सा है पर इसकी छतिपूर्ति करती हुई वह जिस तरह से मन्दा के चरित्र को रचती है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसने विकृति, विघटन, निराशा और अवसाद को अपने लेखन के आधार मूल्य के रूप में न तो अंगीकार किया और न ही इनके सामने घुटने टेके है। उसे परिस्थितियों से ऑख मिलाना आता है और मनुष्य की सामूहिक लड़ाई मे उसकी घनघोर आस्था है।

मन्दा केवल परम्परागत खेती–किसानी वाला सनातन दिमाग नही है। नई सामाजिक आर्थिक चुनौतियों और राजनीतिक कतर–न्यौतों को समझती हुई वह उस अगले मशीन युग (कलयुग) को लेकर भी सजग है, जिसमें नई मनुष्यता को अपना सफर तय करना है। अगर आज वह अभिलाषा सिंह जैसे ठेकेदारो के खिलाफ लोकशक्ति की प्रतीकात्मक आवाज बन सकी है तो उन भैया जी टाइप लोगों से भी निपटेगी जो अत्याधुनिक टेक्नालॉजी के स्वामी और एकाधिकारवादी हैं। 'इदन्नमम्' का अर्थ ही यही है कि यह लडाई अब अस्तपाल और निजी जायदाद के लिए नही, उस विराट जनसमूह के सुखद एतिहासिक भविष्य के लिए है, जिसे भारत माता कहते है। इस दृष्टि से यह कथानक भरा–पुरा, अत्यन्त सुगठित और योजनाबद्ध है।

मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' (1997) ब्रजक्षेत्र में अलीगढ़ की तहसील इगरास के एक गॉव अतरपुर में केन्द्र मे रखकर विकसित होता

है। बुन्देल खण्ड और ब्रज का निकटवर्ती क्षेत्र मैत्रेयीपुष्पा की मुख्य कथा भूमि है, लेकिन क्षेत्र का यह सीमांकन उन्हे आँचलिकता के आग्रह से मुक्त रखता है।

एक हजार की आबादी वाला गॉव लगभग एक वैसा ही गॉव है, देश के स्वाधीन दौर मे जैसे गॉव तेजी से बने और विकसित हुए हैं। इस गॉव अतरपुर मे ब्राह्मण, बनिया और जाट जैसी प्रमुख जातियों के अतिरिक्त तेली, गडरिया, कुम्हार, खटिक, चमार नाई और सक्का मुसलमान जैसी अनेक छोटी जातियॉ भी हैं। फिर भी कुल मिलाकर यह जाटो के वर्चस्व वाला गॉव है। नवे दशक की विकास योजनाओं ने गॉव को काफी बदला है। इस विकास ने उसे एक खास पहचान दी है। चकरोड द्वारा गॉव को सडक से जोड़ दिया जाता है, टयूबबेल के बहाने गॉव मे विजली भी पहुॅची है जिसके कारण कुछ घरो में रेडियों की आवाज गॅूजने लगी है, अब टी. बी आने की चर्चा भी है। गॉव मे एक प्राइमरी स्कूल भी है। भलें ही वह बच्चों की पढ़ाई से अधिक प्रधान और उसके हाली–मवालियों की राजनीति का अड्डा हो।

इसी परिवेश मे सारंग की फुफेरी बहन रेशम की मौत की नाटकीय सूचना से उपन्यास शुरू होता है। रेशम की मौत सामान्य कहकर प्रचारित किये जाने पर भी सामान्य नहीं है। उसके ऊपर मिटौरा गिराकर उसके जेठ डोरिया ने उसकी हत्या की है। जिसमें उसके पूरे परिवार की सहमति रही है, सहयोग भी। रेशम का पति करमवीर फौज में हवलदार रहता है लेकिन जहरीली शराब पीने से उसकी मौत हो जाती है। परिवार के सारे लोग चाहते हैं कि रेशम को उसके जेठ डोरिया के साथ विठा दिया जाय लेकिन रेशम इसके लिए तैयार नहीं थी। विस्फोट तब होता है जब वह अपने प्रेमी का अंश अपने पेट में होने की घोषणा करती है और

अपने साहसिक निर्णय से पूरे घर–परिवार में आग लगा देती है। उसकी हत्या उसके साहस की अनिवार्य परिणति बनकर आती है।

उपन्यास मे यह कथा मूल रूप से दो परिवारों को केन्द्र मे रखते हुए भी पूरे गॉव की संघर्ष कथा के रूप में विकसित होती है। सारग इस हत्या को गम्भीरता से लेती है और चाहती है कि अपराधियों को सजा मिले। उसका पति रजीत एग्रीकल्चर मे एम.एस.सी. है लेकिन छोटी–मोठी नौकरी न करके अपनी खेती देखता है। उसका बड़ा भाई दलबीर पुलिस में दीवान है। उनक वाप गजाधर सिंह ब्रिटिश सेना में हवलदार था और घर गॉव में आज भी उसकी सुनी जाती है। बहू सारग की बात उसे न्याय सगत लगती है। वह भी बूढे सेनापति के लहजे मे रजीत को ललकारता है और रेशम के ससुराल वालों पर मुकदमा ठोंक दिया जाता है। बाद मे स्कूल मे आया मास्टर श्रीधर, जो अपनी जाति कुम्हार छिपाने के बजाय अपने नाम के साथ जोडकर श्रीधर प्रजापति के रूप में उस संघर्ष को एक नया आयाम देता है।

'चाक' मे हमें एक खास प्रकार का नया शिल्पगत नया आकर्षण दिखाई पडता है। चार सौ चौंतीस पृष्ठों के इस मोटे उपन्यास को शुरू से अन्त तक पढते हुए पाठक कहीं ऊब नहीं महसूस करता, वह किसी प्रकार का दबाव भी अपने मानस पर नहीं महसूस करता। ऐसा भी नही लगता है कि उपन्यास का आकार किसी अवान्तर दबाव या प्रेरणा से फैला दिया गया है। कथानक में पात्रों या चरित्रों की भीड़ है, ऐसा लगता है कि गॉव के सभी टोलो के सभी घरों के लोग कथा में पात्र बनकर आ गये है और प्राय. सभी प्रमुख पात्रों के जीवन से जुड़ी एक कथा है। उन सारी कथाओ को अत्यन्त मनोयोग और संयम से गूथ कर पूरे उपन्यास की कथा तैयार की गयी है।

इस उपन्यास का कथ्य यह है कि स्वतत्रता जीवन के लिए आवश्यक तो है, लेकिन उसे पाना अत्यन्त कठिन है, रेशम को जान देनी पडी, गुलकन्दी, उसकी मॉ, हरिप्यारी और उसके पति विसुन देवा को भी जान देनी पड़ी, सारग को कई बार मार खानी पडी अपने पढ़े–लिखे पति रजीत के हाथों श्रीधर, को भी घातक हमला झेलना पड़ा। लेकिन ये सभी प्रसग कुछ न कुछ नयापन लिये हुए है यानी एकदम परम्परागत या रूढ़िवादी नही है। ये चरित्र नये प्रश्न उठाते हैं जीवन में जिन्हें सकमणशील समाज भी नही झेल पाता। रेशम की हत्या कर दी गयी लेकिन दहेज के लिए नहीं उसका पति मर गया, वैधव्य मे उसने गर्भ धारण कर लिया। औरतो ने इज्जत बचाने के लिए गर्भपात कराने की सलाह दी और रेशम ने इन्कार कर दिया। इसी पर एक रात उसे दुनिया से विदा कर दिया गया यह हत्या का नया रूप है। नया प्रश्न है विधवा को भी गर्भधारण करके संतान पैदा करने और जीने का अधिकार क्यों नहीं मिले? भारतीय नारी के जीवन के लिए यह नयी स्वतंत्रता है। जीवन मे आज भी शायद ही कोई इसे स्वीकार करें, लेकिन लेखिका ने यह प्रश्न नारी के पक्ष मे उठाया है। यह प्रश्न विधवा विवाह के अधिकार से भी भिन्न है। सांरग इस अधिकार के पक्ष में है। हत्या का विरोध करती है, संगठित विरोध। रेशम की हत्या किये जाने पर सारंग सोचती है–'अंधियारी ने ढक लिया उजियारा।' सारंग उजियारें की रक्षा में खड़ी होती है, वह गॉव का इतिहास बदलना चाहती है। क्यों कि गॉव के इतिहास की दास्तानें बोलती हैं– रस्सी के फंदे पर झूलती रूक्मणी, कुएं मे कूदने वाली रामदेई, करबन नदी में समाधिस्थ नारायणी– ये बेबस औरतें सीता मइया की तरह भूमि प्रवेश कर अपने शील–सतीत्व की खातिर कुरबान हो गयी। यही नही और भी न जाने कितनी। बूढ़ी

खेरापातिन इस तरह की कथाए सुनाती है। सारंग चाहती है कि बूढ़ी अब नयी कथा सुनाएं । उस कथा की शुरूआत सारग के संघर्ष से होती है।

कुल मिलाकर यह उपन्यास आज के गॉव के माध्यम से समकालीन भारतीय समाज के एक महत्वपूर्ण अग के यथार्थ और उसकी गतिशीलता का परिचय देता है।

मैत्रेयी पुष्पा का लघु उपन्यास 'झूलानट' (1999) भी स्त्री संघर्ष की कथा है। गॉव की साधारण सी औरत है शीलों न बहुत सुन्दर और न बहुत सुघड़ .....लगभग अनपढ़। न उसने मनोविज्ञान पढ़ा है, न समाजशास्त्र जानती है, राजनीति और स्त्री विमर्श की भाषा का भी उसे ज्ञान नही है। पति उसकी छाया से भागता है। मगर तिरस्कार और उपेक्षा की यह मार न शीलो को कुएं वावड़ी की ओर ढकेलती है और न आग लगाकर छुटकारा पाने की ओर। वशीकरण के सारे तीर तरकश टूट जाने के बाद उसके पास रह जाता है जीने का निःशब्द सकल्प और श्रम की ताकत एक अडिग धैर्य और स्त्री होने की जिजीविषा..................। उसे लगता है कि उसके हाथ की छठी ऊगली ही उसका भाग्य लिख रही है... .....और उसे ही बदलना होगा।

मैत्रेयी भाषण नहीं देती हैं वह पात्रों को उठाकर उसके जीवन और परिवेश को पूरी नाटकीयता में देखती हैं। सम्बन्धों के बीहड़ों में धीरे–धीरे उतरना उन्हें बेहद पठनीय बनाता है। न जाने कितनी स्थितियॉ, प्रसग और घटनाए हैं जिनके चकव्यूहो मे अनायास ही उनकी नायिकाओं के नख–शिख उभरते चलते हैं। मुहावरे दार जीवंत और खुरदुरी लगने वाली भाषा की 'गॅवई उर्जा' उनका ऐसा हथियार है जो उन्हें अपने समकालीनों मे सबसे अलग और विशिष्ट बनाता है। अपनी प्रमाणिकता में उनका हर चरित्र आत्मकथा होने का प्रभाव देता है और यही उनकी कथा सम्पन्नता है।

'कलिकथाः वाया बाईपास' युवा कथाकार अलका सरावगी का पहला उपन्यास है जो इतिहास की अपनी समझ और ऐतिहासिक, सर्जनात्मक कल्पना की दृष्टि से उल्लेखनीय है और अलग तरह की पहचान बनाता है।

इस उपन्यास में वाचक और कथानायक किशोर बाबू एक साथ वर्तमान, अतीत और भविष्य में उपस्थित हैं। वें स्मृति, अनुभव और कल्पना के सहारे समय के तीनों आयामों में एक शिल्पगत युक्ति के सहारे आवा–जाहीं बनाये हुऐ हैं। वे जिस मारवाड़ी समाज के सदस्य हैं उसके हर परिवार की घर से बेघर होने की अपनी कथा और व्यथा है। इस कथा को सुनाने वालों की समृतियों में अतीत का प्रभाव है। कलिकथा के शान्तनु की शिकायत है, 'तुम लोगों के दिमाग पर मरूभूमि के अकाल की छाया हमेशा के लिए पड़ गयी है।

वंगाल पहुॅचने पर इन मारवाड़ियों का सबसे पहले सामना उस वंगाली संस्कृति से पड़ा जो तरह–तरह से उनमें 'मेड़ो' या 'खेट्टा' होने का एहसास दिलाती रही हैं। सिराजुद्दौला की हार के लिए दोषी ठहराकर उनमें अपराध–बोध पैदा करती रही है। इस देश से पीड़ित किशोर बाबू दस्ताबेजों के साक्ष्य से इतिहास का दूसरा पाठ प्रस्तुत करते है, 'ताकत और पैसे के पीछे पागल लोगों की कोई अलग जाति नहीं होती। ....क्या सबसे पहले बंगालियों ने ही अंग्रेजों को यहॉ पॉव जमाने में मद्द नहीं की थी।'

इस उपन्यास में अंग्रेजों के साथ व्यापारी वर्ग के सम्बन्धों की नये सिरे से पड़ताल करने की कोशिश की गयी है। हैमिल्टन उर्फ लाला जी राम विलास पर अपना वरद् हाथ ही नहीं रखते, वे गीता और उपनिषद पढ़ते हैं, उसे काली घाट के महत्व की जानकारी देते हैं। दार्शनिक चर्चाओं को सुन–समझकर उसमें भागीदारीं भी करते है।

'मारवाडी बनाम वगाली'– अलका सरावगी और मारवाडी जीवन शैली पर उपन्यास लिखने वाली दूसरी लेखिका, प्रभा खेतान, दोनों लोगो की दुःखती रग है। कलिकथा अमोलक बार–बार बडे दुःख से स्वीकार करता है, 'बगाल मे रहते हुए भी मारवाडी औरतें कितनी पिछडी हुई है।' कलिकथा की नारी पात्र प्रभा खेतान के नारी पात्रों से भिन्न हैं।

उपन्यास की शुरूआत उस समय होती है,' जब आजादी का खूबसूरत सपना सबका अपना है। जब आदमी को उड़ने के लिए एक आसमान चाहिए।' सबके सोचने का अपना–अपना ढग है। सुभाष बनाम गॉधी यानी शंतनु बनाम अमोलक, गॉधी बनाम हिन्दू महासभा और इन्ही के बीच मारवाड़ी जाति की चिंता करने वाले भी है, किशोर खुद उन्हीं में है।

किशोर बावू के अपने मोहभग का अलग सिलसिला है। शान्तनु से लम्बे समय के बाद भेंट, उसके कायाकल्प से उपना क्षोभ और निराशा। उन लोगों की जमात से साक्षात्कार जो स्वाधीनता आन्दोलन के आदर्शो को ताक पर रखकर स्वाधीन भारत में बेईमानी कर रहे है।

उपन्यास का अन्त इक्कीसवीं शताब्दी के प्रवेश से होता है। अन्त से पहले एक रेखाचित्र है इक्कीसवीं सदी के दरवाजे पर खड़े विश्व का। यह प्रवेश कैसा होगा? उपभोक्तावाद की अंधी दौड़ अन्ततः कहॉ तक ले जायेगी?

मृदुला गर्ग का 'कठगुलाव' स्त्री मुक्ति को समाज से निरपेक्ष एक ऐसी आत्यंतिक समस्या मानकर लिखा गया है, जिसके सारे मुद्दे, मुहावरे पश्चिमी 'फेमिनिज्म' से लिए गये है–विरोध और समर्थन दोनों में विशिष्ट सन्दर्भ मे स्त्री मुक्ति के सवाल को अपने समाज से जोड़कर देखे जाने की जरूरत है और यहॉ सवाल उन सबका सवाल है जिन्हें मुक्ति की जरूरत हैं। भारत का पुरूष सत्तात्मक समाज स्त्री को ही अपने दमन

का शिकार नही बनाता बल्कि वर्ण व्यवस्था के नाम पर एक बडे वर्ग को भी दलित बनाये रखता है। 'कठगुलाब' श्रम और उत्पादन के स्रोतो से कटे और परोपजीवी लोगो के 'बंजर' की कहानी है, जिनकी जिंदगियों को अपनी सार्थकता 'कठगुलाब' के प्रतीको मे ही दिखाई देती है।

'कठगुलाब' की अधिकाश प्रमुख पात्र (स्मिता मारियान, असीमा, नर्मदा और नीरजा) स्त्रियॉ हैं। शायद इसीलिए कि कथा में स्त्री के अन्र्तसम्बन्ध और अधिक जटिल एव दिलचस्प हो उठते हैं। अनपढ़ निम्नवर्गीय नौकरानी नर्मदा वगैरह के सिवा अधिकांश स्त्री चरित्र मध्यवर्गीय शिक्षित, स्वावलम्बी और स्वतन्त्र है। विवाहित, अविवाहित, तलाकशुदा और विधवा स्त्रियों के बीच अकेला पुरूष कथावाचक है विपिन, जो सभी प्रमुख स्त्री प्रमुख स्त्री–चरित्राो से किसी न किसी रूप में जुडा हुआ है। इस अकेले वौद्धिक पुरूष के बिना सभी स्त्रियों की कथा अधूरी है। इस के बाद एक, सब परिवार से स्वतन्त्र होने के बाद विपिन से सम्बन्ध बनाती तोड़ती हैं। सम्पूर्ण कथा महानगरीय अर्ध–चेतना में आत्मालाप करते पात्रों की बेहद जटिल और अराजक बौद्धिक कथा है। सबकी कहानी एक दूसरे में इतनी मिली है कि विस्मृतियों के जंगल मे सारे कथा सूत्र विखरे है।

'व्यक्ति के माध्यम से समाज और समाज के माध्यम से व्यक्ति को' समझने परखने की तरह उपन्यास के पात्रो को विपिन के माध्यम से और विपिन को अन्य पात्रों के माध्यम से समझने की कोशिश की गयी है

संक्षेप में उपन्यास के सभी प्रमुख पात्रों के लिए परिवार–विवाह संस्था समाप्त हो गयी है। या आखिरी सासें ले रही हैं सबका 'पिता' मर चुका है या घर छोड़कर भाग गया है। कुछ पात्रों के पति हैं ही नहीं और शेष के पति अन्तत. 'नर–सुअर' ही सावित होते है। युवा स्त्रियों में किसी के भी पुत्र–पुत्री नही है। कोई भी स्त्री मॉ नहीं बनती या नहीं बन पाती

और अकेला पुरूष (विपिन) 'पिता' बनना चाहता है, लेकिन लाख कोशिश के बाबजूद नही बन पाता क्योकि उसकी प्रेमिका 'बॉझ' है। बॉझ 'कठगुलाब' ऐसी ही औरतों की प्रतीक कथा लगती है।

इस उपन्यास के सभी नर–नारी सचमुच शापग्रस्त है स्त्रियॉ सुरक्षा और सम्पत्ति के अधिकार चाहती है और पुरूष प्रेम आनन्द और स्त्री देह पाने के बाद सिर्फ एक उत्तराधिकारी। पारम्परिक पितृसत्ता सामाजिक उत्तरदायित्व भी निभाता था लेकिन यह नयी पितृसत्ता बिना किसी जिम्मेदारी के सिर्फ उत्तराधिकारी चाहता है। 'प्लेब्वाय' दोनों ही है। वर्तमान परिवार के किले की दीवारें और छत लगातार ढहती जा रही है। भविष्य का कोई नया सत्ता–दुर्ग नहीं है, सो पर्यावरण को बचाने की चिंता भी सतायेगी ही। आम समाज के नर नारी को अपनी अपनी रोजी रोटी के सघर्ष से ही फुसर्त नही है, पितृसत्ता के उद्योग और अन्य समस्याओं को सभलनें–सुलझानें के लिए स्वतन्त्र स्त्री–पुरूष चाहिये जो माडलिंग से लेकर समाज सेवी परियोजनाओ तक पर काम कर सकें।

'आवा' (चित्रा मुद्गल) अन्तिम दशक के महत्वपूर्ण उपन्यासों में से एक है। उपन्यास की विशेषताएं उसके विषय विवेचन में निहित है। उपन्यास जीवन–समाज के विविध पक्षो पर अपने को केन्द्रित और चित्रित करता है साथ ही कुटिल यथार्थ को उद्भाषित करता है।

इस प्रकार 'आवा' राजनीतिक ही नहीं बहुआयामी स्थितियों की महत्ता चित्रित करता है। नमिता पाण्डेय के माध्यम से उपन्यास में युनियन नेताओं के दोगले चरित्र को, मजदूरों की समस्याओं, मालिकों के अत्याचारों मजदूर बस्तियो के जीवन, आभूषण और माडलिंग की दुनिया से लेकर परिवार चाहे वह नमिता का अपना हो, संजय कनाई का........ सामप्रदायिकता आदि का चित्रण करता है।

उपन्यास मे अन्ना साहब एक सशक्त मजदूर युनियन नेता के रूप मे सामने आते है। वास्तव मे चह दत्ता सामत का प्रतिरूप दिखाई देता है नमिता पाण्डेय के पिता देवीशंकर पाण्डेय ट्रेड युनियन 'कामगर अधाडी' के सकिय कार्यकर्ता थे। अन्ना साहब उनका सम्मान करते थे और उन्हे भाई की भॉति मानते थे। लेकिन एक मिल मालिक के लोगो के द्वारा देवीशकर पाण्डेय पर जानलेवा हमला करवाया जाता है, जिसमें वे बच तो जाते है किन्तु पक्षाघात का शिकार होकर विस्तर पर पड जाते हैं। परिणामतः परिवार की आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है, नमिता की पढाई छूट जाती है और मॉ के साथ उसे 'श्रमजीवा' में पापड़ बेलकर घर खर्च चलाने के लिए विवश होना पड़ता है। नमिता की मॉ कर्कश स्वभाव वाली हैं। एक कूर नारी के रूप मे चित्रा जी ने नमिता की मॉ का जो स्वाभाविक चित्रण किया है वह अविस्मरणीय है। एक ओर जीवन मृत्यु से लड़ता पति, विद्यालय जाने वाली छोटी बेटी और बेटा और दूसरे ओर उसके कधे से कधा मिलाकर चलने को तत्पर पुत्री के रहते नमिता की मॉ जिस प्रकार खुद को सजा–धजा रखती हैं, अपनी सारी समस्याये पूरी करती हैं, पति और नमिता के प्रति जिस प्रकार कूर व्यवहार करती है, उसे नमिता को सोचने के लिए विवश होना पड़ता है कि मजदूर महिला किशोरी बाई के साथ पिता के सम्बन्ध किन परिस्थितियों में हुए होंगे, जिससे एक पुत्री सुनदा का जन्म हुआ। वह इस सम्बन्ध को अन्यथा नहीं लेती, बल्कि उसके प्रति संवेदनशील हो किशोरी बाई के प्रति लगाव अनुभव करती है। वह सुनंदा से बहन की भॉति व्यवहार करती है। जिसका प्रेम एक मुसलमान लड़के से होता है और विवाह से पूर्व ही उसे गर्भ ठहर जाता है। सुनंदा का गर्भवती होना साम्प्रदायिक तनाव का कारण बनता है। परिणामत. सुनदा का प्रेमी भाग जाता है और उसके परिवार को सेना के कार्यकर्ता मोहल्ला छोडने के लिए विवश कर देते हैं।

देवीशकर पाण्डेय के परिवार के प्रति अन्ना साहब काफी सहृदय दिखते है। वह नमिता को 'कामगार अधाडी' मे पिता के स्थान पर काम करने का आग्रह करते है, जहॉ नमिता का परिचय पवार से होता है, पवार एक दलित युवक है और अपने अधिकारों के प्रति बेहद जागृत। उसे अहसास है कि अन्ना उसे इस्तेमाल कर दलितों को अपने पक्ष में करना चाहते हैं। स्वय दलित होने की स्थिति का इस्तेमाल कर वह एक सशक्त नेता बनना चाहता है। लेकिन अन्ना साहब को पर काटना आता है। वह कुशल नेता है। पवार इसलिए नमिता को अपने पक्ष मे करना चाहता है। वह उससे विवाह कर उसे भी पूरी तरह राजनीति में उतारना चाहता है। लेकिन सफलता नही मिलती, क्योंकि नमिता जल्दी ही 'कामगार अधाड़ी' छोड देती है। छोडने का कारण है अन्ना साहब जो उसे बेटी की तरह मानते हैं, लेकिन उसका यौन–शोषण करने में हिचकते नहीं। यौन शोषण करने के पश्चात उससे कहते है, तुम मेरी बेटी जैसी हो पर बेटी नहीं।' 'कामगार अधाडी' की नौकरी छूटने के पश्चात अकस्मात नमिता मैडम अजना वासवानी के सम्पर्क में आती है और वहीं से आरम्भ होती है यात्रा एक नई दुनिया की। एक ऐसी दुनिया की जो एक मजदूर की बेटी के लिए अपरिचित है और वह उसी दुनिया में खो जाती है। मैडम का आभूषणो का व्यवसाय है। संजय कनोई थोक व्यापरी है–खरीददार । आभूषणों के प्रदर्शन के लिए मैडम को किसी भी माडल से अधिक सौन्दर्य, सुगढता नामिता में दिखती है और वह उसे मॉडल बनाकर कनोई के सामने पेश करने में सफल होती है। यहीं से कनोई और नमिता की निकटता बढ़ती है जो देह के खेल में खत्म होती है। एक मजदूर की बेटी पूंजीवादी व्यवस्था में बह जाती है। देह की जिस उन्मुक्तता को वह अनुचित मानती है, स्वंय खुलकर उसमें लिप्त हो जाती है। कनोई नाटकीय ढंग से अपनी पत्नी की बुराई करके उसे हासिल करता है और

एक रखैल का दर्जा देता हुआ उससे पुत्र पाना चाहता है। यह बात उद्घाटित हो जाने के पश्चात नमिता गर्भ से मुक्ति पाती है, और अपनी पुरानी दुनिया मे लौट आती है । यह उपन्यास पूजीवादी व्यवस्था का निकृष्ट रूप मालिको और मजदूरो के मध्य शीषर्क और शोषित के रूप मे दिखता ही है लेकिन वहॉ यूनियन प्रतिरोधी स्वरूप मे मौजूद है और मालिकों को उसका अहसास है।

आज नयी बाजार व्यवस्था में विवश लोगो को मैडम और कनोई द्वारा किस भॅाति इस्तेमाल करके फेक दिया जाता है, उस स्थिति का यथार्थ परक चित्रण उपन्यास में मिलता है।

उपन्यास मे अनेक उपकथाएं हैं, लेकिन वे मूल कथा को गति देती है, बाधक नहीं है। यह कहना उचित होगा कि 'आवा' मे विषय की विविधता है और यह विविधता की उसकी विशेषता है।

स्त्री विषयक चिन्तन

'सन् 1975 मे प्रथम विश्व महिला का आयोजन मैक्सिको में हुआ था। इस सम्मेलन के उदात्त विषय साम्यता, विकास और शान्ति के रहे जिसमें पॉच हजार से भी अधिक महिलाओं ने भाग लिया था। उसके पश्चात 1980 में कोपन हेगन तथा 1985 में नैरोबी में आयोजित सम्मेलनों में अधिकाधिक संख्या बढ़ती गयी और नैराबी सम्मेलन के समापन पर सदस्य राज्यों ने संकल्प किया कि महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढने हेतु कार्य संचालित किये जायेगें।"[1]

दस वर्ष बाद नारी पर बीजिंग में विश्व महिला सम्मेलन हुआ जिसमें 185 सदस्य देशो की तथा लगभग तीस हजार गैर सरकारी सस्थाओ ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 'स्त्री' विषय थी। महिला की

स्थिति पर सर्वांगीण दृष्टि से इतना विचार विवेचन हुआ इतनी चर्चा इसके पूर्व कभी भी नही हुई थी इस वीजिंग महिला सम्मेलन ने पूरे विश्व की नारी जाति को 'विशेष ऑख' प्रदान की।

इन सबका यहॉ विस्तार से उल्लेख करने का कारण यह है कि बीसवीं शदी के अन्तिम दशक हिन्दी में लिखे गये उपन्यासों की पृष्ठभूमि में वे स्थितियॅा कारण बनी। 'स्त्री' और स्त्री का विविध रूप मे विविध कोनों से, विविध स्तर पर होने वाला शोषण, उसकी पीडा, शारीरिक और मानसिक यातनाए उपन्यास का मुख्य विषय बना। स्त्री लेखिकाओं ने स्त्रियो की उन तमाम समस्याओ को सामने लेकर आयीं जो अभी तक परदे मे थी।

स्त्री की नियति और उसके उत्पीडन को रोकने के लिए जितना महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी, मानवीय कार्य 'सीमोन द वोउवार' ने किया वह स्त्री अस्मिता मुक्तिा के लिए दुनिया भर में पहला काम था। जिसका असर आज अंतिम दशक के उपन्यासों में दिख रहा है। स्त्रियों ने अपनी लेखनी के द्वारा महिलाओं की मौन पीडा को वाणी दी है।

अन्तिम दशक में महिलाओं द्वारा लिखे गये उपन्यासों में मुख्य विषय 'स्त्री' ही है। उन्होने उसके संघर्ष को ही रेखांकित किया है। 'स्त्री विषयक चिन्तन– 'छिन्नमस्ता' में पूरी प्रबलता के साथ मौजूद है। इसके केन्द्र में प्रिया नाम की नारी है, जो कि निरन्तर शोषित है।

'इतिहास साक्षी है कि पुरूष ने स्त्री को जिन दो प्रमुख मोर्चो पर लगातार कुचला है उनमें एक है अर्थ और दूसरा है सेक्स। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होने के लिए सघर्ष करती हुई स्त्री महिला लेखिकाओं की प्रिय थीम है, परन्तु इसमें अक्सर स्थिति और समस्या कम चिन्तन,

---

[1] दसतावेज स डा0 विश्वनाथि तिवारी, जनवरी–माच्र 1999, विसवीं शती का अनितम दशक सत्री उपनयासकार

मनन और बौद्धिक विश्लेषण (कभी–कभी फार्मूलो और किताबी विचारों के आधार पर) अधिक रहता है।[1]

कुछ लेखिकाओं ने अपने उपन्यास के माध्यम से देश–विदेश की परिस्थितियो का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया है और उनकी अनुभव समृद्धि ने दिशा निर्देश किया है। दूरदर्शन और प्रसार माध्यमों के कारण और 'ग्लोबलाइजेशन' के परिणाम स्वरूप अधिकांश लेखिकाओं के उपन्यासो में नारी के सहते, भोगते, पीछे छोडते और आगे बढते विविध रूपों और समस्याओं का व्यापक, स्वाभाविक और विश्वसनीय रूप प्रस्तुत है।

'सीमोन द वोउवार' ने कहा है समानता का अर्थ एक रसता और एकाकार होना नहीं है। स्त्री और पुरूष के बीच मौलिक आधार भूत भेद तो रहेंगे ही वीसवीं शती के अन्तिम दशक में लेखिकाओं ने उपन्यासों मे स्त्री से जुडे विविध आधारभूत स्थितियॉ और उससे जुड़े विविध पक्ष और समस्यायें उनमें से उद्भुत अनेक प्रश्न हैं– उनको विस्तार से कहिये या उन पक्षों को चीथ–चीथ कर सामने धर दिया है। उनके विचारों में बड़ी तल्खी हैं। स्पष्टता और सहजता है। उसका रूप इतना अधिक संवेद मन को झिंझोड़ देने वाला हैं।

विसवी शदी के अन्तिम दशक में इन लेखिकाओं के उपन्यासों में स्त्रीं जीवन से जुड़ी अनेक बातों का बेबाक, किसी भी प्रकार का लाग–लपेट न रखते किया गया वर्णन सिर्फ मन को अभिभूत ही नही करता, उससे निपटने के लिए प्रवृत करता है, ताकत देता है और स्त्री विषयक चिन्तन भी दस दशक के उपन्यासों में अधिक हुआ है।

---

[1] कथा और नारी सन्दर्भ, डा निर्मला जैन, हस जुलाई 1994, पृ 4

सन् 1930 मे शरतचन्द्र ने 'नारी का मूल्य' निबन्ध लिखा है, जिसमे वे लिखते है समाज का अर्थ है पुरूष। उसका अर्थ नारी नही है.... स्त्री की निष्कासित अस्मिता का कटु सत्य उस समय का नही, हमारे आज के अपने समय का है और इतिहास का भी सच है। मनुष्य की परम्परा को सुरक्षित रखने में स्त्री की केंन्द्रीय भूमिका होने के बावजूद पुरूष आज भी समाज के केन्द्र में है और स्त्री परिधि में। निर्मला, 'सुमन', 'रत्तन' के रूप किचित बदले हैं। पहले की स्त्री लात घूंसे का प्रहार सह, रक्त से लथपथ हो अपने भाग्य, अपने कर्म को दोष देती रहीं, वहॉ आज वह तन कर खडी हो गयी है। वह पुरूष का नहीं, उसके उस छद्म मुखौटों का प्रतिकार कर रही है, जो मर्दानगी के नाम पर गढा गया है और जिसके पीछे झूठी अहं की भावना और उत्पीड़क प्रवृत्ति के अलावा कुछ भी नही है। नारी पीड़न की वाह्य परिस्थितियों में परिवर्तन नहीं आया परन्तु अपनी नियति के प्रति नारी का अपना दृष्टिकोण बहुत कुछ बदल गया है। अब वह केवल पुरूष की प्रताड़ना और प्रवंचना के सम्मुख विवश हो आत्म समर्पण नहीं करती, अपनी पूरी शक्ति के साथ उसका प्रतिरोध करने की ताकत भी रखती है।

'ठीकरे की मंगनी' उपन्यास की महरूख–जिसके लिए मर्द न जिंदगी की धुरी है, न खिड़की। कोई मजबूरी, कोई मुसीबत नहीं आन पडी है उस पर, जो वह इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दे। उसका अपना व्यक्तित्व है, अपनी अस्मिता है जिस पर वह ऑच नही आने देने के लिए जीवन भर संघर्ष करती है। यह आज की नारी चेतना है जो अपने को खोकर और कुछ भी पाना नहीं चाहती।

स्त्री का सिर्फ सुशिक्षित होना और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाना ही पर्याप्त नहीं है। पुराने जड संस्कारों के स्थान पर कुछ नवीन गढने की भी जरूरत है। चीन, जापान, अमेंरिका और जर्मनी जैसे देशों से

आज की पढी–लिखी स्त्री सीख रही है, बदल रही बीसवी शदी के अन्तिम दशक की लेखिकाओं ने बडी सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, देखा है, जाना है, परखा है और उपन्यासो के चरित्रो द्वारा उन विचारों को माने–मनवाने की पहल की है। फिर चाहे 'इदन्नमम्' की बऊ, 'मंदा', कुसुम भाभी, 'छिन्न मस्ता' की प्रिया, आओ पेपे घर चलें की कैथी हों या 'पीली आधी' की पदमावती। सारे पात्र 'सघर्ष करके पहचान पायी जाती है।' प्रेरणा देते है।

आज व्यक्ति प्रगति, विकसित और बौद्धिक ऊँचाई पर पहुँच गया है, पर भीतर से खोखला हो रहा है ऊपर से रूढिया तोड़ने का मात्र दिखावा कर रहा है पर नारी के प्रति उसकी दृष्टि नही बदली है। वही अह एव वही भोग परक हिस, हीं अधिकार भावना–कोई फर्क नहीं। हॉ इतना अवश्य हुआ है कि शोषण का तरीका बदल गया है, अब वह बालिका की गर्दन दबाकर 'लक्ष्मी आयी है लौटा दो' का आदेश नहीं देता। गर्भ में ही उस भ्रूण को समाप्त कर देता है। बीसवीं शदी के अन्तिम दशक की लेखिकाओं ने ऐसी स्त्री विरोधी स्थितियों को खुलकर व्यक्त किया है।

फ्रेन्च केडेडियन लेखिका 'क्लेट मार्टिन' अपने आत्म कथात्मक उपन्यास 'इन एन आर्यन ग्लोव्हस' में कहती है, 'चलों जीवन का यह अध्याय भी पूरा हुआ। उसकी ताजी कब्र पर एक मुट्ठी मिट्टी डालकर, मेरे जीवन को नरक से भी बदतर बनाने वाले उस पुरूष को मैनें सच्चे हृदय से माफ कर दिया ...... मृत्यु जीवन की सारी कडुवाहटों को अपने साथ बहा ले जाती है। .... हॉ वह पुरूष मेरा पिता था, ऐसा पिता कि जिसका नाम सुनते ही मासूम कबूतरी जैसी मेरी मॉ और हम दोनों बहनें पत्ते की तरह कॉप जाती थीं........ लेखिका फ्रान्स की क्लेट मार्टिन हों या बंगला देश की तसलीमा नसरीन हो या पंजाब की अमृता–प्रीतम या

वगाल की महाश्वेता देवी, मैत्रेयी देवी हो या हिन्दी की प्रभा खेतान, मृदुला गर्ग, चन्द्रकान्ता या मैत्रेयी पुष्पा हो – सभी ने स्त्रियो के प्रति पुरूषो के जुल्म और उत्पीडन का चित्रण किया है।

मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' मे मरियाना के शब्द है, "औरत होना बिडम्बना को जन्म देता है, नहीं औरत होना एक विडम्बना है, नहीं, नही औरत खुद एक विडम्बना है। जहॉ औरत होगी वहॉ विडम्बना जन्म लेगी ही– 'मरियाना के इन शब्दो मे औरत और मन की मूलभूत संरचना से जुडे कठोर यथार्थ को एक क्षण के लिए भी अनदेखा नही किया जा सकता।

पुरूष भोगे और स्त्री भुगते यह इस दशक की स्त्री को मान्य नहीं। अब वह बन्धनों के विरोध में खडी हो गयी हैं। वह मातृत्व–एक, दो, तीन, चार एक के बाद शिशु को जन्म देती है, उस बंधन में जकडी और फंसी लाचार महिलाओं को धिक्कारती है। 'कठगुलाब' में स्मिता और अमिता की बात चीत है.............. "मुझे यह परातन औरतनुमा छल प्रपच पसद नही। दो टूक बातें करने का साहस हो तो मुझसे दोस्ती करना, बरना अपना रास्ता नाप। [1]

स्पष्ट है कि मृदुला गर्ग कहती हैं कि स्त्री का शरीर उसकी अपनी मिल्कियत है, उसके देह पर उसका अधिकार है। वह चाहेगी तभी पुरूष उसका उपभोग कर सकता है। प्रभा खेतान 'पीली ऑधी' में पुरूष के निर्मम और विलासी चरित्र को उद्घाटित कर के रख देती हैं। 'जरीदार ओढनी' दरअसल उस परम्परा का बोझ है जिससे मुक्त होने में ही उस समुदाय की मुक्ति है।

---

[1] पृ 172

स्त्री की सार्थकता सुख खोजने मे नही त्याग में मानने वाले परम्परागत विचार चौखट को आज की स्त्री ने तोडना शुरू कर दिया है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया और 'आओ पेपे घर चले' की कथावस्तु और उसके पात्र, उनके सवाद एक तीक्ष्ण, तिलमिला देने वाली अभिव्यजना है। स्त्री चाहे मारवाडी रूगटा, गुप्ता परिवार की हो या बुदेलखण्ड की या अतरपुर के जाट परिवार की। लूटी जाने की पीडा उसकी अपनी है। छिन्नमस्ता की प्रिया स्त्री होने की जकडनों के खिलाफ निरन्तर संघर्ष करती हुई 'स्वय' होने तक की यात्रा तय करती हैं सबसे टकराती है, भिड़ती रहती है, लडती रहती है। "मैने दु:ख झेला है। पीडा और त्रासदी में झूलती हूँ। जिस दिन मैने त्रासदी को ही अपने होने की शर्त समझ लिया, उसी दिन, उस स्वीकृति के बाद मैंने खुद को एक बड़ी गैर जरूरी लड़ाई से बचा लिया। कुछ के प्रति यह मेरा समर्पण था। सारे जुल्मों के सामने............ सलीब पर लटकते मैने पाया कि मै अब पूरी तरह जिंदगी की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार हूँ।"[1]

प्रिया की जिदगी एक आधुनिक पढ़ी–लिखी युवती के आभिशप्त जीवन की त्रासद गाथा है। आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न कहे जाने वाले समाज में भी एक शिक्षित और कर्तव्यी स्त्री के जीवन की भीषण सच्चाई है। 'चाक' की सारंग, 'छिन्नमस्ता' की प्रिया, 'पीली आधी' की पद्मावती 'कठगुलाब' की स्मिता सभी इस सच्चाई से जुड़ी हैं।

बीसवी शदी के अन्तिम दशक की स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों में यह तथ्य उभर कर सामने आया है कि औरत त्रासदी और असुरक्षा के मूल मे उसकी नारी देह है। माता होना यही उसकी सबसे

---

[1] (छिन्नमस्ता, पृ10)

बडी कमजोरी है। सतान से वह इस तरह चिपटी रहती है जैसे शरीर और उसकी परछॉई। अन्यथा 'चाक' की सारग क्या कभी सर झुकाती? आखिर सन्तान यह तो उसके शरीर से जुडा है, मन से जुड़ा है, नस–नस मे बहते रक्त से जुडा है। बीसवी शदी की स्त्री उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में स्त्री को अधिकार, अस्मिता, 'स्वंय' को पाने और सुरक्षित रखने की दिशा मे नारी सघर्ष के विभिन्न स्तरो को प्रस्तुत किया है।

अन्तिम दशक के उपन्यासो, विशेषरूप से 'आवां', वेतवा बहती रहीं, इदन्नमम् , चाक–मे महिलाओं की सघर्ष, जुझारू बृत्ति से टकराना, स्त्री को एक नई छवि प्रदान करता है। 'बेतवा बहती रही' की उर्वशी की पीडा वहॉ शुरू होती है जब उसे उसके पिता के उम्र के व्यक्ति से ब्याह के लिए विवश किया जाता है। वह विधवा युवा बहू का विवाह देवर उदय से करवा देती है, कहती है–"अन्याय वह नही होने देगें ....हमारे रहते अनर्थ नही हो सकता।"[1]

'इदन्नमृ' मे 'बऊ' अपनी पोती की सुरक्षा के लिए संघर्ष करती हैं और 'चाक' में समय की गतिमानता में चाक से समान ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, कभी दबती, कभी तनती, कभी रोती कभी गरजती, दहाड़ती सारग के रूप में स्त्री का खरा रूप व्यक्त है। सारंग दिल–दिमाग से बदल रही है। सारग प्रतीक है तीव्र गति से होते सामाजिक परिवर्तन का। सारग पत्नी, वहू, भाभी तथा मॉ सब भूमिकाओं में हमें मिलती हैं पर आखिर में वह चन्दन की मॉ है। उसमें आया हुआ परिवर्तन आज की पढ़ी लिखी नारी में आया परिवर्तन है। यह परिवर्तन विचार है– अब स्त्री दब्बू भी नहीं और भागने वाले भी नहीं। अब वह दबी जबान, दरवाजे के आड़ से नही दरवाजे के चौखटे पर, घर ऑगन के बीच खड़ी रहकर, गरज कर

---

[1] पृ 42

अपनी बात कहती है यह सामाजिक परिवर्तन है। इन उपन्यासो में स्त्री विषयक कठिनाइयो का वर्णन ही नही जीवन के खरे रूप और उसकी भयानकता और उससे उबरने के मार्ग सुझाने की दिशा मे स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यास महत्वपूर्ण भूमिका निवाहते है। 'एक पत्नी के नोट्स' मे ममता कालिया ने कहा है कि बाहरी दुनिया के दबाव और शाश्वत दायित्व आज नारी को जटिल आत्मसंघर्ष का पाठ पढा रहे है। 'आओ पेपे घर चले' की आइलिन, कैमी, अग्नि सभवा की आइवी आदि पात्रों के द्वारा प्रभा खेतान की धारणा है कि आधा हिन्दुस्तान ही नहीं, आधी दुनिया पुरूष शोषण का शिकार है। औरत कहॉ नहीं रोती? और कब नही रोती? वह जितना ही रोती है उतना ही औरत होती जाती है। जाहिर है कि रोने से नसीब नही बदलेगा संघर्षशील बनकर ही उसे अपनी राह खुद बनानी होगी, राह खोजनी होगी, राह बदलनी होगी। अन्तिम दशक की लेखिकाओ ने इस ओर दिशा निर्देश दिया है।

वीसवीं शदी के अन्तिम दशक में स्त्री उपन्यासकारों ने अपने कृतियों पर समय की मुहर लगाई है, ये समय के सच्चे दस्तावेज हैं जिसमें भारतीय नारी का चित्रण हुआ है।

'आवा' आधुनिक समाज मे स्त्री चेतना स्त्री स्वतनत्रता और नारी की प्रायः सभी समस्याओं के चित्र को वास्तविक रूप में हमारें समक्ष रखता है।यह नारी स्वातंत्र्य की मीमांस का उपन्यास है।

'आवा' की प्रमुख पात्र नमिता है, जिसके चारों ओर पूरी कहानी घूमती है। वह उपन्यास में एक जगह मुखर होकर अपनी मॉ से कहती है– "देखोगी एक दिन, अच्छी नौकरी ही नहीं करूँगी, छूटी पढ़ाई भी पूरी करूँगी' उसमे चेतना का एक बीज अंकुरित होता है।

'आवॉ' के नारी पात्र निर्बल भी हैं और सबल भी। वे पहले समर्पण करती है और फिर जागरूक होकर अन्याय और शोषण का

सामना करती है। चित्रा जी ने उपन्यास मे कही भी नारी समस्याओ को छोडा नहीं है। उनके उपन्यास की कथा के साथ–साथ नारी विमर्श भी चलता है। वे नारी की समस्याओ की तरफ बार–बार ध्यान आकृष्ट करती है। चित्रा जी समाज में नारी की स्थिति को जानती भी हैं और समझती भी है, इसी कारण उन्होंने 'आवा' में नारी विमर्श को, उससे जुडे हुए प्रश्नों को प्रस्तुत किया है, पूरे दायित्व और चेतना के साथ।

मैत्रेयी पुष्पा ने 'इदन्नमम्' मे जो नारी चरित्र है. मन्दाकिनी, कुसुमा भाभी और मन्दा की बाल सखी सुगना, वह सब कहीं–कही समाज में पुरूष के समक्ष चुनौती बनकर उभरते है।

मंदाकिनी अपने गॉव सोनपुरा में बाल संगिनी सुगना और श्यामली मे कुसुमा भाभी से अन्तग रूप से जुड़ी रहती है। कुसमा भाभी का चरित्र आत्म निर्णय और दृढ संकल्पों से निर्मित नारी चरित्र है। पति यशपाल की परित्यक्तता कुसुमा भाभी (दाऊ जू) अमर सिंह से प्रेम करती है और प्रेम के फलस्वरूप प्राप्त संतान पर गर्व भी करती है। और यह सब उसके पति के ऑखों के सामने होता है। ऐसी नारी का चित्र पुरूष के सामने चुनौती ही है।

कुसुमा भाभी सामाजिक वर्णनाओं पर खुंली चुनौती बनकर उभरती है, लेकिन यही साहस उसकी बालसंगिनी सुगना में नही आ पाता।

मन्दाकिनी घटना क्रमों में बडे सहजढंग से धीरे–धीरे उभरती है। स्त्री होना मन्दाकिनी का आत्म संघर्ष है। कैलाश मास्टर द्वारा किया गया बलात्कार संयोग से उसकी मानसिक ग्रन्थि बनते–बनते रह जाता है। यहॉ कुसुमा भाभी का सहारा उसकी ताकत बनता है।

मैत्रेयी पुष्पा ने बीसवी सदी के अन्तिम दशक के हिन्दी लेखन मे नारी के अबलत्व और उसकी निरीह 'रागमयता' के अंध स्वीकार और

वेशर्त समपर्ण नकारते हुए राष्ट्रकवि और कमायनीकार को काफी पीछे छोड दिया है। कुसुम और दाऊ जी (अमर सिह) के अनैतिक सम्बन्धो के प्रसग मे 'मानसकार' की बहु परिचित पक्तियो –'अनुजबधू', भगिनी सुतनारी। सुनिसठ, कन्या समयेचारी।' से भिडते और टकराते हुए जिस तरह के मन्दा और कुसुमा के बहाने दिये है उससे पुरूष प्रणीत व्यवस्था और वर्चसव पर सीधा हमला होता है– "कुसुमा ने बीच मे ही रोक दिया–"विन्नू हमें एक बात समझाओ, अरथाओ किये रिस्ते–नाते, सम्बन्ध और मरजाद किसने बनाई? किसने सिरजी है बन्धनों की रीत?जो नाम लेती हो उनमे मनुव्यास ने? रिसियों मुनियो ने? देवताओं कि राच्छसो ने?

मन्दाकिनी पढ़ना रोककर भाभी को गौर से देखने लगी। क्या उत्तर दे इन सवालो का ? भाभी ये रीति–रीवाजे उन्होंने ही बनाये है, जिनने ये किताबें लिखी हैं, जिनके ऊपर ये किताबें लिखी गयी है।"

"गलत वनायी है मन्दा। एकदम पक्षपात से रची है।" "बताओं तो अगिन को साच्छी धरके गॉठ बॉधने का क्या मतलब?" पति और पत्नी को साथी–सहचर कहें तो विरथा है कि नही?

"कितेक उलटा है विन्नू, वेअरथ! यह सम्बन्ध वड़ा थोथा है।"

"लो एक खूँटै से बॉधा पांगुर, दुसरा सरग मे उड़ता पंछी। "ढोर और पछी सहचर नही हो सकते मन्दा ....."[1]

आधुनिक सत्री की बदलती सोच और पुरूष प्रधान समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह को प्रकट करने का साहस अन्तिम दशक की लेखिकाओं की मुख्य विशेषता हैं।

---

[1] इदननमम् पृ 83

प्रमुख समस्याये

हिन्दी मे उपन्यासो के आरम्भ काल से ही मानवीय समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी मे जिस रूप मे कविता मे जन–जीवन के वृहत्तर सन्दर्भ आये उस रूप मे उपन्यासों मे नही, इसलिए या तो उपन्यास घर परिवार की दुनिया तक सीमित रहे या जासूसी, ऐयारी और तिलस्मी दुनिया तक, लेकिन प्रेमचंद ने वीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक मे ही, जब कविता में छायावाद चल रहा था तब यथार्थ वादी समस्याओ से उपन्यास का ऐतिहासिक चरण आरम्भ किया–यह हिन्दी उपन्यासो के लिए वरदान सिद्व हुआ। प्रेमचंद ने नायक की परिभाषा ही नही बदली बल्कि साहित्य के सरोकारों को जन–जीवन के यथार्थ से जोडा जिसे उनके बाद के उपन्यास कारों ने व्यापक फलक प्रदान किया।

वीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक मे स्त्री, दलित, मनुष्य की गरिमा और सघर्ष को लेकर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यास आये। खासकर महिला लेखिकाओ ने तो स्त्री की सम्पूर्ण समस्या को अपने उपन्यासों के माध्यम से समाज के सामने 'नंगा सच' की तरह रख दिया।

अन्तिम दशक के उपन्यासों यह भी दिखाया गया है कि कैसे कैसे स्त्री शोषित होती है। भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति, दशा एवं भूमिका का प्रश्न बेहद ज्वलंत प्रश्न है, जिसे नारी लेखिकाओं ने उटाया है। क्या उस पर 'न सावन सूखे न भादों हरे' वाली कहावत ही चरितार्थ होती रहेगी या कुछ परिवर्तन आयेगा। पुरूष समाज ने स्त्रियों के स्वतंत्र विकास के लिए क्यों कोई सम्भावनाएं नहीं छोड़ी। स्त्री में ज्ञान, विवेक, प्रतिभा और परिस्थितियो से जूझने की ताकत है; लेकिन पग–पग पर पुरूष उसका शोषण करता है। विचित्र स्थिति तो यह है कि तमाम

विपरीत परिस्थितियो के बावजूद वह उनसे टकराती, जूझती हुई वह अपनी जगह जमीन को तलाशने मे समर्थ हुई है।

"स्त्री जितनी आजाद हुई है कहना यह कहना है कि वह वैचारिक, आर्थिक, शारीरिक सामाजिक राजनीतिक रूप से अधिक आत्म निर्भर हुई है या उस दिशा की ओर अग्रसर है। आर्थिक स्वतन्त्रता सिर्फ पैसा कमाना न होकर उसे बरतना भी है और न बरतने देना भी। वस्तु करण के इस समय मे स्वतन्त्रता के नाम पर (टीक सतीत्व की तरह) स्त्री अपने को वस्तुकरण का शिकार होने से बचा पायेगी ? यानी क्या वो अपने को शरीर मे घटा दिये जाने से रोक पायेगी "[1]

वास्तविकता यह है कि भरतीय सांस्कृतिक वर्चस्व में स्त्री स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नही रहा है। उसें पराश्रित, पराधीन बनाने के लिए पुरूषों ने जो हजारों वर्षो से ज्ञान–विज्ञान, कला सस्कृति साहित्य दर्शन, चिंतन की दुनिया से दूर रखा, वह क्यो ? क्या इसलिए कि वे शिक्षित चेतन, सजग, आत्म निर्भर न बन सकें, वह अपने अधिकारों की मॉग न करने लगे।

अन्तिम दशक की स्त्री लेखिकाओं ने स्त्री की सामाजिक समस्या, मानसिक समस्या वैवाहिक समस्या, साम्प्रदायिक समस्या, उनकी परम्परागत समस्याओ को उजागर किया। कैसे एक स्त्री का इन विविध आयामों से शोषण होता है, इन समस्याओं का यथार्थ चित्रण मिलता है।

अलका सरावगी का 'कलिकथा वाया बाईपास' इस रूप में इतिहास प्रस्तुत करता है कि आगे आने वाले समय के लिए मिशाल बने। 'कलिकथा वाया बाईपास' के किशोर बाबू अपने इतिहास के उस पृष्ठ को

---

[1] जयोत्सना मिलन 'लकीर के इस तरफ स्त्री ' पृ 0 58

दूढते है जो मारवाडियो की कजूसी, धन कमाने की अंधी लालसा और देश विरोधी छवि के रूप मे केवल बगाल ही नही बल्कि पूरे देश मे विद्यमान है। उन्हे लगता है कि सिराजुद्दौला के साथ जिन लोगो ने गद्दारी की थी उसमे उनके पितामह तो नहीं थे। किशोर बाबू इतिहास की एक एक घटना को पढते जॉचते है। उन्हे उस अंग्रेज टैगर्ट से घृणा है जो उनके पितामह की देश विरोधी गति–विधियो मे सहायक था। उन्हे हर उस बात से चिढ हैं जो धन कमाने की घिनौनी चाल के रूप में मारवाडी चल रहे थे। कलकत्ता की स्थापना और मारवाड़ियों की अपनी छ. पीढी का इतिहास लिखकर अलका सरावगी ने न केवल मारवाड़ियों के निजी जीवन का चित्र खीचा है बल्कि देश की आजादी और उसके बाद के पतन का भी सघन चित्र बनाया है जिसमें शांतनु जैसे सुभाष बाबू के अनुयायी भी है जो स्वाधीनता के बाद एन. जी. ओ. और अन्य गति विधियो मे लिप्त होकर धन कमा रहे है।

'चाक' विल्कुल दूसरी मनः स्थिति और जीवन प्रसंगो को लेकर लिखा गया उपन्यास है। स्त्री की स्वतन्त्रता की पुरजोर मॉग से और बेचैनी से प्रारम्भ हुआ यह उपन्यास अतृप्त यौनइच्छा में जाकर समाप्त होता है। लेखिका मैत्रेयी पुष्पा स्वय महिला लेखन में अपनी टिप्पणियों और लेखन से स्वतंत्र पहचान बना चुकी हैं। उनके पास गॉव के अनुभव है, गॉव की भाषा एव मुहावरा है। स्त्री को भी यौन सम्बन्धें में स्वतन्त्रता चाहिये जैसे कि पुरूष को प्राप्त है, यही कारण है कि अपनी मौसेरी बहन रेशम की हत्या का बदला लेने के लिए कटिवद्ध सारंग स्कूल अध्यापक से देह सम्बन्ध बनाने में ही अपनी स्वतंत्रता समझती है। बहन की हत्या से उसका पूरा परिवार दु.खी है, उसकी लडाई में ससुर और पति भी शामिल होता है। यहॉ जिस स्त्री स्वतन्त्रता की अदम्य इच्छा से उपन्यास का ताना–बाना बुना गया है, वह आकर्षित करने वाला है। इस तरह वे स्त्री

स्वतन्त्रता की पुरजोर माग करने वाली वे पहली महिला नही है बल्कि छटे दशक से ही महिलाओं की यह मॉग रही है। यह उनकी मुख्य समस्या है। स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए ही उन्होनें, चाहे सही रास्ता अपनाया चाहे गलत।

'इदन्नम्म' के बारे में 'रामधारी सिंह दिवाकर' के बारे में लिखा है–"मैला ऑचल, जिन्दगीनामा, मुर्दाघर आदि उपन्यास अलग–अलग अंचलों की जीवन स्थितियों के कथात्मक उपस्थापन 'ऑचलिकता' की अवधारणाओं को तोडते और बनाते हुए जिस वृहत्तर मानवीय बोध से जुडते है, मैत्रेयी पुष्पा के सद्य प्रकाशित उपन्यास, 'इदन्नमम् को भी उसी अनुरूपता से देखा जाना चाहिये, लगता है आंचलिकता के बहाने समाजशास्त्रीय अध्ययन की कथात्मक प्रस्तुति भी बद्धमूल होती जा रही है, इसके अन्य कारण भी है, लेकिन प्रत्यक्षतः अंचलों की सनातन पीड़ा और उससे मुक्त होने की छटपटाहट है।"[1]

सामती समाज मे परिवार से बाहर हिंसा, उत्पीड़न दमन और शोषण से अपनी अस्मत और अस्मिता का बचाव करने के लिए औरतें परिवार के पुरूष मुखिया की मॉ, बहन, बेटी, पत्नी, प्रेमिका, या रखैल के रूप मे सुरक्षा, सरक्षण तलाशती हैं, लेकिन परविार के पुरूष सत्ता के हिंसक, असमर्थ या न होने पर स्त्री प्रायः असुरक्षित और असहाय महसूस करती है और ऐसे में परिवार से बाहर किसी अन्य पितृसत्तात्मक पुरूष की शरण खोजती है। अधिकांश स्त्रियॉ परिवार के भीतर बाहर (सुरक्षित होकर भी) आहत या अपमानित होती या की जाती रहती है या जीवन मृत्यु के बीच दुविधाग्रस्त औरतें सत्ता पुरूष के दुर्ग में घिरी–घुटी ऐसी ही जीती मरती रहने के विवश है।

---

[1] हस अगस्त 1994 , इदन्नमम आचलिक सन्दर्भो मे उभरती नारी चेतना का अख्यान पृ 86

परिवार के भीतर, बाहर सुरक्षा और सरक्षण की प्रकिया में स्त्री जब पुरूषो के हाथो बार–बार छली जाती है, तो अपने–अपने मनचाहे या उपलब्ध रास्ते खुद चुनती है या कोई और रास्ता मिलने तक ही पुरूष सत्ता के शरण मे रहती है। 'इदन्नमम्' की प्राय. सभी प्रमुख महिला पात्र पुरूष प्रधान द्वारा निर्धारित (सही, गलत, नैतिक–अनैतिक) सम्बन्धो की हर नैतिक मर्यादा पर प्रश्न चिन्ह लगाती हुई, परिवार की परम्परागत चारदीवारी को तोडती लॉघती, देह और धरती के आर–पार देखती पुरूष पराधीनता से मुक्त जो होगा देखा जायेगा की चुनौती स्वीकारते हुए कदम–कदम पर लोक–जीवन मे यातना और उपेक्षा की शिकार होती यह औरत पराजित होकर समर्पण या समझौता नही करती।

मैत्रेयी इन सवालों को किन्ही विदेशी सन्दर्भो, विचारान्दोलनों और किताबों के जरिये नहीं उठाती। उनके उपन्यास में इस तरह की कोई दबी–छुपी विचारधारा भी दिखाई नहीं देती। मैत्रेयी की परम्परा में यदि महादेवी वर्मा, अमृताशेरगिल हैं तो अमृताप्रीतम और कमलादास भी। हिन्दी उपन्यासो में यह बहस आजादी के आठ–दस बरसों में उठ चुकी है कि सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से स्त्री–पुरूष के लिए यदि अलग–अलग मानदण्ड और दो तरफे रवैये अपनाये गये तो यह बेमानी होगी और आगे का समाज इसे शायद ही अंगीकार करे।

बीसवीं सदी के आखिरी बरसों की कथाकारों ने किसान की समस्या, स्त्री की समस्या असकी आजादी और जमीन से जुड़े आर्थिक सवालो को फिर से उठाते हुए बार–बार राष्ट्रीय आन्दोलन का वर्णन अपनी कथा मे किया है।

इसमें तो शुद्व से एक ऐसी समस्या और चुनौती है जो धीरे–धीरे कथनक को उस दिशा की ओर ले जाती है जो बऊ और मन्दाकिनी के जीवन की प्रतिज्ञा, सकल्प और संघर्ष की दिशा कही जा

सकती है। ऐसा निर्भय मन और अडिग सकल्प अगर इन दोनो के पास है तो इसका कारण उस विराट में इनके अखण्ड विश्वास के चलते हे जो इनके चारो ओर हजारो सालो से सेनाओ की तरह खडा है। लेखिका नें हिन्दू, मुस्लिम सम्बन्धो की सघनता और नये राजनीतिक माहौल में उसकी विकृति और त्रासद परिणति को भी मार्मिक और भावुक ढंग से प्रस्तुत किया है।

नारी का 'मुक्ति सघर्ष' एक लम्बी इतिहास यात्रा है। उसका यह सघर्ष कभी आत्म–सघर्ष के रूप में और कभी पुरूष संघर्ष के रूप में प्रकट होता रहा है।सामाजिक और राजनैतिक संघर्ष की उसके मुक्ति संघर्ष में पडाव बने हैं। इस सघर्ष युद्व में वह प्रायः ही पराजित हुई है, कभी–कभी विजेता भी बनी है। मगर आज जब कि वह आत्म परीक्षण के लिए तत्पर है, पुरूष के प्रश्नों का जबाब देने के लिए तैयार है स्त्री, जीवन का हक–हिसाब करना जाग गयी है, सब समझने लगी है, सब कहने लगी है और सब लिखने भी लगी है, तब जाकर कहीं उसके अस्तित्व को स्वीकारा भी जा रहा है। इसी स्त्री–अस्तित्व की स्वीकृति को लेकर सक्रिय चिन्तन यात्रा में गतिशील प्रभा खेतान का उपन्यास 'पीली ऑधी' और 'छिन्नमस्ता' मुक्तिकामी नारी की कहानी है।

'पीली ऑधी' के सन्दर्भ में दरअसल "सामाजिक वर्चस्व के महत्वकम में सर्वोच्च शिखर पर राजपुरूष था बाकी सब उसकी रियाया से अधिक कुछ नही। सूदखोर महाजन और व्यसायी की हैसियत बीच की कडी भर थी। समाज के निचले तबकों का शोषण करके राजसत्ता की जरूरतो की भरपाई करने की भूमिका निबाहने भरकी । अपनी सामर्थ्यभर जब तक वह इस दायित्व का निर्वाहकर पाता था, तब तक कुछ दूर तक सुरक्षित था, बरना उसके पास घर–बार छोडकर पलायन करने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता था। राजनीतिक स्थितियों में भी परिवर्तन होने पर

भी काफी समय तक इनकी दशा मे विशेष सुधार नही हो सका। मुगल साम्राज्य का विघटन, राजाओ का भौतिक, नैतिक पतन, कम्पनी सरकार का बढता बर्चस्व और प्रजा के सामने अग्रेज सरकार तथा इन विगड़े रइसों की दुहरी गुलामी झेलने की विवशता– तमाम कारण है युवक किसन जैसे बधिक पुत्रों को दर–बदर होने के। सामन्ती व्यवस्था का यह विद्रूप "पीली ऑधी" मे खुलकर लाया गया है।"[1]

इस उपन्यास मे स्त्री–पुरूष सम्बन्ध को लेकर अधिक बहस की गयी है। पुरूष के बर्चस्व को तोड़ने और स्त्री को अस्तित्व दिलाने की हिमायत की गयी है। स्त्री पुरूष के बारे मे बराबर सोचती रहे और पुरूष उसे सिर्फ भूख मिटाने का माध्यम मानता रहे, ऐसे कब तक चलेगा? इस बार प्रभा खेतान ने कई बार विचार किया है, तभी तो "पीली आधी" की 'सोमा' पुरूष के इस वर्चस्व पर प्रहार करती हुई अपने पौरूष विहीन पति से मुक्ति पाना चाहती है। मुक्ति की कामना में वह सफल भी होती है। लेखिका ने सोमा के माध्यम से स्त्री के अर्न्तमानसिक मुक्ति को दर्शाने की चेष्टा की है, "सोमा समझ रही थी कि वह सुजीत के साथ काफी दूर चली आयी है। घर ऑगन की सीमा के पार और अब वापस इस बन्दीगृह में लौटना सम्भव नहीं। सुजीत को छोडना या उसके बगैर जिन्दगी जीना असम्भव तो नहीं मगर मुश्किल जरूर है। गौतम? उसके साथ विताये गये क्षण? क्या कहा जाय गौतम की हरकतों के बारें में? जहॉ न कभी कोई कोमलता मिली और न जीवन का एहसास। गौतम की अपनी भूख जो कभी–कभी जागती थी और उस इच्छा की सन्तुष्टि भी केवल गौतम की अपनी सन्तुष्टि थी। गौतम प्रेमी नही मालिक था। संतुष्टि के लिए सोमा

---

[1] अकाल कथा–कलिकाल कथा, पीली ऑधी और कलिकथा, वाया बाईपास कथा प्रसग:यथा प्रसग निर्मलाजैन , वाणी प्रकाशन 2000 नई दिल्ली , पृ105–106

का उपयोग करने वाला। और शायद इसलिए सोमा गौतम को भूलना चाहती थी। जिसको उसने केवल झेला था, सहन किया था मगर जिसको कभी जिया नहीं था।[1]

'छिन्नमस्ता' मे भी स्त्री के अस्तित्व की उसके स्वतन्त्रता का सवाल उठाया गया है। किस प्रकार प्रिया अपनी स्वतन्त्र पहचान बनाती है, कहॉ–कहॉ वह शोषित होती है और कैसे उबरती है अपनी निरीहता से।

साधन सम्पन्न उच्चवर्गीय सयुक्त परिवारों में बेटी से बहू तक, प्राय हर स्त्री तमाम भौतिक सुख–सुविधाओं के बावजूद अनाथ और असहाय सी व्यवस्था के सम्मोहन में सुरक्षा खोजती हुई व्यवस्था का एक हिस्सा बनने की पूरी चेष्टा मे ही जिंदगी विता देती है लेकिन 'छिन्नमस्ता' की नायिका अन्ततः कहती है,–'नरेन्द्र की व्यवस्था के सामने हार मानने का अर्थ यह नही हुआ कि तुम सारे मुकामों पर हार गयी। उसे वही छोड़ दो वह जहॉ है, तुम खुद अपनी व्यवस्था बन सकती हो, अपनी जमीन" इस यात्रा में लेखिका ने 'नारी स्वातंत्र्य की भावना का वास्तविक रूप उद्घाटित करने के लिए 'स्थित और समस्या' का चिन्तन मनन और बौद्धिक विश्लेषण भी किया है।

उच्चवर्गीय संयुक्त परिवारों में आर्थिक सत्ता के उत्तराधिकार की जटिलताओं के कारण ऊपरी तौर पर अभी भी संयुक्त परिवार बचे हुए है। भले ही अन्दर से उनमे 'छोटे–छोटे परिवारों की इकाइयॉ बन गयी हों या बनने की प्रकिया में हों। 'छिन्नमस्ता' को उच्चवर्गीय संयुक्त परिवार के विषैले और दमघोंटू वातावरण से निकलकर अपने व्यापार और पूंजी कमाने, बढ़ाने के बाद व्यक्तित्व के विकास या वौद्धिक और मानसिक

विकास के लिए हर सभव साहस(दुःसाहस) और प्रयास करती 'विद्रोही स्त्री की आत्मकथा या आत्मविश्लेषण या आत्म संघर्ष के रूप में देखा जा सकता है। कुलीन परिवारो में औरतों की सामाजिक, आर्थिक और मानसिक स्थिति के मकडजाल को चीर–फाड कर देखने, समझने, सुधारने सुलझाने की मंगलाकांक्षी में किया गया यह एक गभीर समस्या शास्त्रीय अध्ययन है। हिन्दी उपन्यास की नायिका परिवार, पूंजी और परम्परा की चौखट लॉघ देशी–विदेशी सभी सीमाओं के उस पार तक–'स्त्री पक्ष की वकालत' के साथ–साथ एक खतरनाक बौद्धिक विमर्श का जोखिम उठाती है।

चित्रा मुद्गल स्वंय श्रमिक सगठन से जुड़ी हुई थी, इसलिए उन्होने अपने उपन्यास 'आवा' में एक मजदूर की बेटी और उसके जीवन से जुडी हुई समस्याओं को उठाया है।

अपने उपन्यास 'आवा' में चित्रा जी ने नारी विमर्श के कई स्तरों को उभारा है, इसमे प्रमुख है, आर्थिक, सामाजिक, दैहिक, मानसिक वैवाहिक, साम्प्रदायिक व परम्परागत विमर्श। चित्रा जी ने गौतमी व नमिता के माध्यम से आर्थिक विमर्श को दिखाया है। सामाजिक स्तर पर नारी–विमर्श समाज मे स्त्री की दशा उसका स्थान, और उसकी समस्याओं का चित्रण भी चित्रा जी ने किया है।

यह एक वृहद उपन्यास है इसलिए नहीं कि भौगोलिक अर्थो में वह समाज के बडे भाग की जानकारी देता है, यह ट्रेड यूनियन के राजनीतिकरण, भीतरी सत्ता, लोलुपता और भ्रष्टाचार से अवगत कराता है।

---

[1] पीली ऑधी पृ 249

'आवॉ' मे चित्रा जी ने स्त्री–पुरूष के वैवाहिक सम्बन्धो तथा उनके परस्पर सम्बन्धो के बारे में खुलकर चर्चा की है, उन्होने गौतमी, सजय कनोई, सिद्धार्थ और किशोरीबाई के माध्यम से स्त्री–पुरूष के परस्पर व वैवाहिक समस्याओं का चित्रण किया है, एक ओर जहाँ पुरूष–स्त्री को देह के ऊपर नही स्वीकारता, वही दूसरी ओर स्त्री–पुरूष का पवित्र प्रेम भी है जो कि किशोरीबाई के प्रेम मे है। 'आवा' मे पुरूषों की विकृति मानसिकता और अभद्रता से स्त्रियों को क्या–क्या समस्यायें होती हैं उनको खुलकर प्रकट किया गया है। पुरूष की विकृति मानसिकता और अभद्रता का चित्रण हमे अन्ना साहब, नमिता के मौसा, स्मिता के पिता, सिद्धार्थ व संजय कनोई में दिखता है।

चित्रा जी ने इसमे स्त्रियो व मजदूरो के जीवन की समस्याओं की अत्यधिक सूक्ष्म पडताल की है।

स्त्री का जीवन ही नही उसकी भावनाए, कल्पनाए, अनुभव आकाक्षाए जंजीरो मे जकडी हुई हैं। निर्भीक स्त्रियों, लेखिकाओं से समाज डरता है। इसीलिए उन्हे पितृसत्तात्मक नैतिक मूल्यों मे जकड़ी हुई शालीन पतिव्रता, समर्पणशील स्त्रियॉ ही आदर्श की प्रतीक मानी जाती है। विद्रोही स्त्रियो से उन्हे डर लगता है, क्योंकि उनकी कलम उनके घिनौने, अमानवीय चेहरों को बेनकाब करती है, उनमें जागरूकता का एहसास होता है केवल वह स्त्री लेखिका स्त्री अस्तित्व की स्वतन्त्रता अस्मिता के लिए सघर्ष कर सकती हैं

मृदुला जी ने अपने उपन्यास 'कठगुलाब' के माध्यम से स्त्री और पुरुष सम्बन्ध को लेकर नया दृष्टिकोण पेदा किया हैं इसमें की सारी स्त्रियॉ बजर हैं कठगुलाब हैं बॉझ है। और सारे पुरूष नामर्द, नपुंसक और (नर–सुअर) हैं।

'कठगुलाब' की मारियाना का यह कहना कि 'औरत खुद एक विडम्बना है' खास बात है समाज अपनी दोयम स्थिति का अहसास सदियो से 'जरीदार ओढ़नी की तरह कधों पर पडे परम्पराओं के बोझ को उतार फेंकने मे अपनी मुक्ति तलाशने की कोशिश।

उपभोक्ता (भोगवादी) संस्कृति के दुष्चक में धँसा पुरूष और उसका प्रतिनिधि प्रवक्ता (विपिन) "मन प्राण से तो स्त्री को जीत नहीं सकता, इस लिए दैहिक–भौतिक उपलब्धियो की प्राप्ति में अन्य पुरूषो को हराकर, स्त्री को हराने (जीतने) का अभिनय करता रहता है।"[1]

पुरूष अपने 'अहं की दृष्टि, वंश की वृद्धि, अनित्य को नित्य बनाने के मोह और यौनानंद के लिए स्त्री को देह और कोख तक ही जानता और समझता है, इसके अलावा न समझना चाहता है और न समझाना। आनंद के लिए स्त्री देह की सुन्दरता और वंश वृद्धि के लिए मातृत्व की सार्थकता पर ही सारा शास्त्रार्थ, शोध और संविधान रचा–रचाया है। दूसरी तरफ सत्ता और सम्पत्ति के उत्तराधिकारी(पुत्र) के लिए इतनी 'मइक्रो मेनीपुलेशन' या 'आर्टिफिशीयल हैचिंग' क्यो? क्योकि पुरूष को किसी स्त्री के माध्यम से खुद अपनी संतान चाहिए यानी ऐसा बच्चा जिसके बारे मे उसे जानकारी और विश्वास हो कि वह उसकी ही संतान है। संतान यानी असली उत्तराधिकारी या वैध पुत्र। यही तो पुरूष होने का उत्तराधिकारी प्रमाण पत्र है।

वर्षो पहले अपने माँ–बाप की मृत्यु के कारण स्मिता अपने बहन नमिता के साथ रहती पढ़ती हैं। जीजा के हाथों बलात्कार की शिकार होती है, लेकिन प्रतिरोध का समुचित सामर्थ्य न होने के कारण कोई कानूनी कार्यवाही नही कर पातीं। प्रतिहिंसा कि लिए ताकत और बल

---

[1] पृ 200

जुटाने के लिए अमेरिका जाकर समृद्ध होने का प्रयास करती है। शिक्षा और आर्थिक आत्मनिर्भरता हासिल करने के बाद उसकी समस्या समाप्त होने के बजाय बढी है क्योकि उसके अपेक्षाओ के अनुरूप 'नया पुरूष' अभी पैदा ही नही हो रहा है। मौजूदा सामती पूजीवाली समाज व्यवस्था मे ऐसे पुरूष के जन्म की कोई उम्मीद भी तो नही है। पुरानी नैतिकता के आदर्श पूर्णतया टूट–फुट गये है, मगर नयी आदर्श समाज व्यवस्था और चेतना का विकाश नही हुआ है । जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति के उत्तराधिकार और विवाह से बच्चो की वैधता बनी रहेंगी तब तक नये सम्बन्धो का स्वस्थ विकास नही हो सकतां। मौजूदा परिवार व्यवस्था का बेहतर विकल्प सिर्फ समाजवादी व्यवस्था में ही देखने को मिलता है, मगर पूजी पुत्रो को वह व्यवस्था कैसे रास आती या आयेगी।

स्मिता का अमेरिका जाकर 'समृद्ध' होने का सपना, मारियान से नारी–वादी विमर्श की ट्रेनिंग, ऑक्सफॉम परियोजना के तहत भारत वापसी, इसी परियोजना में असीमा का सहयोग महत्वाकांक्षी मध्यवर्ग की इन स्त्रियों द्वारा नर्मदा को भी अपने साथ मिला लेना एक के बाद एक का परिवार से स्वतत्र होते जाना, प्रायः सभी स्वतंत्र स्त्रियो का मौन संघर्ष है।

'कठगुलाब' की मूल समस्या श्रम और उत्पादन के श्रोतों से कटे और परोपजीवी लोगों के 'बंजर' की कहानी है।

भाषा–शिल्प–

विचारो की अभिव्यक्ति भाषा में होती है और विषय की अभिव्यक्ति शैली में। भाषा से ज्ञात होता है मनुष्य क्या सोचता है और शैली से पता चलता है कि कैसे सोचता है। साहित्य में भाषा और शैली पर बहुत विचार किया गया है। भाषा का प्रकरण तो स्वतंत्र रूप से भाषा

विज्ञान का अध्ययन क्षेत्र ही बन चुका है। शिल्प जैसा प्रकरण भी भाषा–विज्ञान के ही अर्न्तगत शैली–विज्ञान जैसी शाखा का अध्ययन क्षेत्र निर्मित हो चुका है। यह जरूर है कि आधुनिक काल में भाषा–विषयक अध्ययन पर अधिक जोर दिया गया है, जो कदाचित् पहले कम था अब भाषा–विज्ञान की परिधि में कथा–भाषा, काव्य भाषा और नाट्य भाषा जैसे अध्ययन भी शामिल कर लिये गये हैं। कथा–भाषा के अन्तर्गत कहानी अख्यायिका और उसकी शिल्प प्रविधि के अध्ययन किये जाते है। भाषिक अध्ययन को इस बात के निर्णय के लिए आधार उपस्थित करते हैं कि किसे हम काव्य भाषा कहेगें और किसे कथा–भाषा। इसी तरह नाट्य भाषा, आलोचना भाषा और पत्र भषा के अन्तर को भी समझने और समझाने के प्रयास आधुनिक भाषा शास्त्रीय अध्ययन मे किये जा रहे है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या लेखक या कथा लेखिका को अपने कथा लेखन में क्या पहले भाषा शास्त्रीय अध्ययन में पारंगत होकर तब लिखने बैठना चाहिये या फिर जब तक उसकी शिल्प–विधि से परिचय न हो जाय तब तक कलम उठानी ही नही चाहिये। साहित्य लेखन में ऐसा नहीं होता है। किसी विधा के शास्त्र को समझकर उसमें उतरना एक विशेष आग्रहशील विवेके–यात्रा जरूर हो सकती है, परन्तु कभी ऐसा आवश्यक नहीं कि प्रतिमान निर्धारित करके साहित्य की समझ विकसित की जाय। प्रायः ऐसा हुआ है कि निर्धारित प्रतिमान पर रचा गया या लिखा गया साहित्य सर्वस्वीकार्य नहीं हो पाता, सर्वजनीन नहीं बन पाता इसीलिए आग्रह मुक्ता बेहतर साहित्य और भाषा दोनों के लिए पहली शर्त है।

प्रभा खेतना का उपन्यास 'छिन्नमस्ता' और 'पीली ऑधी' में बैचारिक आग्रहशीलता तो लक्षित की जा सकती है, परन्तु साहित्य के स्तर पर और विशेषत. भाषा तथा शिल्प , विन्यास के स्तर पर वे आग्रह

मुक्त दिखलाई पडती है। बल्कि कहा जा सकता है कि मुक्त भाषा में मुक्त विचारो की अभिव्यक्ति इन उपन्यासों का भाविक सौन्दर्य है। भाषा की दृष्टि से समकालीन हिन्दी उपन्यासो पर विचार किया जाय तो प्रायः सभी उपन्यास इसी मुक्त भाषा विन्यास के सौन्दर्य खड़े करते है। इसी अर्थ मे उन्हें नया भाषा के माध्यम से समाज की परख की जाती है और समाज के माध्यम से भाषा की सरचना। किसी समाज की गहरी जॉच पडताल के लिए भौतिक ऑखे ही पर्याप्त नही होती भाषा की ऑख उसे ठीक–ठीक कह देती है। इस दशक के कथा लेखकों पास भाषा की समझदार ऑखें हैं। ये अनदेखा को देखा की तरह नही बल्कि देखे हुए को वास्तविक भाषा मे कहने की कोशिश करती हैं। वैसे साहित्य में सब देखा हुआ ही नही कहा जाता, परन्तु चाहे प्रत्यक्ष देखा के आधार पर ही नव समाज के सृजन का सपना देखा जा सकता है। आज जो सच लगता है, या है, वह कभी सिर्फ किसी के दिमाग मे सपना या केवल कल्पना रहा होगा। व्यक्ति और समाज, दोनों की ही अपनी–अपनी सीमाएं हैं, अन्तर्विरोध और गतिरोध भी। समाज की मंगल कामना के विना, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओ के जंगल मे एक न एक दिन आग लगने के अलावा दूसरी कोई स्थित या सम्भावना ही नही है। व्यक्ति के गौरवमय अतीत का कोई न कोई 'आदि' अवश्य है, जिसके बाद रास्ता बन्द हो जाता है। मानव समाज का भविश्य अनदेखा, अन्जाना भले ही है मगर है उज्जवल और अनन्त। 'पीली ऑधी' भविष्य की स्त्री का सपना भी है और नये सविधान की रूपरेखा भी' [1]

[1] समय के उस पार पृ 65

'पीली ऑधी' मे प्रभा खेतान ने एक भाषा संसार गढा है। 'छिन्नमस्ता' मे भी भाषा–शिल्प से ही उसकी मारवाड़ी सस्कृति पता चलती है इन दोनो उपन्यासो में भारत की अनेक भाषाओं और बोलियों के भडार खोजे जा सकते है। हिन्दी के खडी बोली का वर्तमान स्वस्थ रूप तो इसमें है ही, उसकी तमाम बोलियों और उप बोलियों के दृष्टान्त भी इसमे मौजूद है।

राजस्थानी भाषा की कडक और उसके लोक मुहाबरों की रौनक उपन्यास के तमाम पृष्ठो में अटे पडे है। 'पीली ऑधी' के आरम्भिक पृष्ठों मे ही लेखिका ने संकेत दे दिया है कि इस उपन्यास की हिन्दी राजस्थानी आच्छादित है विवाह के समय पीहर हुलस कर गाया जाने वाली बडी आवाज का एक राजस्थानी गीत इस प्रकार है।

"म्हारी ननदल बाई तो सुकुमार ,
ए ननदोई म्हाने प्यारा लागों जी।"[1]

आगे शगुन विचारती हुई पीली आधी की एक वीणनी गुनगुना उठती है–

'उड़..................उड़ रे...... ....म्हारा काला कागला, जे म्हारा पीव जी घर आवे। खीर खांड के थाल परोसू.............. थारी सोने चोच मढ़ाऊ रे कागा.............थारी.....................जलम ....जलम .... गुण गॉऊ रें...........................कागा जलम..............जलम........." [2]

---

[1] पीली ऑधी पृ 10

[2] (वही पृ 10)

कथाभाषा मे वर्णात्मक भाषा की विशेष उपयोगिता ठहरती है। राजस्थानी भाषा की शब्दावली कितनी मनमोहक भी होती है, इन पक्तियों में देखा जा सकता है।

"काको जी कल ही तो मॉ जी को बता रहे थे.।...राम की मॉ , तुम तो छप्पनियो के अकाल की कल्पना नही कर सकती. ठोर डांगर की तो किसको चिन्ता थी। चारो तरफ हड्डियों के कंकाल के ढ़ेर लग गये थे, प्यास से आदमी तडफडाने लगे थे। भूख और गरीवी देखी नही जाये। दिन मे एक बार बाजरे की लप्सी मिल गयी या किसी को दो टिक्कड़ खाने को मिल गये तो बहुत बडी बात थी। क्या करते लोग, रोजगार की खोज में सब निकले । सेठ साहूकार सब निकले, उनके मुनीम ,गुमाश्ते निकले। कोई अजमेर, मालवा की ओर गया, कोई पजाब की तरफ तो कोई बंबई की ओर। वापू जी ने मालवा मे अफीम का व्यापार तमी शुरू किया था। अपनी अफीम की पेटियॉ चीन और जापान तक जाती। साथ ही बडे ताऊ जी ने चुरू में गद्दी खोली महाजनी का काम बढाया।" [1]

'छिन्नमस्ता' मे भी मारवाड़ी सस्कृत भाषा के रूप में है। साथ ही अवधी और भोजपुरी का मिश्रित रूप भी मिलता है। इसका प्रयोग इन्होनें बहुत अच्छा किया हैं, जैसे, इस वाक्य खण्ड में–'अरे मोर बचवा, बडा अनर्थ हो गइल, बडा बाबू का आफिस में हार्ट फेल हो गइल। हमार देवता जैसन मालिक नाहीं रहिलें ....अरे भगवान ! ईका जुलुम करिले रे . ?" [2]

---

[1] (वही पृ 10–11)

[2] ('छिन्नमस्ता' पृ 19)

अधिकतर इसमे खड़ी हिन्दी के स्वस्थ रूप का ही प्रयोग किया है। इसमें भाषा की आवेगमयता दर्शनीय है।

प्रभा जी ने अपने दोनो उपन्यासो मे अग्रेजी शब्दावली के स्वाभाविक प्रयोग किये है। स्वाधीन भारत के नागरिक है मगर अंग्रेजी सिस्टम के पोषक है। उनकी कही कही बात–चीत का लहजा अंग्रेजी, अग्रेजी भाषा और अग्रेजी स्टाइल मे प्रकट होता रहता है। कुछ उदाहरण पहले 'पीली ऑधी' से–

1–"दीदी यु नो, जब पहाड पर जाते है ना तब माई मॉम इलॉ मेरे सलवार कमीज पहनलेती है। शीइज सो स्लिम"

"ग्रेट ! छोटी आराधना अब ऑखे नचाते हुए बोली जस्ट इमेजिन पापा। बडी दीदी की ताई जी बैडमिटन खेलती हुई कैसी लगेगी"

"फैन्टास्टिक ! अवर पिंकी हैज इमैजिनेशन!"[1]

2. "उसके बदले दैट ओल्डी होली काऊ? हाऊ आई हेट हर"[2]

1. डोट बी सिली प्रिया ! तुम विल्कुल सहज और स्वाभाविक हो।[3]

2. "यु आर केजी प्रिया! तुम अब भी चालीस के ऊपर नही लगती"[4]

'पीली ऑधी में राजस्थानी गीतो के सम्पुट कहीं कही मिलते हैं जिनके आलोक में यह कहा जा सकता है कि प्रभा खेतान

---

[1] पीली ऑधी पृ 198

2 वही पृ 167

3 छिन्नमस्ता' पृ 211

4 वही पृ 218

के लेखकीय व्यक्तित्व पर स्थानीय संस्कृति और क्षेत्रीय भाषिकता की छाप है।

इन दोनों उपन्यासो में कथा शैली अत्यन्त स्वाभाविक है यह स्वाभाविकता उपन्यास की पठनीयता मे आस्वाद भरती है। कहीं भावुक प्रसग है तो कहीं समझने योग्य विचार लोक के सदर्भ, संदर्भ और प्रसंग की विषयानुकूलता लेखिका की स्मृति मे सदैव सजीव बनी रहती है।

चित्रा मुद्‌गल ने 'आवा' के भाषा शिल्प को विल्कुल उपन्यास के अनुरूप ढाला है। इस उपन्यास में पात्रों के चरित्र और उनके व्यवहारानुसार भाषा का प्रयोग हुआ है, जहॉ भाव भाव कोमल है वहॉ भाषा में भी कोमलता है और ज्यो ही भाव उग्र हो रहे हैं, भाषा भी उग्र रूप धारण कर ले रही है। चित्रा जी ने उपन्यास में मुम्बईया बोली, अवधी, खडी बोली स्थानीय बोली, देशज शब्द व अरबी–फारसी के शब्दों का प्रयोग किया है। इन सब भाषाओं ने मिलकर उपन्यास की भाषा को अद्‌भूत व चमत्कार पूर्ण बना दिया है।

'आवा' उपन्यास में लेखिका चित्रा जी ने अवधी भाषा का हिन्दी खड़ी बोली के साथ अत्यन्त सरल , सहज व आत्मीय प्रयोग किया है। उपन्यास के पात्र रहते तो है उपन्यास की कथाभूमि मुम्बई मे, लेकिन मूलतः अवध के हैं इसीलिए लेखिका ने अवधी भाषा का भी प्रयोग किया हैं, जिसमें उपन्यास की भाषा व शिल्प में रोचकता उत्पन्न होती है।

हेठी कैसी, गान लेने में भैया, जिसकी बान उसी को साजे, न हम हुक्का–फरशी वाले ठहरे, न गिलौरियॉ सजाने वाले, झाड़–झूड़ कर टाड पर रखा छोटे प्रेशर कुकर का खोखा उठा लाई मॉ, संग सुंतली।"[1]

---

[1] आवा पृ 36

इससे स्पष्ट होता है कि चित्रा जी ने अबधी भाषा को खड़ी बोली हिन्दी के साथ मिला कर उपन्यास की भाषा को नवीन रूप प्रदान किया है।

चित्रा जी ने 'आवा' में कहावतों का भी प्रयोग किया है, ये कहावते उपन्यास व भाषा के अनुरूप है। तथा इनका प्रयोग सही ढंग व सही स्थान पर हुआ है। कुछ कहावतें द्रष्टव्य हैं–

1. आधी छोड़ सारी को धावै, आधी मिलै न सारी पावै।
2. मॉ मरे मौसी जिये आदि।

चित्रा जी ने अपने उपन्यास में मुहावरो का भी प्रयोग किया है, इस उपन्यास की अनुभूति की भाषा तद्भव, तत्सम व सहज बोल–चाल की भाषा है जो अनेक दिलचस्प, स्वाभाविक व प्रभावी मुहावरों का अविष्कार करती है कुछ उदाहरण इस प्रकार है–

"सीधी उंगली घी न निकलता तो भिड़ना ही पड़ता भिड़ जाती, तू क्यो झगड़े से डरती है?"

"अरे.SSS.............इन चिरकुटो की ....सुनते ही तेरे प्राण पखेरू उड़ जाए, साढ़े तीन हजार तनख्वाह नही ले रहीं मैं?"

इस उपन्यास की भाषा मे मुम्बइया बोली का भी प्रभाव है। इस उपन्यास के अधिकांश पात्र मुम्बइया बोली का ही प्रयोग करते हैं क्योंकि उपन्यास की कथाभूमि मुम्बई की है। उदाहरण...............

"शाहबेन द्वारा : देवी शंकर ठीक है, पिच्छू तू इतना सुबू इदर काय को आई?"

'आवा' की भाषा मे कौतुहल क्षिप्रता और पठनीयता है। 'आवॉ' की कथा सुगठित तथा सुसम्बद्ध है तथा सहज ही हृदय में कौतूहल जगाये रखने में समर्थ है।

इन्होने अपने उपन्यास में भाषा की अनेक स्तरों पर रचना की है। जब वे विचार प्रखर होती हैं तो उनकी भाषा स्वयं ही अकामक हो

जाती है। भाषा के अन्दर से कोमलता के बजाय ऐसे वाक्य झरने लगते हैं जो आन्तरिक मर्म बनकर बाहर निकलते है–

"भीड उसे ढेंला खाये सैकडो हजारों मधुमक्खियों के छत्तों सी लगती जो मौके की ताड मे स्वयं ढेले लिये बैठी स्त्रियॉ देखते ही अपने ऊपर फेंक लेती।"

चित्रा जी की भाषिक क्षमता पूर्ण रूप से इस संवेदना को व्यक्त करने में सक्षम हुई है। उनकी इसी सवेदना के कारण पाठक इस उपन्यास को पढ़ते समय इससे आत्मीयता स्थापित कर लेता है। उदाहरण–"आओ पाण्डे बिटिया, तनिक अपनी सुनंदा बहिनी का मुँह देखि ले SSS.............देखि लो.... बिटिया.......... ....कैसे दगा दे गई , इन बूढ़ हाड़न को। अरे हम कहॉ से जांगर लायेंगे। छौनी इत्ता कि तेरी दुधमुँही को पाल–पोस खडा कर दें, कहॉ से करेजे मे ताप भरे SSS.....रे SSS...........[1]

भाषा का सहज प्रवाह कथानक को आगे बढ़ाने में ही नहीं उसकी कुटिलताओं और क्षुद्रताओं की गॉठे खोलने में भी सक्षम है। कथा में थोडी सी नकारात्मक सोच उत्पन्न हुई है, जिसका उपन्यास में अपना महत्व है। उदाहरण, नमिता की मॉ में–

"मेरे इतने हाथ–पैर बॅध गये कि अब तेरे इशारे पर उठक–बैठक करनी होगी? आदत पड़ गयी टकराने की कंजड़िन की..... कोई भी शुभ कारज विना रोना पीटना मचाये पार नहीं लगने देती......." [2]

चित्रा जी की वर्णन क्षमता अद्‌भुत है। उन्होनें अपने उपन्यास में प्रसगों के बीच से अचानक प्रसंग उठा लेने और छोड़ देनें की शैली का

---

[1] पृस 151

[2] पृस 33

भी प्रयोग किया है जो उपन्यास को अद्‌भुत बनाता है। नये विम्ब और नये प्रतीक भी उपन्यास को विशिष्ट बनाते हैं। उदाहरण इस प्रकार है–

1. "पश्चाताप आदमी को बरगलाता नहीं, सही रास्ते पर लाता है।"[1]
2. "सुख की ही बिरादरी नही होती, दुःख का अपना कुटुम्ब छोटा नही होता"[2]

'आवा' में भाषा और शिल्प की चित्रात्मकता के माध्यम से भावों को इस प्रकार से व्यक्त किया है कि पढ़ने वाले भाव विह्वल हो जाते हैं।

"सहस्रादि पर्वत श्रृंखला की एक के भीतर एक जन्मती ऊचाइयो और हरी–भरी धुंध में डुबी सुरमई घाटियों की हौक–भरी गहराइयो की सुषमा उसे जैसे किसी अलौकिक जगत में खींच ले गयी।"3

उपन्यास लेखिका चित्रा जी ने अपने उपन्यास में एक नवीन प्रयोग किया है, जिसे भाषा और शिल्प का कलात्मक प्रयोग कहते हैं, उन्होंने उपन्यास के कुछ पात्रों पर इसका सजीव चित्रण किया है।

'आवां' में शब्दों का ताना–बाना उन्होंने इस प्रकार बुना है कि इसमें जहॉ एक ओर संस्कृत के शब्द है वहीं अरबी, फारसी के शब्दो का प्रयोग किया है। इसमें चित्रा जी ने स्थानीय शब्द देशज, अवधी व अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग किया है जिन शब्दों का प्रयोग हिन्दी लेखन या बोल–चाल मे प्रचलित है उन्होनें शब्द चयन में

(पृ 372)

[2] पृ 372

3 पृ 280

विशेष सतर्कता बरती है जिसके कारण उपन्यास के भाषा व शिल्प में विखराव नही आया वह भाषा की गतिशीलता बनी रही ।

'इदन्नमम्' और 'चाक' मैत्रेयी पुष्पा का महाकाव्यात्मक आकार का सामाजिक यथार्थ वादी उपन्यास है जिसे गहरी सवेदना एवं भावात्मक लगाव के साथ लिखा गया है और जिसमें आंचलिक जीवन का वैविध्य अकित हुआ है। इसीलिए लेखिका को एक सजीव वैविध्यपूर्ण एवं सर्जनात्मक क्षमता से सम्पन्न भाषा का सृजन करना पडा है इन उपन्यासों की भाषा नि.सदेह अपनी एक विशिष्ट पहचान स्थापित करती हैं। चाहे वह कथावक्ता के रूप में लेखिका की भाषा हो या कथा संसार के पात्रों की भाषा हो

लेखिका को भाषा की बुनावट में प्रशंसनीय सफलता मिली है। इस सफलता के कई आयाम हैं, जिनमे सर्वप्रमुख है भाषा में स्वाभाविकता एवं सहजता का सौन्दर्य। ऐसा इसलिए सम्भव हो पाया है क्योकि विन्यप्रदेश की इस कथा में बुन्देलखण्डी बोली की आत्मा सजीव हो उठी है। व्याकरण के प्रति बिना किसी आग्रह के बुन्देली मिश्रित खड़ी बोली का यह विधान बुन्देली लय और गध को पूरीद ताजगी एवं सम्पूर्णता के साथ अपने में समेटे हुए है। भाषा की इस स्वामाविक एवं सजीवता पर टिप्पणी करते हुए राजेन्द्र यादव कहते हैं–

"मानों मन्दा और उसके आस–पास के लोग खुद अपनी बात कह रहे हों – अपनी भाषा और अपने लहजे में– बुंदेलखण्डी लयात्मकता के साथ अपने आस–पास घरघराते केशरों और ट्रैक्टरों के बीच।"[1]

यह संवेदनशील टिप्पणी कितनी सच है यह एक दो उदाहरणों से

---

[1] 'इदन्नमम्' की भूमिका , 'अप्प दीपो भव'राजेन्द्र यादव)

स्पष्ट हो जायेगा बऊ का एकालाप देखिये–" मोरे महेन्दर होते तो क्या ठूठो मे अकेले डुकरते रह जाते हम? सो सोच लई विन्नू , कि दया–माया छोड महेन्दर की मताई! विनती गुहार की लुंज–पुंज केंचुरी त्याग और खोज कोई निसकट गैल।"................थाने चौकी पै गुहार, पुकार पोंहचा के देख ली। ऐन लड़ गये तो सोच लिया कि अन्धे बहरे हैं पुलिस–थाने।"[1]

इसी प्रकार की भाषा 'चाक' मे भी देखी जा सकती है–" हम जाटिनी जेब में विछिया धरे फिरती है.. ....मन आया ताके पहर लिये....... .....का पल्लौ हो गयी? .... " [2]

भाषायी सरचना में स्वाभाविकता सहजता लाने के लिए भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण उदार होना चाहिए। मैत्रेयी के लेखन में हम ऐसा ही पाते है। लेखिका ने स्वयं अपनी और पात्रों की भाषा में विविध भाषाओं, बोलियों के उन सभी शब्दो का खुलेमन से प्रयोग किया है जिनका प्रयोग आम तौर पर बोल–चाल में होता है। देखिये उर्दू का पुट लिये दादा की भाषा–"सोचते हैं गॉव में सलाह कर लें। विकरम, बलभद्र कौन होते हैं अपनी राय सलाह देने वाले। हमारा संग तो दे रहे हैं गॉव के लोग। कहते है न जल की एक लहर गददारी कर जाये तो पूरी जखीरा डूब जाता है। सो देख लो, कैसा परन निभाया है बच्चा–बच्चा ने।"[3]

अंग्रेजी के भी कुछ एक शब्द यहॉ–वहॉ प्रयुक्त हुए हैं। संवादों में इनका प्रयोग इस प्रकार है–" दाऊ जू दवाई नहीं खाते टेम से" [4]

"बिल्डिंग तो है ही आप ही बुला दो कहीं से डाक्टर"[1]

---

[1] 'इदन्नमम् पृ 45

[2] चाक पृ 104

[3] 'इदन्नमम्' पृ 108

[4] वही पृ 125

भाषा भावानुकूल एव विषयानुकूल होना अर्थात् भाव एवं विषय के अनुरूप भाषा का परिवर्तित होते रहना, सर्जनात्मक भाषा का एक विशिष्ट लक्षण है ऐसी सम्बेदनाशील भाषायी संरचना जीवन्त अनुभव की मॉग करती है वही स्वय पाठक के लिए जीवन्त हो जाती है 'चाक' और 'इदन्नमम्' की भाषा ऐसी ही है।

मार्मिक स्थलो पर भाषा प्राय. आलकरिक हो गयी है, इसमे भाषा की चरूता बढ गयी है। कुसुमा द्वारा दाऊ जू के प्रति अपने समर्पण भरे प्रेम की अभिव्यक्ति की भाषा दर्शनीय है–

"पर इतेक जरूर है कि दाऊ जू के लाने अमर जल की तरह हम हर रात हाजिर रहते है। वे तिरपित रहें। अफरे रहें। हॉफते, कॉपते जीते रहें, और क्या चाहिये हमें? ....जाने हमारे पिरीत में बल है कि उनके बिसवास मे हौसला, जमराज अभी तक तो दूर खड़ा है विन्नू।" [2]

मृदुला गर्ग की भाषा दूसरे ही प्रकार की है। 'कठगुलाब' का भाषा शिल्प बेजोड है। इनके भाषा शिल्प से ही इनके साहस का पता चलता है। 'कठगुलाब' स्त्री और पुरूष के सम्बन्धों को लेकर लिखा गया है। इन्होनें शब्दों का चयन इस प्रकार किया है जो कि इसमें व्यक्त भावों को पूरी तरह अभिव्यक्ति देते हैं। मूल रूप से तो पूरा उपन्यास खड़ी बोली हिन्दी में लिखा गया है परन्तु अंग्रेजी शब्दों का भी विशद् वर्णन मिलता है। और तो और 'कठगुलाब' में 'नारी मुक्ति' आन्दोलन का झंड़ा उठाये स्त्री शवित का प्रतिनिधित्व करती समाजशास्त्री मारियान द्वारा गालियो की बौछार भी करायी है– "कपटी, धुर्त, नामर्द, बास्टर्ड या 'यू सन ऑफ ए बिच' । 'यू इंयो टेंट बास्टर्ड'"।

---

[1]वही पृ 297

[2] 'इदननमम्' पृ 126

अलका सरावगी की भाषा पूर्णतः समृद्ध है। उनका 'कलिकथा वाया बाईपास' है तो मारवाडी परिवार की कथा परन्तु लिखा बगाल की पृष्ठ भूमि पर गया है। इसलिए इसमे बगला कहावत भी दिखायी पड़ती है। उदाहरण–

"आड़ाली धानेर चिउड़ा, विन्नी धानेर खोई
फोडित पुरा पाटाली गुड़, सिलिमपुरा दोई,
ओ बोन्ध, जाइयो आमार बाड़ी
तोमार लाइका भइजा तोइरी
आउस धानेर मूडी "[1]

बंगाल की भाषा का उन्होंने अपने उपन्यास में बहुत अच्छा प्रयोग किया है। अंग्रेजी उर्दु और देशज शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

भाषा ही लेखक या कवि के रचना ससार को व्यक्त करने का माध्यम होती है। एक उपन्यासकार का लक्ष्य अपने कल्पित संसार को मूर्त विश्वसनीय और सजीव रूप में प्रस्तुत करना होता है जिसके लिए उसे अपनी भाषा को सर्जनात्मक क्षमताओं से सम्पन्न करना पड़ता है। उपन्यास का भाषा विधान एक दुष्कर कर्म है क्योंकि उपन्यास साहित्य विधाओं में सर्वाधिक मिश्रित विधा है। इसकी रचना तो गद्य में होती है, पर शायद ही कोई विधा हो जिसकी प्रविधि का प्रयोग उपन्यासकार न कर लेता हो। उपन्यास में रचनाकार की भाषा के साथ विविध पात्रों की भी अपनी–अपनी भाषा होती है फलतः भाषा संरचना का फलक और विस्तृत हो जाता है। ऐसे वैविध्य पूर्ण भाषा की रचना के लिए जबर्दस्त

---

[1] कलिकथा वाया बाईपास पृ 127

भाषाधिकार अपेक्षित है, और यह अधिकार इस दशक की लेखिकाओ मे पूर्णत: दिखाई देता है, इसमे सन्देह नहीं।

अध्याय–5

लेखिकाओ के उपन्यास में स्त्री विमर्श

'स्त्री विमर्श के अंतर्विरोध' जानने समझने की गंभीर बौद्धिक प्रखरता के साथ डा0 प्रभा खेतान ने लिखा–

"अक्सर मै सोचती हूँ कि औरत अपने बारे में ऐसा कुछ लिखें, जिसे किसी पुरूष ने अभी तक न लिखा हो। क्या लिखना चाहिए? मैं अब भी नही समझ पा रही हूँ। ऐसी कोई स्पष्ट विचारधारा मेरे पास नहीं, किन्तु इतना जानती हूँ कि स्त्री के अनुभवो की अभिव्यक्ति कुछ विशेष और अलग रंगों और रेखाओं की पहचान है। कम से कम कुछ तो ऐसा अखोजा रहा है, जिसे केवल औरत ही खोज सकती हैं।"

स्त्री के बारे में अलिखित अखोजा अछूताः या अद्वितीय क्या है– पता नहीं परन्तु "कुछ तो ऐसा होगा जो विल्कुल हम स्त्रियों का निजी सच होगा, हमारा अपना भोगा, जिया हुआ सच। "हो सकता है लेकिन समस्या तो यह है कि वे, जो पढी–लिखी नहीं हैं बेजुबॉ हैं, कम से कम नादानी की आड ले लेगी, मगर हम जैसी तेज, तर्रार साहित्यिक, सांस्कृतिक स्त्रियॉ क्या करें? पुरूषों की सधी मंजी हुई आलोचनात्मक भाषा का सामना कैसे करे? अपनी जाति और वर्ग के पुरूषों का ही साथ देगीं हमारा नहीं.............कारण? केवल इसलिए कि हम सवर्ण हैं सुविधा सम्पन्न है? शहर में हैं? अब हम किसके सामने रोयें।" यह शहरी सुविधा सम्पन्न सवर्ण स्त्रियों की स्थायी मनोग्रंथि है। प्रभा खेतान स्वयं स्वीकार करती हैं..."सस्कृत, संस्था और धार्मिक सुविधाएं अभिजात स्त्रियों को अधिक मिली हैं, किन्तु इन्हीं सुविधाओं ने कहीं उनकी चेतना को और अधिक जडीभूत भी बना दिया है। अपनी कुलीनता के नशे में वे बेहोश हैं, भारतीय मर्यादा की गलबहियॉ उन्हे बार–बार व्यवस्था के सम्मोहन की ओर ढ़केलती है तथा अपनी खुद की पीड़ा की नग्नता को देखने समझनें

के बजाय वे पुरूषो द्वारा प्रदत्त पीडा के रस मे ही पगी रहती हैं " और हमारे सामने चुनौती यही बनी रही है कि बार–बार ऐसा क्या लिखा जा सकता है, जो सबको चौका दे।"[1]

शायद ऐसी ही चुनौती का परिणाम है 'छिन्नमस्ता', 'तालाबंदी', 'आओ पेपे घर चले', 'अपने–अपने चेहरे' और 'पीली आधी'।

'छिन्नमस्ता' के फ्लैप नं.2 पर इसके बारें में लिखा गया है–"यह उपन्यास प्रिया नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है, जो निरंतर शोषित है, समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरूष की आदिम भूख से भी टूट जाने की हद तक लेकिन वह टूटती नहीं, बल्कि शोषक शक्तियों के लिए चुनौती बनकर एक नई राह पर चल पड़ती है। और यहॉ से आरम्भ होती है उसकी बाहरी और आन्तरिक यात्रायें, संघर्षो का एक अटूट सिल–सिला, बीच–बीच में वह शिथिलता अनुभव जरूर करती है, लेकिन उसके सामने एक लक्ष्य है–समाज की जिन बर्बर मर्यादाओं और शक्तियों के सामने एक वह मेमने की तरह मिमियाती रही थी, वे देखें कि नारी सदा ऐसी ही निरीह नहीं रहेगी और सचमुच प्रिया उभरती है अपनी निरीहता से अपनी खोई हुई अस्मिता को पुनः प्राप्त करके वह एक सबल नारी के रूप में उपस्थिति होती है। संक्षेप में कहें तो प्रिया के माध्यम से लेखिका ने नारी स्वतंत्र्य की भावना का वास्तविक रूप उद्घाटित किया है।

स्त्री सम्बन्धी आचार–विचार में यद्यपि अभी भी मूलभूत अन्तर उपस्थित नही हुआ है परन्तु स्त्री सम्बन्धी समस्याओं ने इधर सबका घ्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति (स्त्री स्वतन्त्र न

---

[1] औरत अस्तित्व और अस्मिता ,अरविन्द जैन , पृ63

रहे अथवा स्त्रियो को स्वतन्त्रता की योग्यता नही है) कहने वाले मनु और 'जिमि सुतंत्र भएँ विगरहि नारी' कहने वाले गोस्वामी तुलसीदास के इस देश में भी नारी स्वतत्रता की आवाज बुलन्द होने लगी है। और अब नारियॉ पूर्णतः स्वतत्रता चाहती है चाहे वह देह के स्तर पर हो या आर्थिक, सामाजिक, पारम्परिक स्तर पर। खासकर अन्तिम दशक की लेखिकाओ ने नारी स्वतत्रता का नारा बुलन्द किया है। पितृसत्ता के खिलाफ, मातृत्व के खिलाफ, वैवाहिक सस्था के खिलाफ अपनी आवाज उठायी है।

इन लेखिकाओं ने अपने कथा–साहित्य में सदियों से नारी पर होते आ रहे उत्पीड़न को पहचाना है और इस स्त्री विमर्श ने मर्दवादी राजनीति का खुले शब्दो मे पर्दाफाश किया है। प्रश्न यह उठता है कि क्या ये लेखिकाएं, स्त्री विमर्श इस पितृक राजनीति, पितृक मुहावरे को तोडने मे समर्थ है। क्या ऐ लेखिकाए इस दृष्टि से एक अलग मुहावरा तैयार कर रही है? अथवा उसी पितृक मुहाबरे मे जकड़ कर रह गयी है? इन लेखिकाओं को स्वंय निपटना है।

एक कट्टर पंथी राष्ट्र् में तसलीमा का नारी मुक्ति के लिए संघर्ष दुनिया की तमाम औरतों के लिए एक चुनौती है। उनका समूची स्त्री जाति को दिया गया जो साहसिक संदेश है उसे आत्मसात करने की जरूरत है "नारी यह दुनिया तुम्हारी है। इस दुनिया में तुम अपनी इच्छा से जीओं। यह दुनिया यदि एक नदी है, तुम उस नदी में तैरती रहो। यह दुनिया यदि आकाश है, तुम पूरे आकाश मे विचरण करती फिरों, जीवन यदि तुम्हारा है, जो दरअसल तुम्हारा ही है, तो वह जीवन तुम जैसी

इच्छा हो जीओ, नारी तुम अपना हक खुद हासिल करो। उसे अब पुरूष की गुफा से लहुलुहान होकर न निकलना पडे।" [1]

नारी और उसके आत्म संघर्ष पर कम नही लिखा गया है। तमाम कविताए हैं। इस आशय की तमाम कहानियॉ है इन सन्दर्भो की और उपन्यास भी कम नही है, इन्हे केन्द्र मे रखते हुए। अब तो आलोचना विमर्श और टिप्पणियॉ भी मिलने लगी है नारी को समझने और खोजने की फिराक मे। प्रभाखेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मृदुलागर्ग, चित्रामुद्गल, अलका सरावगी नारी है किन्तु लेखिका भी। उनका लेखन तो नारी केन्द्रित होकर ही आगे बढ रहा है। जाहिर है एक तो स्त्री, दुसरे लेखिका, तीसरे चिन्तन विषय स्त्री। अतः स्त्री को सम्पूणतः जीती हुई ये लेखिकाएं बहुत कुछ अनकहा कह रही हैं और लोगों के कहे और खोजे का जबाब भी दे रही हैं। प्रभाखेतान ने एक जगह प्रश्न किया है कि, "क्या पुरूष का दृष्टिकोण स्त्री के प्रति कभी उदार होगा? मुझे लगता है कि ऐसा शायद ही हों अपनी तमाम उदारता के बाबजूद साहित्य के क्षेत्र में भी निर्णय लेने का अधिकार पुरूष ने अपने हाथ में रखा" [2]

'पीली ऑधी' और 'छिन्नमस्ता' का सामाजिक यथार्थ स्त्री–विमर्श है। स्त्री को घुटन–पूर्ण सामाजिक यातना–गृह से मुक्त करना है। यह मुक्ति सिर्फ किसी मारवाडी घराने की स्त्रियों के लिए नहीं, किसी सोमा, प्रिया और चित्रा के लिए नहीं, अपितु समाज की पुरूष चारदीवारी में कैद किसी भी स्त्री के मुक्ति के लिए है।

---

[1] तसलीमा नसीन , औरत के हक मे, पृ 127

[2] औरत अस्तित्व और अस्मिता हमारी भूमिका प्रभा खेतान , पृ स 16

"विवाह" स्त्री की नियति है। विवाह जैसी सस्था के अपने कानून–कायदे है, उसके अनुसार उसे चलना भी है। चलती है तो वह आचरण शीला नारी है, उल्लघन करती है तो व्यभिचारिणी कहलाती है। प्रभा जी ने 'छिन्नमस्ता' और 'पीली ऑधी' मे विवाह सस्था के इस मिथ को तोड़ने का प्रयास किया है।

दरअसल स्त्री का स्त्रीत्व उसका मातृत्व होता है। मातृत्व के विना स्त्रीत्व किस काम का। इस स्त्री मनोविज्ञान पर अनेक उपन्यास लिखे गये हैं। 'पीली ऑधी' उस परम्परा की एक कड़ी है। मातृत्व की स्त्री सार्थकता को लेकर उषा प्रियवदा ने 'पचपन खम्भे लाल दीवारें' लिखा है। यह एक सुशिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री का व्यथा है। पारिवारिक और आर्थिक कारणो से विवाह न कर सकने वाली इस उपन्यास की स्त्री प्रेम करती है, देह सम्बन्ध बनाती है, पर मातृत्व की आकांक्षा में कोई स्पप्न नही पालती।

यह "सर्वज्ञात और सर्वमान्य तथ्य है कि स्त्री योनि के विना सन्तानोत्पत्ति असम्भव है (टेस्ट ट्युब बेबी के अलावा) मनु अगर यह कहते है कि ब्रह्मा ने स्त्रियों की रचना गर्भ धारण करने के लिए की है तो उनका मूल अभिप्राय स्त्री के मॉ या जननी होने बनने या बन सकने से भी रहा होगा और सन्तानोत्पत्ति से भी। स्त्री चाहे तो आजीवन कुमारी नही रह सकती, रहेगी तो 'नरक' जायेगी। जैनेन्द्र कुमार के अनुसार "स्त्री की सार्थकता मातृत्व है" का मतलब सिर्फ इतना ही है कि स्त्री जीवन विना मॉ बने निष्फल है, निरर्थक है। जैनेन्द्र की मानें तो स्त्री को अपना जीवन सार्थक करने के लिए विवाह करना ही पड़ेगा क्योंकि विना विवाह के बच्चे 'अबैध' और 'हरामी' कहलायेगें। और वह खुद 'कुल्टा' और 'छिनाल' या 'व्यभिचारिणी' कहलायेगी। विवाह के बाद अगर पति से

सन्तान ना हुई तो वह बॉझ कहलायेगी, आजन्म कुमॉरी रहने की उसे कोई स्वतत्रता नही "[1]

'पीली ऑधी' उपन्यास की स्त्री 'सोमा' विवाह के पारम्परित स्वरूप को चुनौती देती हुई विवाहिता होकर भी पर पुरूष से प्रेम करती है, देह–सम्बन्ध बनाती है, मातृत्व के लिए और अपने पूरे परिवार से टकराती है और मॉ बनती है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने ही बडे भाई द्वारा यौन शोषण का शिकार होती है और यह बात किसी से न कहने की सौगन्ध के साथ प्रिया को लगता है यह मेरा 'कलक' है। इस दुर्घटना से वह उबर नही पाती है। यहॉ प्रिया का संघर्ष अपने अस्तित्व को लेकर है। अपनी सफलता के पीछे उसने कितना दुःख झेला है एक स्थान पर वह स्वीकार करती है–

" मैने दुःख झेला है, पीड़ा और त्रासदी मे झूलसी हूँ , जिस दिन मैनें त्रासदी को ही अपने होने की शर्त समझ लिया, उसी दिन, उस स्वीकृति के बाद मैने खुद को एक बड़ी गैर जरूरी लड़ाई से बचा लिया। कुछ के प्रति यह मेरा समर्पण था। सारे जुल्मों के सामने....... सलीब पर लटकते मैनें पाया कि अब मै पूरी तरह जिन्दगी की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार हूँ।"[2]

'प्रिया' के माध्यम से लेखिका ने यह कहा है कि स्त्री कैसे–कैसे शोषित होती है और रोती है–

---

[1] औरत अस्तित्व और अस्मिता मातृत्व स्त्री की सार्थकता या बेडियॉ? पृ 45

[2] पीली ऑधी पृ 10

" औरत कहॉ नही रोती? सडक पर झाडू लगाते हुए, खेतो मे काम करते हुए, एयरपोर्ट पर बाथरूम साफ करते हुए या फिर सारे भोग एश्वर्य के बावजूद मेरी सासू जी की तरह पलंग पर रात–रात भर अकेले करवटे वदलते हुए। हाड मास की बनी ये औरते .... अपने–अपने तरीके से जिंदगी जीने की कोशिश मे छटपटाती ये औरते! हजारों सालों से इनके ये ऑसू बहते आ रहे है।" [1]

प्रिया को अपने 'औरतपन' से चिढ़ है वह सदैव दस साल की लडकी ही रहना चाहती है।

उसके दर्शन के प्रोफेसर डा0 चटर्जी ने उससे गुरू दक्षिणा में सिर्फ एक चीज चाही थी– "पहले अपने स्त्री होने की गुलामी को समझों ....."[2] बहुत सी किताबे देते हुए उन्होनें समझाया था कि औरत होना बुरा नही है, औरत होने की ऑसू भरी नियति को स्वीकारना बुरा है। आत्मा ही आत्मा की गुरू हो सकती है, अतः व्यक्ति की देन की कृतज्ञ स्वीकृति के बाद उन्होंने उसे आगे बढने की सलाह दी। एक गुरू के रूप में डा0 चटर्जी का यह मंत्र उसकी अन्तर्चेतना मे धँसकर उसे अनुप्रेरित करता रहा।

प्रिया अपनी स्वतंत्र पहचान चाहती है इसलिए वह अपना व्यवसाय शुरू करती है और स्वतंत्र पहचान के लिए संघर्षरत रहती है। इसीलिए पति से विद्रोह भी करती है–

---

[1] (पीली ऑधी पृ 220)

[2] वही पृ 116

"नरेन्द्र मै पैसो के लिए काम नही कर रही। फिर किस लिए कर रही हो? सुबह से रात तक फिरकी की तरह नॉचती हो, किसलिए? हॉ बोलो, जबाब दो? अपनी आइडेटिटी, व्यक्तित्व विकास के लिए।[1]

पिछड़े अंचल के जीवन यथार्थ के विविध आयामो को उद्घाटित करने वाली "इदन्नमम्" और 'चाक' की कथा में मुख्य रूप से दो ही केन्द्रक है औरत एवं सम्पत्ति। सारा सघर्ष इन्ही दो आधारों पर घटित होता दिखाया गया है। इन छलों को सहते झेलते उनसे जूझते एवं उनके विरूद्ध सघर्ष करते हुए भी प्रधान रूप से नारी को ही उभारा गया है। वस्तुत. लेखिका का केन्द्रिय सरोकार है। "विपन्न मानसिकता के दोमुहे समाज में आज भी नारी मात्र वस्तु। मात्र सम्पत्ति। विनिमय की चीज।" ....औरत सदैव रहती है– सहने के लिए , झेलने के लिए और जूझने के लिए। "[2]

'इदन्नमम्' मे अनुस्यूत नारी चेतना का स्वरूप छिपा है। नारी यातना का बयान जो कि 'बेतवा बहती रही' मे अधुरा रह गया, उसी बयान को 'इदन्नमम्' मे पूरा किया गया है। इसमें नारी मुक्ति से सम्बद्ध नये सन्दर्भ एव नये विचार है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यास 'उवर्शी' की कहानी जहॉ 'अबला जीवन हाय तुम्हारी यहीं कहानी' की आर्दता जगाकर समाप्त हुई है, वही 'इद्न्नमम्' की मन्दा, कुसुमा, सुगना और 'चाक' की सारंग आदि 'या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता' है और कोई भी आततायी उन्हें उत्पीड़ित कर झुका पाने में असमर्थ हैं।

---

[1] (वही पृ 215)

[2] बेतवा बहती रही

पुरूष सत्तात्मक समाज ने नारी शोषण के लिए न जाने कितने उपकरण एवं हथियार बना रखे हैं, जिनका वह आरम्भ से ही प्रयोग करता आ रहा है। सबसे बडी खूबी यह है कि ये सारे उपकरण, हथियार सस्कार रूप मे नारी की मानसिकता बन गये है। जिन हथियारों के सहारे पुरूष नारी को सदियो से छलता रहा है, उसमें सबसे प्रमख है 'भावना'। 'भावना' की जमीन पर पुरूष सदैव कुचलता रहा है नारी को–अर्थ एवं सेक्स इन दो मोर्चो पर। 'मातृत्त', 'प्रेम', 'आदर', 'सेवा' आदि शब्दो के मायाजाल मे पुरूष सत्ता ने इस तरह उलझा रखा है कि इन शब्दों को ही अपनी 'पहचान' (कि मातृत्व नारी का अनिवार्य हिस्सा है, सेवाभाव उसका सबसे बड़ा गुण है आदि) मानकर नारी चुपचाप शोषित होती रहती है। डा0 निर्मला जैन कहती है– " समय के साथ जिस मानसिकता को असलक्ष्य क्रम में पुरूष पुरूष सत्तात्मक समाज ने विकसित और नारी ने अर्जित किया, उसमें मानव के व्यक्तित्व और व्यवहार का दो टुकड़ो में अस्वाभाविक विभाजन कर दिया गया–हृदय पक्ष और बुद्धि पक्ष। हृदय पक्ष को स्त्री के हिस्से में डालकर बुद्धि पक्ष पर पुरूष ने अपना एकाधिकार जमाने और जतलाने का जो अतर्क्य अभियान आरम्भ किया उसका सिलसिला आज भी कायम है।"[1]

तात्पर्य यही है कि भावना को प्रधानता देने वाली और इसे ही अपनी पहचान मानने वाली नारी अपनी मनोकांक्षा पूरी भर करने के लिए 'भावना' की बात करने वाले युवक पुरूष से छली जाती रही है। इसी सच को उद्‌घाटित करती है 'इदन्नमम्' में 'प्रेम' की दास्तां। प्रेम वह विधवा स्त्री है जिसे रतन यादव अपने प्रेमपाश में बॉधता है। प्रेम रतन यादव के

---

[1] कथा एव नारी सन्दर्भ डा0 निर्मला जैन, हस जुलाई 94 पृ 41

प्रेम को सच्चा सबल समझती है। परन्तु रतन यादव न केवल उसकी 'भावना' को आघात पहँचाता है और आर्थिक शोषण करता है बल्कि उसे शारीरिक यातना भी देता है। यह सब कुछ वह केवल प्रेम के साथ ही नही करता बल्कि यह तो उसका पेशा है, " तीन विधवाओं की जमीन चॉपे बैठा है रतन यादव। किसी को भगाकर तो किसी को बहला फुसलाकर। और उससे बढकर है उसका बेटा राजू यादव । वह पट्ठा पिस्तौल की नोक पर करता है सारे काम। वकील, जज सब उसके बस मे. . ."[1]

नारी शोषण का एक बडा कारण है उसकी आर्थिक कमजोरी। यह आश्रित होना पुरूष के नारी–शोषण अभियान में बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ। यद्यपि आज यह आर्थिक पराश्रितता तेजी से टूट रही है लेकिन ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में तथा निम्न वर्ग में यह समस्या जस की तस बनी हुई है। ऐसे क्षेत्रों में यह समस्या दूसरे रूप में विद्यमान है। मजदूर तबके की स्त्रियो की एक बड़ी त्रासदी यह भी है कि इस धनोपार्जन के चलते, जो अन्ततः उसका नहीं रह जाता है, उसके चलते शारीरिक शोषण का भी शिकार होना पडता है।

नारी जाति की यह नियति एक त्रासदी ही है कि 'पतिव्रता' का प्रमाण देना केवल उसी का कर्त्तव्य माना जाता है, पुरूष का नही। यदि नारी 'अपवित्र (पुरूष सत्ता की शब्दावली में) हो जाती है तो इसके लिए भी उसे ही दोषी माना जाता है। इस दोष का दण्ड देते समय पुरूष सत्ता यह नहीं सोचती कि कैलाश मास्टर ने लाख चीखने–चिल्लाने के बावजूद नाबालिग मन्दा से जो रिश्ते मे उसकी भानजी लगती थी, जबरन

---

1 इदन्नमम् पृ 135

बलात्कार किया था। उसमें मन्दा की रजामंदी कहॉ थी? शोषित होनें से इन्कार करने की असामर्थ्यता एव शोषित होने के बाद चरित्रहीनता के आरोप मे 'सामाजिक निर्वासन' की पीडा नारी की नियति बन गयी है।

'इदन्नमम्' मे हर नारी अपने–अपने स्थान पर संघर्ष की तैयारी मे है या सघर्ष कर रही है। सबके सघर्ष की अपनी–अपनी जमीन एवं पहचान है। गिरिराज किशोर लिखते हैं– बऊ का सघर्ष जिस प्रकार का है, उस प्रकार का मन्दा का संघर्ष नही हैं। जिस प्रकार का मन्दा का संघर्ष है, उस प्रकार का कुसुमा का सघर्ष नही है। यह बात उल्लेखनीय है कि हर स्त्री अपने सघर्ष संघर्ष का अलग वृत्त रखती है और उसे उसी में रहने के लिए वाध्य होना पडता है।" [1]

यह बात बिल्कुल उचित है। बऊ अपने परम्परागत सोच के दायरे मे रहते हुए अपनी पोती मन्दा की सुरक्षा के लिए रतन यादव से सघर्ष करती है। हर आघात के बाद नये साहस के साथ जीने के लिए तैयार हो जाती है। प्रेम भी अपनी तरह से एक प्रगतिशील नारी है जो विधवा के लिए बनाये गये सारे नियमो को तोड़कर अपने प्रेमी या जीजा रतन यादव के साथ चली जाती है। लेकिन जैसे ही उसे पता चलता है रतन यादव ने उसे मोहरा बनाया है वैसे ही वह दायर मुकदमा वापस ले लेती है।

कुसुमा भी उत्पीड़न एवं दमन के विरूद्ध आवाज उठाने वाली है, जिसे दहेज के चलते बॉझपन का झूठा आरोप लगाकर यशपाल त्याग देता है एक बस्तु की तरह। परित्यक्तता कुसुमा अन्ततः तथाकथित सारी मर्यादाओ को ताक पर रखते हुए रिश्ते मे ससुर लगने वाले आजन्म कुऑरे 'दाऊजू' का हाथ थाम लेती है। सबके सामने वह अपने प्रेम को

---

[1] स्त्री मन की सार्थक पहचान,गिरिराज किशोर समकालीन भारतीय साहित्य, अक्टूबर –दिसम्बर 99 पृ 180

स्वीकार करती है और यशपाल के हिसात्मक प्रतिरोध के बावजूद संतान को जन्म देकर अपने ऊपर लगे बॉझपन के लॉछन को हटा देती है।

मन्दा का जूझना अलग ढग का है। घर की चौखट से बाहर निकलकर बृहत्तर सामाजिक सरोकार से जुड़कर शोषित एव बंचितों के अधिकारो की लडाई का नेतृत्व कर मन्दा समाज के उस विधान का माखौल उडाती है, जिसमे लड़की का घर की चौखट से बाहर निकलना, ऐसे सार्वजनिक कामो में भाग लेना एक अपराध से कम नहीं समझा जाता है। इस तरह मन्दा समाज की आधारभूत सोच पर चोट करने वाली पात्र हैं मन्दा संघर्ष के लिए पूरी तरह प्रतिबद्ध है। जब उसे पता चलता है कि जगेसर ने सुगना का विवाह उसकी इच्छा के विपरीत अभिलाष सिंह के लडके से तय कर दिया गया है तो वह सुगना को अपने पिता का घर छोड़ कर मॉ के साथ अपने यहॉ चले आने का सूझाव देती है। कहती है" छोड़ दे वह घर। मै देखती हूँ जगेसर कक्का को। कल ही रिपोर्ट करके आऊँगीं थानें में" [1]

'चाक' स्त्री विमर्श का उपन्यास है जो इस विमर्श की देशज प्रकृति का खुलासा करता है। वे इस विमर्श को पढ़ी–लिखी नौकरी पेशा बुद्धिजीवी स्त्री की सीमा से बाहर निकाल कर गॉव और खेत खलिहान में काम करती स्त्री से जोडती है। गॉव में स्त्री उत्पीड़न और हत्या का लम्बा इतिहास रहा है। खेरापातिन चाची द्वारा सुनाई जाने वाली चंदना की गीतिकथा और मोतिनीनल की प्रेम कथा भले ही गॉव की हवा में डोलती हो, लेकिन स्त्री और उसकी प्रेम की दृष्टि से यह एक बेहद क्रूर और सवेदनहीन गॉव है। बाप की आज्ञा से जवान विधवा बेटी–पॉचन्ना बीबी

---

[1] इदन्नमम् पृ 355

की छातियों की काली जगह को जलते हुए चिमटे से दागने की परम्परा जैसे गॉव मे आज भी जीवित है। उसे रेशम ने झेला है। मनोहर की बहू जिरौली वाली, चॉदनी रात में नंगी होकर धन कुट्टा घुमाकर छत पर नाचती है। उसके गाये गीत के बोल रात के सन्नाटे मे दूर–दूर तक गूँजते है . . 'उधारौ दै दे भाएली मोए एक रात भरतार.........पति की करनी की सजा आखिर स्त्री कब तक भोगेगी? उसका पहला गर्भ काट–काट जबर्दस्ती इसलिए नष्ट कर दिया गया था क्योकि उसके पति को सदेह था कि वह उसका न होकर चरन सिह बौहरे का है। रात के सन्नाटे मे उठा शोर स्कुल की कोठरी मे अकेले पडे श्रीधर को बेचैन करता है। अपने औरतपन के लिए लडती औरत क्या सचमुच चुडैल हैं, जैसा कि उसे आमतौर पर कहा जाता है? उसका इलाज क्या ओझा और पडित करेगे? ढोलावाले दादू रानी मंझा की कथा सुनाते है। क्या सुनती है ये औरते ? या फिर सुनकर भी समझती नही, श्रीधर सोचता है, "यही प्रताडना देखकर तुम्हारे बीच कोई मंझा उठेगी सारग, जो अपनी मर्जी से अपना बच्चा पैदा करेगी। भले बालक हींसविरे (जगल) में जनमें। उसकी कोख का फैसला करने वाला कोई राजा होगा न कोई मालिक और न कोई देवता। नल की तरह जनम लेने वाला प्यारा सा बच्चा सिर्फ अपनी मॉ को पहचानेगा, किसी राजा पिरथम को नही। जिरौली वाली को दी गयी यातना व्यर्थ नहीं जायेगी..... तुम्हारे मन में विक्षोभ की एक चिन्गारी छिटकी यही क्या कम है? लपटें भी उठेगी जो छीन लेंगी अपने हक को इन वीर्य वर्द्धक जडी–बूटी और शिला–जीत खाने वाले मर्दो से ....[1]

---

[1] चाक पृ 214

इस तरह हम देखते है कि 'चाक' और 'इदन्नमम्' दोनों मे नारी के दमन, उत्पीडन एव शोषण का ही नही बल्कि युगानुकूल सत्य के रूप मे इस उत्पीडन, दमन एव शोषण के विरूद्ध नारी के उठते कदमो की भी बड़ी मुकम्मल तस्वीर प्रस्तुत की गयी है। खुद मैत्रेयी का दृष्टिकोण इतना संतुलित है कि कहीं भी अतिवादी नारी सोच एव घोर आदर्शवादी सोच नही दिखाई पड़ी है। इसका सबसे बड़ा प्रभाव यह है कि इन उपन्यासों मे नारी की सघर्ष यात्रा मे पुरूष को भी सहयोगी दिखाया गया है।

नारी को मात्र वस्तु एव सम्पत्ति मानने वाला यह पुरूष सत्तात्मक समाज उसे किसी भी आरे से सॉस नही लेने देता। उसके अत्याचार से पीडित नारी यदि 'आह' भी भरती है तो उसे भी वह अपनी शान के खिलाफ मानता है। सच तो यह है कि नैतिकता, मर्यादा, पवित्रता, धर्म एवं सदाचार आदि की बाते भी पुरूष अपनी सुरक्षा एवं नारी के मानमाने उपयोग के लिए हथियार उपकरण के तौर पर करता है। इतिहास साक्षी है कि नारी शोषण में खुद नारी की मानसिकता जो मौलिक नहीं बरन अर्जित होती है, बहुत बड़ी भूमिका निभाती है। नारी अबला है, उसे पुरूष का सबल चाहिये ही; नारी तो एक कोमल बेल है, उसे खडा होने के लिए पुरूष वृक्ष का सहारा लेना ही होगा। जैसे पुरूष सत्ता द्वारा निर्मित मुहाबरो को नारी द्वारा अपनी 'पहचान' मान लेना उनकी गिरी हुई स्थिति का बहुत बडा कारण है।

मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' मे मारियाना के शब्द हैं–'औरत होना विडम्बना को जन्म देना होता है, नहीं औरत होना एक विडम्बना है। जहॉ औरत होगी वहॉ विडम्बना जन्म लेगी ही– मारियाना के इन शब्दों में औरत और मन की मूलभूत सरचना से जुडे कठोर यथार्थ को एक क्षण के लिए अनदेखा नही किया जा सकता है।

पुरूष भोगे और स्त्री भुगते–यह इस दशक की स्त्री को मान्य नही । अब वह बन्धनो के विरोध मे खडी हो गयी है। वह मातृत्व–एक, दो, तीन, चार, एक के बाद एक शिशु को जन्म देती, उस बधन मे जकडी और फंसी लाचार महिलाओं को धिक्कारती है। 'कठगुलाब' में स्मिता और अमिता की बात–चीत है..... "मुझे यह पुरातन औरतनुमा हल प्रपच पसंद नहीं। दो टूक बातें करने का साहस हो तो मुझसे दोस्ती करना वरना अपना रास्ता नाप "[1] स्पष्ट है कि मृदुलागर्ग कहती है कि स्त्री का शरीर उसकी अपनी मल्कियत है उसके देह पर उसका अधिकार है। वह चाहेगी तभी पुरूष उसका उपभोग कर सकता है।

इस दशक मे विवाह के मिथक टूटे है। आधुनिक स्त्रिंया विवाह सस्था पर प्रश्न उठाती है, मातृत्व पर प्रश्न उठाती हैं। यह सब पितृसत्तात्मक व्यवस्था का किया धरा है। इसी के द्वारा स्त्रियॉ गुंलाम बनती हैं। 'कठगुलाब' में नीरजा का विवाह संस्था में कोई विश्वास एवं आस्था नही है। वह एक शिक्षित युवती है जो डाक्टरी की पढ़ाई कर रही है।

अन्तिम दशक की स्त्री उपन्यासकारों के उपन्यासों यह तथ्य उभरकर सामने आया है कि औरत की त्रासदी और असुरक्षा के मूल में उसकी नारी देह है। मैं आज समझ यह पाई हूँ दुर्बलता में नारी हूँ।'इन लेखिकाओ ने अपनी रचनाओ मे स्त्री को अधिकार अस्मिता 'स्व' को पाने और सुरक्षित रखने की दिशा में स्त्री–विमर्श को विविध स्तरों पर प्रस्तुत किया है।

---

[1] पृ 172

चित्रा जी का 'आवा' नारी चेतना की देशज प्रकृति पर जोर देता है। चित्रा जी जिन पात्रों के माध्यम से नारी चेतना और नारी विमर्श पर जोर देती है। उनके उपन्यास के प्रायः सभी महिला पात्र हैं जो किसी न किसी रूप मे इन विमर्शो से जुड़ी हैं। उनमे प्रमुख है उपन्यास की नायिका व मुख्य पात्र नमिता, देवी शंकर पाण्डेय, किशोरी बाई, सुनंदा, स्मिता की बहन और हैदराबाद प्रवास के दौरान उसकी सेविका नीलम्मा।

'आवा' मे ऐसे अधिकांश नारी पात्र है जो पहले शोषित होती हैं और फिर जागरूक होकर शोषण का विरोध करती है। शोषकों का मुकाबला करती हैं, लडती है लेकिन हार नही मानती। इस उपन्यास में हर नारी पात्र की अपनी एक कहानी है, एक व्यथा है, हर स्त्री किसी न किसी रूप मे शोषण का शिकार हुई है। किसी भी स्त्री का क्रान्तिकारी होना पुरूष को बर्दास्त नहीं। पुरूषों को नारी दुर्बल सिमटी हुई और पराधीन ही अच्छी लगती है। जहाँ किसी नारी ने साहस दिखाया वहीं पुरूष के तेवर विगडे। नारी मुक्ति के पक्ष गे कितनी ही बातें कितनें ही भाषण पुरूष दे सकते है लेकिन जहाँ उनके सामने कोई स्त्री प्रतिद्वन्दी के रूप मे आई वही वे अपने असली रूप मे आ जाते है। पुरूष सदैव स्त्री को अपने सामने छोटा ही देखना चाहता है।

आधुनिक समाज में स्त्री चेतना, स्त्री स्वतंत्रता और नारी की प्राय. सभी समस्याओं का चित्रण 'आवा' में है। वास्तव में 'आवा' नारी स्वातत्र्य की मीमांसा का उपन्यास हैं

'तद्भव' के सितम्बर अक्टूबर 2000 के अंक मे ज्योतिष जोशी ने लिखा है– –" ... 'आवा' नमिता के सघर्ष , उसकी यातना और अत मे उसकी असल जमीन की सही शिनाख्त करता है। इसलिये यह कहना बडा सहज है। अगर नमिता की जगह कोई पुरूष चरित्र होता तो शायद स्त्रियों की भयावहता इतनी न होती , पर उसकी विरूपता में कोई अन्तर

नही आता । तथ्य यह है कि एक निम्न वर्गीय परिवार का जिम्मेदार कामकाजी मुखिया अन्तिम साँसे गिन रहा है। घर मे अवोध बच्चे है घर की गृहिणी को परिवार का दुःख नहीं व्यापता, ऐसे में उस घर में ईमानदार व्यक्ति का चैन के साथ जीना दूभर हो जाता है, नमिता चुकिं बडी सतान है इसलिए आर्थिक तगी की हालत मे पढाई को जारी नही रख पाती और घर की दशा सुधारने के लिए उलझती होती है। उसकी सारी मुश्किलों की जड उसकी इमानदारी है, उसकी मनुष्यता है। उसमे सम्बन्धो को जीने की चाह है, इसलिये वह सदेह करना नहीं जानती, यह नही कहेगे कि पैसा उसे चला रहा है और वह उसी के लिए सब कुछ करती जा रही है उसमे स्वाभिमान जिदा है, पैसे को वह हर हाल में अपने से ऊपर नही मानती, मानती होती तो 'अधाडी कार्यालय' की अच्छी भली नौकरी क्यों छोडती . .अपनी परिस्थितियो से बेहतर लाचार होनें के बावजूद नमिता अन्दर से दृढ और गैरतमंद है।" [1]

आवा' के नारी पात्र निर्बल भी है और सबल भी। वे पहले समपर्ण करती है और फिर जागरूक होकर अन्याय और शोषण का सामना करती है। चित्रा जी ने उपन्यास मे कही भी नारी समस्याओं को छोडा नही है उनके उपन्यास की कथा के साथ–साथ स्त्री विमर्श भी चलता है। वे नारी की समस्याओ की तरह बार–बार ध्यान आकृष्ट करती है। चित्रा जी समाज में नारी की स्थिति को जानती भी हैं और समझती भी हैं इसी कारण उन्होंने 'आवा' मे नारी–विमर्श को उससे जुड़े हुए प्रश्नो को प्रस्तुत किया है, पूरे दायित्व और चेतना के साथ।

---

[1] तद्‌भव सितम्बर–अक्टूबर 2000 पृ स 215–216

जब तक स्त्री को समाज मे सम्मान उचित स्थान और न्याय नही मिलेगा। तब तक स्त्री स्वातत्र्य, नारी चेतना सब झूठी कल्पनाए है। सच्चे अर्थो मे सामाजिक सम्मान और न्यास के लक्ष्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है, जब स्त्रियो की सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक प्रकिया मे भागीदारी सुनिश्चित हो। यह केवल स्त्रियों का मामला नही है। स्त्रियो की अधिकार सम्पन्नता न केवल स्वय उनके जीवन को सकारात्मक रूप से प्रभावित करता है बल्कि वास्तव में पुरूषो और उनकी सतानो पर भी प्रभाव डालता है। जिन पर हमारे परिवार और समाज के साथ–साथ देश का भी भविष्य निर्भर करता है।

बौद्धिकता

महिलाएं पुरूषो के विरोध मे नहीं बल्कि अपने अन्यायपूर्ण अत्याचारी अतीत के विरूद्ध है। उन्हें पुरूषो से नहीं पुरूषों के सामतवादी और पूँजीवादी रवैये से मुक्ति चाहिये। वे बौद्धिक स्वतन्त्रता की आकाक्षा से भरी बैठी है। स्त्री केवल बच्चो को जन्म देने में ही समर्थ नहीं है। वह स्वय को भी एक सत्यान्वेषी के रूप मे जन्म देने मे सक्षम है। वह प्रतिकियावादी ताकतो के खिलाफ है और अगर इन ताकतो में स्त्री शामिल है तो वह उन समुदाय विशेष के भी विरोध मे है। एक स्त्री दमन का विरोध वस्तुत. इसलिए भी करती है, वह और उसके भीतर 'मॉ' है—सृजन की मॉ है। इस अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा मे वह बौद्धिक आवाज उठा रही है।

स्त्रीत्व मातृत्व और शील जैसे बड़े—बड़े शब्दों के आडम्बर ने स्त्री को शारीरिक, मानसिक, भावात्मक और आत्मिक बन्धनो में ऐसा जकड रखा है कि अपनी घुटन को चुपचाप पीते रहने के अतिरिक्त उसके पास कोई उपाय नही रहा है। स्त्री मुक्ति की इतनी बातें और आन्दोलन होने के बावजूद भी मनुष्यता का यह आधा हिस्सा अभी भी उसी घुटन मे जी रहा है, क्योंकि उसकी जड़ तक नहीं पहुॅचा गया है जहॉ से यह पीडा पनप रही है।

संयुक्त परिवारों में अगर पुरूष के व्यक्तित्व का बौद्धिक और मानसिक विकास असभव है तो अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसे परिवारो में स्त्री की स्थिति कितनी दयनीय होगी। मध्यम वर्गीय सयुक्त परिवारो के टूटने का मुख्य कारण आर्थिक ही है। इसीलिए औद्योगिकीकरण, नगरीकरण और शिक्षा के प्रसार के साथ—साथ वे अधिक तेजी से टूटते विखरते रहे है, जो अब तक आते—आते प्रायः समाप्त हो गये है।

उच्चवर्गीय संयुक्त परिवारो मे आर्थिक सत्ता के उत्तराधिकार की जटिलताओ और पेचीदागियो के कारण ऊपरी तौर पर अभी भी सयुक्त परिवार बचे हुए है।

'छिन्नमस्ता' को उच्चवर्गीय संयुक्त परिवार के विषैलें और दमघोटू वातावरण से निकलकर अपने व्यापार और पूंजी कमाने, बढ़ाने के बाद व्यक्तित्व के विकास या बौद्धिक और मानसिक विकास के लिए हर सभव साहस (दुस्साहस) और प्रयास करती विद्रोही स्त्री की आत्मकथा या आत्मविश्लेषण या आत्मसघर्ष के रूप मे देखा जा सकता है। शायद पहली बार हिन्दी उपन्यास की नायिक परिवार, पूंजी और परम्परा की चौखट लॉघ देशी–विदेशी सभी सीमाओ के उस पात तक 'स्त्रीपक्ष की वकालत के साथ–साथ एक 'खतरनाक बौद्धिक' बिमर्श का जोखिम भी उठाती है।

प्रिया के लिए उसका व्यवसाय उसकी पहचान है। इसलिए उसने अपने लिए मोटो निर्धारित किया है– काम को काम की तरह किया जाना चाहिये। अपने व्यवसया के प्रति उसका गहरा और एकनिष्ठ समर्पण नरेन्द्र को परेशान करता है उसके अपने फ्रेम मे औरत का जो चित्र जडा है, प्रिया का यह सब करना उसे उस सब से बेमेल लगता है, एक उसने प्रिया के सामने रूपयों से भरा वीफकेस उलटते हुए चिल्लाया था कि तुम्हें रूपयें चाहिये न, ये लो रूपये, कितना चाहिये। रात दिन रूपयें के पीछे भागती रहती हो। तब प्रिया कहती है– "नरेन्द्र, मै व्यवसाय रूपये के लिये नही कर रही। हॉ चार साल पहले जब मैनें पहले पहल काम शुरू किया था, तब मुझे रूपयो की भी जरूरत थी। पर आज मेरा व्यवसाय मेरी आइडेंटिटी है। यह आये दिन की विदेशों की उड़ान .... यह मेरी जिदगी के कैनबास को बडा करती है। नित्य नये लोगों से मिलना

जुलना, जीवन के कार्य जगत को समझना। मुझे जिदगी उद्देश्यहीन नही लगती।" [1]

'छिन्नमस्ता' की नायिका अन्ततः कहती है, नरेन्द्र की व्यवस्था के सामने हार मानने का यह अर्थ नही हुआ कि तुम सारे मुकामो पर हार गयी। उसे वही छोड़ दो जहॉ वह है। तुम खुद अपनी व्यवस्था बन सकती हो, 'अपनी जमीन' । एक स्थान पर अपने दोस्त फिलिप से कहती है–

"यही कि बाद मे एक दिन मैने सोचा कि एक पुरूष पैसा कमाता है और दो चार लोगो को पाल देता है, लेकिन स्त्री यदि सीमाएं लॉघ जाय तो वह पारम्परिक समाज उसके लिए खत्म हो सकता है। पर मानव समाज तो बहुत बड़ा है। औरत होकर मै जो समाज को दे सकती हूँ , वह नरेन्द्र पुरूष होकर कभी नही दे सकता।....." [2]

इस यात्रा में लेखिका ने नारी स्वातन्त्र्य की भावना का वास्तविक रूप उद्घाटित करने के लिए स्थिति और समस्या का चितन मनन और वौद्धिक विश्लेषण किया है।

नायिका जिस धनाढ्य परिवार की बहू है वह अभी भी हिन्दू सयुक्त परिवार के 'एडसन्स' और 'एड ब्रदर्स' की शैली में व्यापार करता घराना है, जहॉ व्यापार सम्पत्ति और प्रबन्ध पर पुरूषों का एकाधिकार हैं। ऐसे व्यापार में स्त्रियो की सकिय भागीदारी असंभव है क्योकि कुछ भी बॅटवाने का या पाने का कोई कानूनी अधिकार उसे नही है।

बौद्धिकता के कारण ही स्त्रियो मे स्वाभिमान की भावना आयी है। जिससे उनकी आर्थिक निर्भरता की प्रवृत्ति बढ़ी है। प्रिया जब नरेन्द्र

---

[1] छिन्नमस्ता पृ 10–10

[2] वही पृ 210

से रूपया मॉगती है तो उसका अभिमान आहत होता है, वह कहती हैं–::
नरेन्द्र से रूपया मॉगने में हमेशा चोट लगती है। मेरा आहत अभिमान और उसके ताने–" [1]

आगे कहती है– "उफ! इस आदमी से मुँह लगना और बहस करना! मैंने तो कभी अम्मा को आलू–परवल का हिसाब लिखते नही देखा। बाबू जी से कभी अम्मा ने रूपये नहीं मॉगे। जो आया उसमें खर्चा चला, नही तो कम खा लिया। अम्मा ने थिगली लगी धोती पहन ली, पर मॉगा नही। क्यो मॉगे ? स्त्री का कोई स्वाभिमान नहीं ? " ..[2]

'पीली ऑधी' के प्राय. सभी सन्दर्भ अतीत और वर्तमान के बीच वाद–विवाद संवाद करते दिखलाई पडते है। सोमा स्त्री के अतीत मे झॉकने और उसके शास्त्र को समझने के लिए प्रतिबद्धता नहीं पालती। वह स्त्री के वर्तमान सन्दर्भो और उसके मनोविज्ञान को जानना समझना चाहती है। उसे अच्छी तरह मालूम है कि अतीत सिर्फ अतीत होता हैं, वह उसी रूप में लौटकर कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। वह जानती है वर्तमान मे जीते हुऐ एक ओर अतीत का साक्षात्कार किया जा सकता है। और दूसरी ओर भविष्य का बेहतर निर्माण भी। इसलिए वह वर्तमान, सिर्फ वर्तमान में रहना चाहती है।

प्रभाखेतान ने अपने लेखो और उपन्यासो में 'स्त्री' पर बराबर विमर्श किया है। अस्तित्ववादी दर्शन की विदुषी होने के कारण उन्होंनें जमकर स्त्री अस्तित्व की खोज की है।

---

[1] वही पृ 191

[2] वही पृ 191

स्त्री के अन्तर्मन को समझ पाना किसी रहस्यलोक का साक्षात्कार करना है। वह क्या–क्या सोचती है। मन के भीतर के कर्मलोक मे क्या–क्या करती है, इसे कोई स्त्री ही शायद ठीक से समझ सकती है। स्त्री के भीतर प्रवेश करके उसके मनोलोक को टटोलना प्रभा खेतान द्वारा 'पीली ऑधी' मे सम्भव हुआ है। एक स्त्री स्त्रीत्व बोधलेकर अन्ततः क्या चाहती है, उसका अनावरण करती हुई लेखिका ने सोमा के भीतर झॉकने का प्रयास किया है। मातृत्व की प्रबल इच्छा रखने वाली सोमा चाहती है, "नही मेरा शौक चाहत से जुड़ा हुआ है, मैं एक बच्चे को गोद मे लिए चुपचाप ढलती हुई शाम को देखना चाहती हूँ। बजती हुई शख–ध्वनि आरती की घंटियॉ आकाश क्षितिज और टुकड़ा–टुकड़ा रंगीन बादल। .[कृ]

दरअसल स्त्री के अन्तर्विरोधों से प्रभा खेतान का पूरा परिचय रहा है। स्त्री–पुरूष के अनुकूल और प्रतिकुल दोनों ही स्वरूपों से उनका साक्षात्कार हुंआ है, उनका मानना है कि स्त्री–पुरूष सम्बन्धों को लेकर उपलब्धि का हिस्सा पुरूष के खाते मे और जिम्मेदारी का हिस्सा स्त्री के खाते में जाता रहा है। प्रभा जी ने 'पीली ऑधी' में कहीं–कही सोमा की बौद्धिकता भी प्रमाणित करती चलती है। वह प्रेम चाहती है प्रेम के सामने भौतिक वैभव कुछ भी नही है। वह अन्दर ही अन्दर घुटती रहती है, एक जगह सुजीत से कहती है' मै अन्जान नहीं सुजीत। सुख–सुबिधा, धन का महत्व सब कुछ समझती हूॅ लेकिन इनकी जरूरत की सीमा तक? इस बडे घर में मुझें दो वक्त का अच्छा खाना, कुछ साड़िया एक एअर कडीशन कमरा। बस यही सब कुछ तो मिला है। मैनें आभाव नही जाना लेकिन तुम भी तो कभी भूखें नही रहे। तब फर्क? स्टेट्स का? रूॅगटा हाउस का? हॉ सुजीत, रूॅगटा हाउस का महत्व बहुत बड़ा है। ऊॅची–शान है। लेकिन मेरी नहीं। मुझे किसी भी निर्णय का अधिकार नही। मै यहॉ कुछ भी नहीं। कुछ भी नही। सुजीत मै मरना नही चाहती। जीना चाहती .

हूँ। जीना .... तुमको डर लगता है सुजीत? तुमको मुझसे डर लगता है?"[1]

ऐसी सोच एक बौद्धिक नारी की ही हो सकती है। वह अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व चाहती है। वह चाहती है कि लोग उसे जाने न कि किसी रूँगटा हाउस की वजह से जानें ।

प्रभा जी ने 'चित्रा' को भी एक बौद्धिक नारी के रूप मे भी दिखाया है। सोमा के आने पर वह सुजीत से लडती नही है और न ही सोमा को दोष देती है। शायद इसीलिए वह कह पाती है–

"सोमा, कुछ कहने की जरूरत नही है। पिछले रविवार को मुझे सुजीत ने बता दिया था, लेकिन फिर भी सब कुछ नही बताया। यह नही कहा था कि तुम उसकी सतान की मॉ बनने वाली हो। कैसी अजीब बात है कि उन्होंने मुझे इतना कमजोर समझा। सच का सामना करना कोई कठिन काम तो नही।" [2]

परन्तु सोमा स्वयं को उसका अपराधी समझती है और कहीं न कही उसके मन मे अपराध बोध रहता है तभी चित्रा आगे कहती है–

"चुप! अपराध बोध से ग्रसित होकर बच्चे को मत बड़ा करना। जो कुछ भी घटा, वह कोई नया तो नही। मै भी तो किसी अन्य पुरूष के प्रेम में पड़ सकती थी। इसमें तुम्हारा क्या दोष है?"[3]

यहॉ स्त्रियों मे स्वाभिमान भी दिखाया गया है। वह चाहती हैं कि उनके उपर कोई दया न करें, वह अपना हक चाहती है अपना

---

[1] पीली आंधी पृ 245

[2] वही पृ 259

[3] वही पृ 259

अधिकार चाहती है। वह 'प्रेम' अधिकार से चाहती है भीख में नहीं। इसका उदाहरण सुजीत की पत्नी चित्रा है,

"हॉ दुःख तो हुआ था। मैने पहले कहॉ ना जब सुजीत से पहले पहल इस सम्बन्ध की चर्चा की थी तो मै भी रोई थी। खूब–खूब रोई थी। सुजीत को धोखेबाज कहा था। फिर बाद में लगा कि यह धोखा तो मै स्वय को दे रही हूँ। जब प्रेम ही नही, तब किस बात की जलालत? प्रेम की भीख नही मॉगी जाती। मेरा अपना कोई आत्म सम्मान नहीं? और फिर यह किस शास्त्र में लिखा है कि किसी से प्रेम करो तो ताउम्र करते जाओ।" [1]

मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' स्त्री–विमर्श का उपन्यास है जो इस विमर्श की देशज प्रकृति का खुलासा करता है। वे इस विमर्श को पढी लिखी नौकरी–पेशा बुद्धिजीवी स्त्री की सीमा से बाहर निकालकर गॉव और खेत खलिहान मे काम करती स्त्री से जोड़ती है।

व्यक्तिगत स्तर पर रेशम की हत्या से प्रतिशोध की आग से सुलगती हुई ग्रामीण समाज के मूल्य रहित वर्चस्वबाद के आतंक से क्षुब्ध, बेटे चंदन की सुरक्षा के लिए चित्रित सारंग को शिक्षित पति रंजीत ने भरपूर आश्वासन दिया था कि वह सारग की लड़ाई लड़ेगा पर जिस दिन उसे जात मर्यादा की क्षति की आशका हुई वह सांरग को उसकी औकात समझाने लगा। संकेत था कि वह रंजीत सिह जाट की बहू के रूप में अपने बजूद को न भूलें। और सारंग थी कि हर क्षण बदलने के लिए अपनी पहचान बनाने के लिए तड़फ रही थी।

---

[1] वही पृ 260

रजीत के भाई दलजीत ने पूँजीवादी विकास से प्रेरित होकर यह समझाया कि गॉव की जगह जमीन वेचकर शहर में प्लाट खरीदने बेचने का धधा करो, वह भी नही तो मुर्गी पालन करों, सरकार से कर्ज मिल जायेगा। बैठा–बैठी का रोजगार है यह। रंजीत यह समाधान मान लेता है कि वह तो गॉव में ही रहेगा लेकिन उसका बेटा चंदन दलजीत के साथ आगरा चला जाएगॉ पढने के लिए । सारग चदन को भी शहर भेजने के खिलाफ है। वह गॉव के दरिन्दो से लड़ना चाहती है। चन्दन को शहर भेजने के प्रश्न पर रंजीत और सांरग के बीच जो विवाद होता है उसमे नारी की बौद्धिक चेतना का उसके अधिकार का एक नया रूप सामने आता है। सारग कहती है–"जैसे चंदन अकेले तुम्हारा ही बालक हो! तुम ही उसके कर्ता–धर्ता तुम ही पालन हार........मैं कुछ नही.........मैं कुछ नही, कुछ भी नही..... ऐसा क्यों लग रहा है आज? यहॉ पर यह प्रश्न सामने आते है कि बालक का अभिभावक क्या केवल पुरूष है, स्त्री नही? उसके बारे मे निर्णय क्या केवल पिता करेगा मॉ की राय का कोई महत्व नही?

पहले तो रजीत की बात चल जाती है। और चंदन अपने चाचा दलजीत के साथ आगरा चला जाता है। चन्दन का जाना सारग को वैसा ही लगता है जैसा कुछ दिन पहले धौरी गॉय के बछड़े 'प्रथम' का मर जाना। लेकिन आगे चल कर सारंग चुपके से पत्र लिखकर चंदन को गॉव बुलवा लेती है। यह है अधिकार का उपयोग। सारंग यह स्थापित कर देती है कि पुत्र के बारे में वह भी स्वतंत्र निर्णय कर सकती है।

सारंग का अन्तिम स्वतत्र निर्णय है पंचायत के चुनाव में प्रधान (मुखिया) पद के लिए चुनाव लड़ने का वह रजीत से पुछे बिना। सारंग अपनी जगह अडिग है तभी तो वह आल्हा गानें वाले मास्टर श्रीधर के प्रति अनायास ही आकर्षण महसूस करती है। स्कूल के एक आयोजन के

प्रसग मे श्रीधर गॉव मे घूमता हुआ, उसने देखा उसे बराबरी से मूढ़े पर बैठा तो दिल जुडा गया उसका वह सोचती है–"तो तुम वही हो मास्टर, जिसकी मुझे तलाश है। बहादुरी के नाम पर मक्कारी के किस्से नही सुनाते। इन छोटे–छोटों के दिल में वीरता के बीज बोने आये हो, यही मानसिकता है जो सारग की बौद्धिकता की ओर सकेत करती है और उसे 'नारीवाद' की सीमा से ऊपर उठाकर उदात्त बना देती है। श्रीधर प्रजापति बच्चो के साथ सारग के ऑगन में चला गया तो सारंग ने उसे तिलक लगाया और अनायास ही पैर छू लिये। यह वीरता का अभिनंदन है और उसी के प्रति नमन भी। एक क्षत्रिय जाट महिला कुम्हार के पैर छू लेती है। जैसे मीरा ने रैदास को गुरू बनाकर नमन किया।

'इदन्नमम्' में भी कथा लेखिका ने एक बौद्धिक नारी का चित्र खीचॉ है। उसकी बौद्धिकता से ही प्रभावित होकर सोनपुरा के लोग उसका साथ देते है, उसे अपना नेता मानते है। तभी महाराज जी कहते है–'तैं तें तो आगे–आगे चल बेटा! फिर अनुगामी तो चले आयेगे स्वतः ही "[1]

सोनपुरा के लोगो ने आखिरकार मन्दा के नेतृत्व में संघर्ष करके अपना अधिकार (पहाडी पर मजदुरी) पा ही लिया।

निःसन्देह ही भ्रष्ट राजनीति ही विकारा कार्यो को बाधित करने के लिए उत्तरदायी है। नेतागण विकास के प्रति सच्चे मन से समर्पित नही होते बरन् वे तो केवल वोट–बैंक सुदृढ़ करने की युक्तियों में लगे होते है। तभी तो मन्दा राजा साब पर व्यग करते हुए कहती है, 'राजा साब दिन में आते तो ठीक रहता। देखते तो सही कि पॉच साल में कितना बदल गया

---

[1] 'इदन्नमम् पृ 211

है यह गॉव, गॉववासी दर्शन भी कर लेते। जिन तेरह–चौदह साल के लड़के–लडकियो ने इनको पहले देखा होगा कि न देखा होगा वे अब अट्ठारह के हो रहे है।"[1] कितनी बड़ी विडम्बना है भारतीय लोकतत्र की। इससे भी बढ़कर कटुसत्य यह है कि विश्व के सबसे बड़े लोकतात्रिक देश (भारत) मे वोट की खरीद फरोख्त होती है। मैत्रेयी इस बात को मन्दा के शब्दो मे व्यक्त करती है–" हर वोटर को उसके वोट की कीमत धरते है आप के कार्यकर्ता, दो सौ, तीन सौ, चार सौ और पॉच सौ तक में निपटा लेते है सौदा।"[2]

शराब का ठेका किस तरह मजदूरों के लिए हानिकारक सिद्ध हो रहा है, उसे मन्दा बताती है–"कैशर क्या आया शराब का ठेका संग लाया। सो तबाह हो रही है गृहस्तियॉ, उजड़ रहें है बाल–बच्चे। आदमी पी–पी कर बेसुध हुआ जा रहा हैं। आपकी पुलिस निहत्थों को ही करती है परेशान । बताइये किससे कहें?"[3]

'आवा' उपन्यास मे चित्रा मुद्गल जी ने नारी बिमर्श से जुड़ी हुई सभी बातों को उठाया है उन्होनें अपने उपन्यास में जिन नारी चरित्रों को उभारा है उन्हे यह बताने के लिए उभारा है कि स्त्री की मुक्ति का सवाल, नारी विमर्श का सवाल आज भी कितना कठिन है और जटिल है। यह एक 'आवॉ' है जिसमें स्त्री निरन्तर तप और सिर्फ तप रही है, चिटख और बिखर रही है, जल कर भष्म हो रही है, राख बन रही है और कहीं कुछ आयामो पर किसी नीलम्मा, किसी सुनन्दा और किसी किशोरी बाई की तरह पक और मजबूत हो रही है।

---

[1] इदननमम् पृ 332

[2] वही पृ 332

[3] वही पृ 331

चित्रा जी ने सुनन्दा के माध्यम से एक सशक्त महिला पात्र की रचना की हैं । जिसमे साम्प्रदायिकता से, धर्मान्धता से लड़ने का साहस है, धैर्य है। इसी लड़ाई में उसकी माँ किशोरी बाई उसके साथ है लेकिन दुर्भाग्यवस सुनदा हिन्दू–मुस्लिम बलवाइयो का शिकार हो जाती है वे सुनंदा की हत्या कर देते है, यह तो सुनंदा की बौद्धिक क्षमता थी कि वह प्रेम को धर्म और जाति से ऊचा मानती है–

"प्रश्न यह था कि मै औरों की सुख सन्तुष्टि के लिए अपने 'सच' को घोटं दूँ या अपने 'स्व' के लिए संरक्षण के लिए उसके उगनें को, देह धरने दूँ, उसे एक पेरी की पूरी काया ग्रहण करने दूँ........ सुहेल ने प्रेम करने के समय तो कोई शर्त नही रखी? ब्याह करना होगा तो उससे नहीं, इसलाम से करना होगा..... या उसे हिन्दुत्व से?"[1]

तदभ्व के सितम्बर–अक्टूबर 2000 कें अंक में ज्योतिष जोशी जी ने लिखा है– " 'आवा' नमिता के माध्यम से जिस स्त्री–विमर्श को प्रस्तुत करता है उसका सूत्र 'सीमोन द बोउवार' के 'दे सेकेण्ड सेक्स' से जुड़ता है। नारीवाद अपने को समर्थ बनाने के काम आये तो वरेण्य है केवल नारे उछालने भर से स्त्री की सामाजिक स्थिति नहीं बदल सकती। परिवार, समाज और राष्ट्रहित के दायित्वो को विमुखता और निरंतर वैयक्तिक सुखो की खातिर स्वतन्त्रता का अतिक्रमण ही यदि नारीवाद का घोषित उद्देश्य है तो आवा की नमिता अपने आचरण से उसका निषेध करती है।" [2]

---

[1] आवा, पृ स 191

[2] आवा, पृ स 216 , तद्भव , सितम्बर–अक्टूबर 20002

पुरूष के वर्चस्व और उसकी आचारगत निरकुशता की बचाव की दृष्टि से हर्षा नमिता को हाथ मे सूचा लेकर चलने का सुझाव देती है, ताकि पुरूषो की शारीरिक ज्यादियों का माकूल जबाब दिया जा सके।

नीलम्मा का भी आत्मविश्वास और स्वाभिमान उसके स्वावलम्बन और कर्मठता से उपजता है। उसके अनुभव उसे अच्छे–बुरे की पहचान कराना सिखा देता है। पुरूषों की भक्षक दृष्टि से मुकाबला करने का साहस उसकी बौद्धिक क्षमता से ही आता है। नैतिकता और अनैतिकता का भेद करने और उसका विरोध करने का विवेक उसमें जागृत होता है। अपने दैहिक शोषण के एहसास के बाद नमिता मे जो चेतना जागृत होती है वह नीलम्मा के जीवन बोध और चेतना से प्रेरित होती है नमिता के ही शब्दों में–"नीलम्मा ने बहुत बड़ी ताकत दी है, सच कहूँ नीलम्मा ही मेरी ताकत बन गयी है।" [1]

इस दशक के उपन्यासो में नारीं का जो स्वरूप चित्रित हुआ है उसमें अन्य गुणो के साथ बौद्धिकता भी है। चाहे स्त्री पढी– लिखी, आधुनिक हो, जैसे प्रिया या सोमा–या कम पढ़ी–लिखी; जैसे–मन्दा, सारंग ये सब पूर्णतः बौद्धिक नारियॉ हैं।

---

[1] आवा, पृ स 543

विद्रोहवृत्ति

कहा जाता है कि पिछले छ.–सात वर्षो में महिला लेखिकाओं ने अपने साहित्य में स्त्रियो का एक अलग ही रूप दिखया है। वे अपने अधिकार के प्रति जागरूक हुई हैं, तथा उनमे विद्रोह वृत्ति भी है।

सदी के अन्तिम वर्ष में पूरी सदी अपनी सफलताओं और विफलताओं के साथ हमारे सामने खड़ी है। जातिभेद आधारित सामंती व्यवस्था मे शुद्र और स्त्री सर्वाधिक शोषित रहे है। स्त्री भी मनुष्य है और उसे अधिकार है कि वह मनुष्य की गरिमा से युक्त जीवन जिये। समाज मे स्त्री की दमनकारी शक्तियॉ प्रबल हैं, परन्तु ये संघर्ष करती हैं। पति की पूरक शक्ति के रूप में कधे से कंधा मिलाकार हर काम में सहयोग देती हैं। पुरूष द्वारा शासित होकर भी ये शक्ति सम्पन्न हैं, इनके चरित्र में नैतिक साहस भी है।

'छिन्नमस्ता' की प्रिया अपने अस्तित्व के लिए अपनी पहचान के लिए विद्रोह करती है। दर्शन शास्त्र से समाजशास्त्र तक सभी प्रमुख किताबी विचारों के वावजूद प्रिया की 'जिन्दगी विरोधाभास का बंडल' ही बनी रहती है, खोई हुई अस्मिता को पुन. प्राप्त करने के संघर्ष में प्रिया के सामने जो मॉडल है वह उसे लगातार बही बनाता है, जिसके खिलाफ उसकी सारी लड़ाई, विद्रोह या क्रान्ति है–

प्रिया निरन्तर शोषित है। दाई मॉ ने यदि मॉ जैसी ममता देकर उसे पाला न होता तो पता नहीं उसका क्या बनता। मॉ की उपेक्षा और अपने को मनहूस समझी जाने के कारण ही शायद वह बीमार रहने लगी थी। एक बार सभी लोग पिकनिक करने के लिए रॉची के हुंडरू फाल जाने की तैयारी कर रहे थे। दोनों भइया लोग बाबू जी के साथ आगे वाली गाडी में बैठते हैं। लेकिन जब गाडियॉ स्टार्ट होने लगी तो प्रिया की मॉ ने कहा कि एक बच्चा उनके साथ कर दिया जाय, तो राधा

ने गेट खोल कर प्रिया को आने के लिए कहा। यहॉ पहली बार विद्रोह करती है और उतरने से इंकार कर देती है– "नही , मैं नही उतरूँगीं।"

प्रिया के मुँह से यह पहला विद्रोह का वाक्य था।

"आती है या नहीं ? हरिया ला तो इसे " अम्मा की आवाज कडकी

प्रिया सोचती है–

"मैं कहना चाह रही थी–लेकिन क्यों, अम्मॉ क्यों ? आपकों मेरी क्या जरूरत पड गयी ? पर बोलने की हिम्मत नहीं हुई । बस ऑखें बरसने लगी। बाद में अम्मा राधा से कह रही थीं, "सरोज मानती नहीं विल्लू तो बादरा है, तंग करके रख देता है" नीलू अम्मा की लाडली थी, वह कोने वाली खिड़की पर चुपचाप बैठी थी। क्या मै ही दब्बू थी, जिसे अम्मा के हुकुम पर हमेशा नाचना पड़ता।"[1]

अपने व्यवसाय के प्रति वह पूरी तरह से समर्पित हैं। उसकी तरक्की देखकर उसका पति नरेन्द्र चिढ जाता है क्योंकि उसक अपने फ्रेम मे औरत का जो चित्र जड़ा है, प्रिया का यह सब करना उसे उस सबसे बेमेल लगता है। शुरू में नरेन्द्र को ये लगा ही नहीं कि अपने निजी व्यवसाय के रूप में प्रिया की छोटी सी शुरूआत उस पर उसके स्वामित्व के अन्त की शुरूआत भी है। इसलिए यह अफसोस उसे हमेशा बना रहता है कि उसने शुरू में हीं उसके पर न कतर कर उसे इतनी आजादी क्यों दी। नरेन्द्र ने साफ कहा था कि यदि लदन जाओगी तो इस घर से हमेशा के लिए जाओगी। पहले तो प्रिया बात बनाने की कोशिश करती

---

[1]छिन्नमसता, पृ स 101

है। लेकिन जब नरेन्द्र पर असर नहीं होता तो वह दृढ निश्चय के साथ कहती हैं–"चीखो मत नरेन्द्र! बस इतना सुन लों कि मैं लन्दन जाऊगीं।"[1]

लंदन से आने के बाद वह नरेन्द्र से अलग हो जाती है, संजू नरेन्द्र के पास ही रहता है। उसी दिन शाम को नरेन्द्र फोन करता है, यह जानने के लिए कि प्रिया अपने साथ क्या–क्या लाई हैं तो वह कह देती है–

"नरेन्द्र तुम्हारा! सब कुछ तुम्हारें पास छोड़ आई हूँ। कुल बीस साड़ियॉ और किताबें लायीं हूँ।"

" और हॉ, संजू को बीच–बीच में भेजते रहना। ऐसा न हो कि मैं कोर्ट में जाऊ?"

"बड़े तैश में बातें कर रही हो ?"

"नरेन्द्र आदमी की भाषा में बातें करो।"[2]

प्रिया विद्रोह करके संजू को 'छोटी मॉ' के घर भेजती है, और नरेन्द्र कोधित होता है तो तर्क–वितर्क करती है, जिसका परिणाम होता है कि नरेन्द्र उस पर हाथ भी उठा देता है।

"इसे वहॉ कौन ले गया ? पापा, आप ? "

"बात मैनें ही सम्भाली 'मैनें ही भेजा था। "

"क्यों ? किसके हुकुम से ? " नरेन्द्र की ज्वाला अभी शान्त नहीं हुई थी "

"अपने घर में, अपनी बुआ और दादी के पास जाने के लिए संजू को इजाजत लेनी पड़ेगी।"

---

[1] वहीं, पृं. सं. 14

[2] वही, पृ. सं. 180

"सुनो प्रिया ! सजू अब कभी वहॉ नहीं जायेगा।"

नरेन्द्र ने एलान किया।"

"तब तुम भी सुन लो, मै जाऊगी और संजू केवल तुम्हारा ही बेटा नहीं मेरा भी हक है उस पर । वह भी जायेगा। दया, ममता, इन्सानियत कुछ भी नहीं तुम लोगो में ? मै पूछती हू पापा किसके सहारे चलते–फिरते नजर आते हैं ? कौन है जो पापा का ख्याल रखता है ?"

"प्रिया ? तुम चुप करों, मैं कहता हूँ, चुप करो।" नहीं मैं चुप नहीं करूँगा । अब नहीं। नीना मेरी ननद है। संजू की बुआ हैं। इस घर की बेटी है।"[1]

स्त्री और उसके अस्तित्व के लिए निरन्तर सोचने और लिखने वाली प्रभा खेतान ने अपने उपन्यास 'पीली ऑधी' में नारी को उसकी अस्मिता के साथ जीने का उत्साह प्रदान किया है पुरूष के वर्चस्व और एकाधिकार पर पुनर्प्रश्न खड़े किये हैं। स्त्री को आत्म संघर्षरत रहने की प्रेरणा प्रदान किया है। इस समग्र अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने चुना हैं सोमा को। सोमा पुरूष के हठीले वर्चस्व को तोड़ती है और साथ स्त्री के भी सड़े–गले रूढ़िपोषक विचारो से टकराने के लिए तैयार रहती है।

"पीली ऑधी' में पीढ़ी–संघर्ष दिखाई पड़ता है। यह तथ्य तो सर्वविदित है कि यदि ऐसा सघर्ष होगा तो विद्रोह का होना स्वाभाविक है–एक दिलचस्प प्रसंग देखा जा सकता है–

"अचानक सोमा को न जाने सब कुछ कैसा लगने लगा। इस पूरे घर को जैसे पंजे मे दबोचे हुए ताई जी उन्मत्त अट्टाहास करती हुई घूम रही हैं। एक औरत की इतनी क्षमता। सोमा ने सोचा मम्मी बेचारी तो पापा की एक घडकी से रो देती है। उसने मन ही मन निश्चय किया, नहीं

---

[1]छिन्नमस्ता, पृ स 146

विद्रोह करना होगा। पहले दिन से, आज से, अभी से, इसी क्षण से वुढ़िया जो बोलेगी उसका उलटा करूँगी। देखूँ मेरा क्या विगाड़ लेती है। "[1]

सोमा दो पाटों के बीच मे फॅसी पड़ी थी एक तरफ पति गौतम था, पौरूष विहीन पति और दूसरी तरफ उसकी इच्छा की प्रतिपूर्ति में सहायता करने वाला उसका प्रेमी सुजीत। ऐसे में किसी परम्परावादी कुटुम्ब की स्त्री का भटकना सामाजिक दृष्टि से उपयुक्त न था, परन्तु वह स्त्री किसी समृद्ध सेठ घराने की स्त्री होकर भी प्रभा खेतान की रची हुई वर्तमान स्त्री थी। उसे नये निर्णय मे ही, नये मार्ग पर चलने पर ही सफलता दिखाई पड़ रही थी। वह परम्परा तोड़ती है, पति से विद्रोह करती है–

"सोमा उठकर सीधी खड़ी हो गयी। भय नही, कातरता नहीं। उसने बस स्पष्ट शब्दों में कहा–"मैं तलाक चाहती हूँ गौतम!"

"और मैं यदि किसी से कुछ नहीं कहूँ, तुम्हारे इस पाप को अपना लूँ तब भी तुम तलाक चाहोगी ?"

"हॉ गौतम तब भी मैं तलाक चाहूंगीं"

"वह तुम्हारा यार विवाहित है। एक वच्ची का बापॅ है।"

"मै सब कुछ जानती हूँ गौतम"

"हॉ गौतम ! मैं अपने पैरों पर खड़ी हो सकती हूँ शायद इस घर से बाहर तुमको एक हजार की नौकरी नही मिले, लेकिन मुझे मिल जायेगी। "[2]

---

[1] पीली ऑधी पृ 181

[2] वही पृ 252

सोमा विवाहित स्त्री होते हुए भी एक विवाहित पुरूष से प्रेम करती है। उसे इस सम्बन्ध को लेकर कोई ग्लानी, कोई अपराध बोध नहीं है। वह विवाह संस्था (बंधन) को तोडकर एक पराये पुरूष के साथ रहती है, वह सुजीत से कहती है–"विवाह एक सस्था है, रजिस्ट्री के कागजों पर सही किया हुआ नाम है। तलाक की व्यवस्था कानून ने बनायी है। कानून मनुष्य के स्वभाव को समझकर ही बनाया जाता है। यदी दो व्यक्ति एक साथ नही रह सकते, यदि कोई गहरी कमी हो, तब इस बन्धन को तोड़ा जा सकता है। बल्कि तोड़ ही देना चाहिये।" [1]

सोमा को सभी लोग समझते है पर वह अपने निर्णय पर अडिग रहती है, क्योकि वह वर्तमान नारी विचारों की सम्बाहिका प्रभा खोतान की स्त्री थी। उसे विद्रोह करना था सड़ी गली रूढ़ियों के प्रति। गौतम और सोमा के रिस्ते पति–पत्नी के थे, मगर पत्नी (सोमा) पति (गौतम) से मुक्त होना चाहती है। यानि एक स्त्री एक पुरूष से विद्रोह करती है। पुरूष से हाथ छुड़ा पाना किसी भी स्त्री के लिए कठिन होता है। हर बार किसी भी बात को सोमा को क्षमा याचना के लिए विवश करने वाला गौतम कभी किसी स्थिति में क्षमा न मागने पर उसे प्रताड़ित करने में आत्म सन्तोष अनुभव करता है। सोमा भी साफ कहती है कि उसने सुजीत के साथ जो सम्बन्ध बनाया है गलती से नही, सोच समझ कर बनाया है–

"मैने जानबूझ कर सोच समझ कर किया है"[2]

---

[1] वही पृ 245

[2] वही पृ 250

एक बार सोमा पुजारी भैया को ढोंगी कहती है तो गौतम लड़ पड़ता है। और उसे पुजारी भैया से माफी मॉगनें के लिए कहता है, परन्तु सोमा इन्कार कर देती है–

"नहीं मै सीरियस हूँ, विल्कुल डेड सीरियस, तुम्हें पुजारी भैया से चलकर मॉफी मॉगनी होगी।"

"नही मॉगोगी तो लो भोगो मजा", और सच में उसने इतनी जारे से कलाई मरोड़ी थी कि सोमा चीख उठी।"[1]

'सारंग की कथा नयी है यानी कुरबान होने के सिलसिले मे पूर्ण विराम लगा देने का प्रयत्न है। रेशम की हत्या के बाद सारंग प्रश्न उठाती है– "तमाम बूढे–बढें गुमसुम क्यों रह गये ? इनकी जिह्वा क्यों लकड़ा गयी ? ये महापुरूष शाबाशी के पात्र है या धिक्कार के ? इनकी लाज–लिहाज हम क्यो करते है? "इस समय ऐसा लगता है कि सारग के रूप मे महाभारत की द्रौपती बोल रही है।

इस उपन्यास में एक अनोखा चरित्र है गॉव के स्कूल में आया नया मास्टर श्रीधर प्रजापति। यह मास्टर सारंग को आकृष्ट करता है, सघर्ष की नयी ताकत देता है, अन्याय के प्रति विद्रोह की क्षमता को और बढ़ाता है। इस चरित्र का अनोखापन केवल शिक्षक होने के कारण नहीं, बल्कि शिक्षक होना तो साधारण बात है। असली बात यह है कि वह शिक्षक है सामाजिक, राजनीतिक अधिकार पाने के लिए लड़ने के नये दौर में है। उसके व्यक्तित्व में जागरण की चेतना तो है ही, जागरण के पीछे काम कर रही शक्तियो का आधार हैं इनसे श्रीधर को नयी शक्ति मिलती है। यही कारण है कि श्रीधर एक स्कूल मास्टर होकर भी गॉव की खुंखार आततायी और रूढिवादी शक्तियों का डटकर विद्रोह करता है। गॉव के

---

[1] वही पृ 139

सामाजिक ही नही राजनीतिक शक्ति सतुलन को भी बदलनें के लिए योजनाबद्ध रूप से लडता है। इसके लिए शिक्षा के माध्यम से बच्चों से लेकर महिलाओं और अन्य तबकों में नयी चेतना फैलाता, विद्रोह का नया पाठ पढता है। वह आने के साथ ही नयी चेतना यानी जनतांत्रिक अधिकार के लिए सघर्ष की चेतना फैलाने लगता है। गुलकंदी नये मास्टर के बारे मे सारग को बताती है–नया मास्टर रामायण नहीं, आल्हा की चौपाई सुनाता है–"हम न भगि हैं रण समूहे से।" सारंग को भी नयी ताकत मिलती है, क्योकि रंजीत लड़ाई से भाग चुका है और सारंग को भी समझाता है"– सम्भालों खुद को। ये नादानी की बातें करना भूल जाओं, त्रिया चरित्र पसारना तुम जैसी औरत को शोभा नहीं देता।" तुम जैसी औरत कहने का मतलब है यह याद दिलाना कि सारंग गुरूकुल में पढ़ी हुई है और फिर रंजीत की पत्नी है।

अतरपुर का सघर्ष जो रेशम की हत्या किये जाने और उसका विरोध करने से शुरू हुआ था, वह अन्ततः पंचायत पर कब्जा करने की लड़ाई में तब्दील हो जाता है। सारग ने जो संघर्ष अपने या नारी की स्वतन्त्रता अथवा आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए शुरू किया था, वह नारी की राजनीतिक सत्ता कायम करने यानी पंचायत पर नारी का प्रभुत्व कायम करने के लिए सारग के उम्मीदवार के रूप में मैदान मे उतरने तक पहुॅचता है। आत्मनिर्णय की इस हद तक कि उम्मीदवार बनने की अनुमति रंजीत से लेने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। यह जानते हुए कि रंजीत भी उम्मीदवार बन सकता है सारंग उसको अपनी उम्मीदवारी की सूचना तक देना जरूरी नहीं समझती और श्रीधर एव भॅवर के कहने पर उम्मीदवार बन जाती है।

करमीबीर के मरने के सिर्फ पॉच महीने बाद रेशम अपने अज्ञात प्रेमी का गर्भधारण करके वह दिलेरी से उसका ऐलान भी करती

है। अपनी सॉस हुकम कौर से कहती है–"अम्मॉ, तुम विरथा हीं दॉत कटकटा रही हो। तुम्हारे पूत की चिता ठडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती ? जीतों, मरतों का भेद भी भूल गयीं तुम? बेटा के संग मै भी मरी मान ली ? .... ."[1]

ऐसी भाषा के व्यक्तित्व मे अद्‌भुत 'जुझारूपन' एवं 'साहस' देखने को मिलता है। 'इदन्नमम् में हर–नारी अपने–अपने स्थान पर संघर्ष की तैयारी मे है। या सघर्ष कर रही है। परिवार के भीतर–बाहर सुरक्षा और संरक्षण की प्रकिया में औरतें पुरूषों के हाथों जब बार–बार छली जाती है, तो अपने–अपने या उपलब्ध रास्ते खुद चुनती हैं। पुरूष स्त्रियों को सुरक्षा या संरक्षण देता है, तो बदले में स्त्री–देह दॉव पर लगाती है या उसकी सम्पत्ति, कभी–कभी दोंनो ही। वह पुरूष–सत्ता की शतरंज, सम्पत्ति और सम्बन्धों के समीकरण और मानसिक संस्कार के संकटों को साफ–साफ समझती–समझाती 'आधी–दुनिया' अपने मानवीय अधिकारों के हनन, दगन के विरूद्ध प्रतिरोधक शक्ति को सगठित और सुदृढ़ करने की कोशिश में चौपाल तक जा पहुॅचती है।

कुसुमा इस उपन्यास की सबसे सशक्त महिला पात्र है। पति यशपाल की परित्यक्ता कुसुमा 'आरम्भ में तो संस्कारजन्य निरीहता के चलते पति को अन्याय का तनिक भी विरोध नहीं करती है और चुपचाप सौत की पीड़ा सहती है परन्तु जैसे ही 'रूगण दाऊ जू' के प्रेम का सम्बल मिलता है, उसके भीतर दबी,कुचली नारी उठकर खड़ी होने लगती है, उसमें विरोध करने की ताकत आ जाती है। इस प्रेम के फलस्वरूप प्राप्त सतान को सबके सागने 'दाऊ जू' का घोषित करने में तनिक भी

---

[1] चाक ,पृ 19

नही डरती। यशपाल मारने–पीटने के स्तर पर उतर आता है और बच्चा गिराने को कहता है–

"लाज लिहाज त्याग कर चीख पडी वह –"ओ नकीले! खैर मना कि बच्चा दाऊ जू का है। नहीं तो यह किसी का भी होता, जात का, आन जात का, गैल चलते आदमी का।

"तुम होते कौन हो हमारी नाकेबन्दी करने वाले ? "तुम्हें क्या हक'......कुत्ता की जात नही गिनते हम तुम्हें।

"नहीं जाऊंगी ! कभी नही! आकास–पाताल एक हो जायें तो भी नही " [1]

वह अपने सासह के बल पर यशपाल के घर मे अपने और अपने बच्चे के लिए स्थान पा ही लेती है।

चित्रा जी का 'आवॉ' नारी चेतना की देशज प्रकृति पर जोर देता है चित्रा जी जिन पात्रो के माध्यम से नारी चेतना पर जोर देती है उनमे उपन्याय मे प्राय. सभी महिला पात्र है! उनमें प्रमुख है उपन्यास की नायिका व मुख्य पात्रा नमिता, किशोरी वाई, सुनंदा, स्मिता की बहन, और हैदराबाद प्रवास के दौरान उसकी सेविका नीलम्मा।

नमिता के अन्तर्वाह्य संघर्ष और उसकी चेतना के स्वरूप पर थोडा सोचने की जरूरत है। परिवार की आन्तरिक कलह और तंगी से ऊबकर वह आत्म निर्भर होने की कोशिश करती है कामगार अधाड़ी कार्यालय में पिता तुल्य अन्ना साहब उसके साथ दुर्व्यहार करते हैं। 'स्वंय' अर्जन का नितांत अपना ही आत्मसुख होता है। इसमें तृप्ति मिलती है, शक्ति का अनुभव होता है।

---

[1] 'इदन्नमम्' पृ स 133

सुनदा की नारी चेतना अपनी समस्याओ तक सीमित नही है अपने और सुहेल से उत्पन्न साम्प्रदायिक उन्माद को समाप्त करने का सकल्प उसकी इसी विद्रोह भावना का परिणाम है।,

किशोरी बाई की बेटी सुनदा सुहेल से प्रेम करती है। धर्म परिवर्तन को तैयार न होकर भी वह अपने बच्चे को जन्म देती है। सुहेल के अब्बा उसके सामने शर्त रखते है कि उसकी शादी सुहेल से तभी हो सकती है जब वह अपना नाम व धर्म परिवर्तन कर लें। वह स्पष्ट कहती है–"मेरा मातृत्व विवाह के तुच्छे प्रमाण पत्र का मोहताज नहीं।"[1]

सुनदा के अन्दर अपने होने वाले बच्चे को अकेले पालने की ताकत है। उसे यह परवाह नही है कि समाज क्या कहेंगा ? इसी दृढ़ निश्चय के साथ ही वह ऐसा वाक्य बोल पाती है।

चित्रा जी ने परम्परा के खिलाफ भी विद्रोह दिखाया है। 'आवाँ' की नारीपात्र पाम्पराओ को तोडती ही नहीं उनके साथ जुड़ी भी है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र व नायिका नमिता अपने पिता देवी शंकर पाण्डेय का किया–कर्म व तर्पण परम्परा से विद्रोह करके स्वंय करती है। जबकि किया कर्म व तर्पण करने का हक सिर्फ पुत्र को होता है, पुत्री को नहीं । विमलाबेन भी परम्परा से विद्रोह करके सुनन्दा की अर्थी को कन्धा देती है।

"आजकल" दिसम्बर 1999 के अन्त में माजदा असद ने लिखा है–"उपन्यास के माध्यम से पूरी संस्कृति को प्रस्तुत किया गया है यह संस्कृत इतनी यथार्थ ढंग से दिखाई गयी है कि पाठक यह सोचने पर विवश हो जाता है कि इक्कीसवी सताब्दी में हमारी मानसिकता क्या होगी,

---

[1] 'आवा' पृ 111

क्या परिवर्तन आयेगा या हम इसी तरह शोषण के चक्र मे पिसते रहेगे ? लेखिका का चिन्तन वास्तव मे महत्वपूर्ण है। उपन्यास का आकार बडा है, लेकिन पूरा उपन्यास पढ़ने के बाद यह कहा जा सकता है कि इतनी गहन समस्याओ को छोटे से कलेवर मे समेटना सम्भव नही था। सबसे अहम बात यह है कि इस उपन्यास को पढते हुए पाठक की जिज्ञासा निरन्तर बनी रहती है, कौतुहल बढता है, और रोचकता उपन्यास को और महत्वपूर्ण बना देती है।"[1]

[1] 'आजकल' पृ 43

जागरूकता

नवजागरण के दौरान समाज सुधार के आन्दोलनो मे नारी की सामाजिक स्थिति को सुधारने के प्रयास तो हुए पर इन शुरूआती प्रयत्नों से उसकी मानसिकता पर बहुत दूर तक असर नहीं पड़ा, सिर्फ एक चेतना पैदा हुई या 'पुरूष बनाम स्त्री' के रूप मे देखने के लिए प्रेरित किया जिन मोर्चो पर पुरूष स्त्री को लगातार मात देता रहा है एक है अर्थ और दूसरा है सेक्स। समाज मे स्त्रियों की स्थिति पर केन्द्रित उपन्यास तो आरम्भ से ही महिला और पुरूष कथाकारों ने लिखे। परन्तु अन्तिम दशक में लिखे गये उपन्यासकी स्त्री कुछ बदली हुई है। वह अपने को नये सिरे से तलाश रही है, अपनी भूमिका की नये सिरे से व्याख्या कर रही है। इस दशक की स्त्री जागरूक स्त्री है।

इस दशक की स्त्री अपनी सफलता के लिए जागरूकता को प्रथम शर्त मानती है। 'छिन्नमसता' की प्रिया एक जागरूक स्त्री है। वह अपनी पहचान बनाना चाहती है। उसने अपने ही घर में देखा अपनी दादी, मॉ और बहनो को अर्थात एक साथ तीन पीढ़ियों को। बारह की उम्र मे विवाह और उसके बाद हर दस–दस महीने बाद बच्चा। उसकी बहन सुमित्रा के अठ्ठारह की उम्र में चार बच्चे हैं, इसलिए नीलू मॉ के साथ ही रहता है। अपने छोटे–छोटे सुखों को नकारती और प्रिया को काटती–कतरती मॉ! अपने घर की दिनचर्या प्रिया को कर्मकाण्ड जैसी लगती। ढेरो अन्धविश्वासों और अशिक्षा के अधेरे मे भटकता परिवार। दादी ने आज तक कभी साडी के नीचे पेटीकोट नहीं पहना है। प्रिया को यह बडा अजीब लगता है। वह अपने बहन और भाभी जैसी नहीं होना चाहती है। वह आधुनिक स्त्री। स्त्री वह घुट–घुट कर नहीं मरना चाहती–"अम्मा!

तुम्हारी जैसी, जीजी लोगों जैसी जिदगी मैं नही स्वीकारना चाहती थी। मैं वडी भाभी जी की तरह घुट–घुट कर नहीं मरना चाहती।"[1]

प्रिया को परिवार मे रूढि परम्पराए सब का पालन करना पडता है, वह जागरूक होते हुए भी विद्रोह नहीं कर पाती है। तभी तो मार खाकर भी नरेन्द्र के साथ समझौते की कोशिश करती है। एक बार प्रिया के ससुर ने प्रिया से कहा–

"बेटा प्रिया, तुम पढी लिखी हो।"

"पढ़े–लिखे तो ये भी है पापा"

"नहीं अपना–अपना मानस होता है। तुम्हारी संवेदनाएं गहरी हैं और इसीलिए मै तुमसे ही कह रहा हूँ बेटा! मेरे लिए तुम्हारा जीवन नरक हो जाये यह मै कैसे बर्दाश्त कर सकता हूँ।"[2]

जागरूक और बुद्धिमान स्त्रियॉ पुरूष समाज को नहीं भाती है। यदि वह स्वतन्त्र निर्णय लेने लगती हैं तो उनमें वह सौ–सौ कमियॉ निकालता है। तभी तो जब तक प्रिया नरेन्द्र के अधीन रहती तब तक उसे बुरा नही लगता है लेकिन जैसे ही प्रिया ने स्वतन्त्र निर्णय लेना शुरू किया नरेन्द्र उसकी राह में रोडा बनने लगा– "मैनें नरेन्द्र के अधीन रहकर जो कुछ भी किया, वह सब स्वीकृत था, मगर कार्य जगत मे जब मै। स्वतन्त्र निर्णय लेने लगी, मुझसे उसकी निगाह में पत्नी की भूमिका नहीं निभ सकी थी, मरी हर बात में उसे सौ–सौ खामियॉ नजर आने लगी थी।

आज की नारी अन्धविश्वासो को नहीं मानती है। ब्रतउपवास उसे ढकोसले लगते है। तभी तो सोमा करवा चौथ का ब्रत रखने से

---

[1] 'छिन्नमसता' पृ. 91

[2] वही पृ 149

इन्कार कर देती है। "हॉं ससुराल मे रोज एक न एक देवता की पूजा ब्रत और उपवास। माघ मे महीने मे करवा चौथ का ब्रत था पहले दिन रात को ताई जी ने बुलाकर कहा कल सुबह से ही कुछ नही खाना है।"[1]

सोमा सोचती है कि जब ताई जी सब कुछ इतने नियम आचरण से करती हैं तो ? कैसे विधवा हो गयी, और वह ताई जी से पूछ भी देती है–'लेकिन ताई जी, इतने नियम आचरण के बावजूद आप कैसे विधवा हो गयी और देखिये ना निमली बाई का और फिर रेवा बाई को ।"[2]

'पीली ऑंधी' में जिस परिवेश की कथा है उसका समृद्ध है। ताई जी वर्तमान से समझौता करने के लिए तैयार नही है। उनका विश्वास परम्पराओ में है, धार्मिक आस्थाओं मे है, मान सम्मान की रक्षा मे है। यदि समकाल से प्रश्न करने के लिए कोई खड़ा है तो वह है सोमा।

चित्रा ने ही सोमा को अपने पैर पर खड़ा होने के लिए कहा। चित्रा ने ही सोमा को बी. एड की परीक्षा दिलवाई और कालेज में नौकरी भी। उसने स्पष्ट कहा कि –"जो तुम्हारें साथ घटा, वह तुम्हारें साथ या किसी और भी औरत के साथ घट सकता है। कम से कम अपने पैर पर खड़ी औरत भीख तो नही मॉगती।" [3]

'इदन्नमम्' की मन्दा कम पढी लिखी होने के बावजूद कुशाग्र वुद्धि से सम्पन्न है। विषय परिस्थितियो मे उचित निर्णय लेनें की क्षमता है उसके पास। वह प्रौढ विचारों की धनी है। हलांकि उसके प्रौढ़ विचार उसकी उम्र से मेल नहीं खाते परन्तु उसका भी एक कारण है, कुसुमा

---

[1] पीली आूधी पृ 186

[2] वही पृ 187

[3] वही पृ 260

भाभी कहती है "हम जानते है, तुम उमर मे कम सही पर विपत झेलनें में कम नही। सही गलत का सॉचा सार तो विपत झेलकर समझ में आता है।"[1]

वस्तुतः मन्दा के मानस–लोक की दो स्थापनाये हैं– जब तक मनुष्य आत्मरत रहता है, अपने दु:खो से नही उभर पाता। समष्टिगत प्रेम मानव को दु:खो से वाहर खीचता है, और अपने हिस्से की लड़ाई जब तक हम दूसरो से लड़वाते रहेगे, तब तक उसकी कीमत हमे चुकानी पड़ेगी।" अपने गॉव सोनपुरा में इन्हीं दो सकल्पों के सहारे मन्दाकिनी शाषितों एवं वंचितों के साथ जुड़ जाती है। मन्दा धैर्य के साथ एक कमिक ढंग से भ्रष्ट नौकरशाही एवं, पुलिसतंत्र, पूंजीवादी शोषण के तमाम उपकरणो, राजनीतिक दॉव–पेंच एवं छल, रूग्ण ग्रामीण–सांस्कृतिक मानसिकता–संस्कार पुरूष सत्ता के सारे समीकरणो के बीच सम्मानपूर्वक जीने की राह और सामूहिक सहयोग एव संघर्ष के लिए जन समर्थन तैयार करती हैं, जो नि:सदेह हिम्मत एवं हौसलें का काम है।

अभिलाख सिंह के शोषण एवं कुकृतियों के विरूद्ध राउतों में चेतना जागृत करती है..........".................तुम्हारा मालिक क्यो हुआ ? वह भीख नहीं देता तुम्हें । न सदाव्रत लुटाता है तुम्हारे लिए।.............तुम्हारें पास तुम्हारी मेहनत है, तुम्हारे लिए।...............तुम्हारा जीवट है।................... फिर क्यों घिघियाते हो इनके सामने? ....इस तरह तौहीन न करो। परिश्रम की ।[2]

---

[1] इदन्नमम् पृ 88

[2] वही पृ 303

जिस तरह मन्दा अभिलाख सिंह जैसे भेड़िये के खिलाफ राउतो के मन मे जागरूकता लाती है, उसी तरह राजा साहब के राजनीतिक छल–छद्‌म का जबाब उन्ही की भाषा में चुनाव का वहिष्कार करके देती है। इसी तरह थाने में दीवान के अश्लील हरकतो के जबाब में वह उसे चॉटे देती है, जो उसके साहस का ही परिचायक है।

मन्दा घर की चौखट से बाहर निकलकर वृहत्तर सामाजिक सरोकार से जुड़कर शोषितो एवं वचितो के अधिकारो की लड़ाई का नेतृत्व कर मन्दा समाज के उस विधान का माखौल उडाती है जिसमें लड़की का घर की चौखट से बाहर निकलना, ऐसे सार्वजनिक कार्यो मे भाग लेना एक अपराध से कम नही समझा जाता है। बऊ लाख कहती रही शादी करने को और जगेसेर लाख उसके चरित्र पर लाछन लगाते रहे पर मन्दा ने न तो विवाह किया और नही कदम पीछे हटाया । मन्दा को जब पता चलता है कि जगेसर ने सुगना को अपने पिता का घर छोड़कर मॉ के साथ अपने यहॉ चले आने का सुझाव देती है। कहती है–"छोड दो वह घर, मै देखती हूॅ जगेसर कक्का को । कल ही रिपोट करके आऊॅगीं थानें मे।"[1]

किसी भी क्षेत्र में बगैर जागरूकता के सफलता नहीं पाई जा सकती है, यह आज की नारी को बखूबी मालूम है।

'आवॉ' ने नीलम्मा का भी आत्म विश्वास और स्वाभिमान उसके स्वावलम्बन और कर्मठता से उपजता है, उसके अनुभव उसे अच्छे–बुरें की पहचान करना सिखा देता हैं। पुरूषो की भक्षक दृष्टि से मुकाबला करने का साहस उसमे धीरे–धीरे आता है। नैतिकता और अनैतिकता का भेद करने और उसका विरोध करने का विवेक उसमें जागृत होता है। अपने

---

[1]वही पृ स 356

दैहिक शोषण के एहसास के बाद नमिता मे जो चेतना जागृत होती है........ ...वह नीलम्मा के जीवन बोध और चेतना से प्रेरित होती है। नमिता के ही शब्दों में –"नीलम्मा ने बहुत बडी ताकत दी है, सच कहूँ नीलम्मा ही मेरी ताकत बन गयी है।"[1]

यह उपन्यास स्त्रियो की समस्या से भरा पड़ा है। इस उपन्यास में नमिता के साथ साथ गौतमी–नीलम्मा, स्मिता की बहन का भी दैहिक शोषण हुआ है, इन सभी पात्रो मे गौतमी और नीलम्मा ही ऐसी पात्र हैं, जो शोषण के उपरान्त जल्दी जागरूक हो जाती है। और उपन्यास के अन्त मे नमिता का भी जागरूक होना दिखाया गया है। नमिता को जागरूक होने के लिए नीलम्मा और पाश की कविता की सहायता लेनी पडी, जबकि नीलम्मा अपने स्वाभिमान व कर्मठता से जगरूक हुई।

---

[1] 'आवॉ' पृ 543

अधिकार और कर्तव्य के प्रति सजगता

वास्तविकता यह है कि भारतीय सांस्कृतिक बर्चस्व में स्त्री स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नही रहा। उसे पराश्रित पराधीन बनाने के लिए पुरूषों ने हजारो वर्षो से ज्ञान–विज्ञान, कला, संस्कृति, साहित्य दर्शन, चितन की दुनिया से इसलिए दूर रखा, ताकि वह शिक्षित, चेतन, सजग, आत्मनिर्भर न बन सके। वह अपने स्वत्वाधिकारों की मॉग न करने लगे।

स्त्रियों के प्रति नारी विरोधी दृष्टिकोण का खंडन करती हुई सीमोन कहती हैं– "स्त्री कैसे महान प्रतिभा हो पाती जब कि उसके लिए तमाम महान कार्यो के दरवाजे परम्परा ने बन्द कर रखे थें। स्वाधीन तो अभी–अभी जन्मी है। जब उसकी स्थिति थोडी परिपक्व होगी तभी उसकी भविष्यवाणी सच होगी–" कब स्त्री की पारम्परिक दासता टूटेगी ? और कब वह अपने लिए एक इसान की जिंदगी जी सकेगी ? वह कवयित्री होगी। वह अन्जान ऊँचाइयों को छुयेगी क्या उसका वैचारिक जगत हमसे भिन्न होगा, कल वह उन अथाह गहराईयों को छुएगी जिनको हम भी उसके साथ समझ सकेंगे ? हमें यह नही मालूम कि वब तक स्त्री की वैचारिक दुनिया और उद्‌भावनाए पुरूष से भिन्न होगी या वे स्वंय पुरूषों से भिन्न होंगी ? इस प्रकार की भविष्यवाणी कहना कठिन है। इतना तो सच है कि अब तक स्त्री की सम्भावनाओं का दमन किया जाता है। स्त्री को अब स्वय उसके हित में और मानवता के हित में स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। " [1]

---

[1] सीमोन पृ 336

आज की स्त्रियॉ न केवल पुरूष मूल्यो को कटघरों मे खड़ा करती है। बल्कि कभी–कभी तो पुरूष की सत्ता को पूरी तरह खारिज भी करती है। वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हुई हैं। वे अपने अधिकारों को लेकर पुरूष सत्ता के समक्ष प्रश्न भी खडा करती हैं।

प्रिया तो अपने हक की लडाई लडती है। वह अपने ससुर की अवैध सन्तान नीना को भी अपने व्यवसाय में शामिल करती है। जब वह नीना से कहती है कि छोटी मॉ के लिए इतना कडवा शब्द मत बोलो , तो नीना भी हक की बात करती है कि क्यो नही मॉगा मॉ ने अपना अधिकार।

"क्यों सहा ? उनसे किसी ने कहा था ? क्यों नही अपना हक मॉगा ?" [1]

प्रिया पति की बात न मानकर अपने व्यवसाय के सिलसिले में लंदन चली जाती है। जाते समय नरेन्द्र ने कहा दिया था कि 'अगर गयी तो फिर इस घर मे लौटकर मत आना' लेकिन प्रिया आती है , और जब नरेन्द्र जाने के लिए कहता है तो स्पष्ट कहती है कि इस घर पर उसका भी अधिकार है– "तुम यहॉ कैसे आई ? निकल जाओ मेरें घर से!"

"यह घर मेरा भी है और सुनो ज्यादा हल्ला मत करो। "[2]

प्रिया अधिकार की ही भाषा नही जानती, वह अपने ससुर की अवैध सन्तान नीना को अपने व्यवसाय में शामिल कर , वारिस बनाकर अपने ससुर का कर्तव्य स्वय पूरा करती है। उसे छोटी मॉ से सहानुभूति है।

---

[1] छीन्नमस्ता पृ 162

[2] वही पृ 165

यह अधिकार की भावना अपने 'स्व' को पहचानने की बात उससे उसके दर्शन के प्रोफेसर ड0 चटर्जी कहते है। उन्होंने उसे गुरू दक्षिणा में सिर्फ एक चीज चाही थी –" सबसे पहले अपने स्त्री होने की गुलामी को समझो"[1]

बहुत सी किताबे देते हुए उन्होने समझाया था कि औरत होना बुरा नहीं है लेकिन औरत होने की ऑसू भरी नियति को स्वीकारना बुरा है–

"स्त्री होना कोई अपराध नही है पर नारीत्व की ऑसू भरी नियति स्वीकारना बहुत बड़ा अपराध है।"[2]

एक सफल स्त्री को क्या चाहिये। सोमा इस मनोविज्ञान से परिचित है। वह नारी मुक्ति की पक्षधर है। विवाह को वह बन्धन के रूप मे स्वीकारती है , जीवन सुख के रूप मे नहीं । सोमा पूर्णतः निर्भीक स्त्री चरित्र है। साहसी तो इस कदर कि लिया हुआ निर्णय वापस लेने को राजी नही। जब रूँगटा हाउस को पता हो गया कि वह सुजीत के प्रेम पाश मे आवद्ध हो चुकी है, निकल नहीं सकती । उसके पति गौतम को भी ज्ञात हो गया कि उसकी पत्नी सोमा के पेट में उसके प्रेमी का अबैध बीज अकुरित हो रहा है तो गौतम समेत समूचे रूँगटा हाउस ने उसे समझाने की कोशिश की, वापसी की मिन्नते की, मगर सोमा का वर्तमान में जीने वाला आग्रह–ललक हरगिज पीछे लौटने को तैयार नहीं। अपना निर्णय वह स्वंय लेती है। वह आधुनिक स्त्री है और अपने अधिकार के

---

[1] वही पृ 116

[2] वही पृ 117

प्रति जागरूक है। यह आज की नारी का साहस है कि वह विवाहित होते हुए भी दूसरे पुरूष से प्यार करने की बात अपने पति से स्पष्ट कहती है–

"और तुम प्यार की बात करत हो ? मैंने तुमसे कभी प्यार नही किया, नही तुम्हारी कोई स्मृति नही। हॉ मै सुजीत से प्यार करती हूॅ।"[1]

श्रृखला की कड़ियॉ के एक निबन्ध में आज से साठ साल पहले महादेवी वर्मा ने लिखा था– 'समाज की दो आधार शिलायें हैं , अर्थ का विभाजन और स्त्री का सम्बन्ध। इनमे से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है तो समाज का संम्पूर्ण प्रसाद हिले विना नही रह सकता।' 'चाक' के अन्त तक आते–आते हम अनुभव करते हैं कि पूरूष प्रभुत्व की जानी–पहचानी यथा स्थितिवादी व्यवस्था को स्त्रियॉ चुनौती दे रही है। यह वही समय है जब ससंद में स्त्रियों के आरक्षण को लेकर मॉग लगातार उठ रही है।

'चाक' में एक नयी बात सामने आती है कि विधवा को भी गर्भधारण करके संतान पैदा करने और जीने का अधिकार क्यों न मिले ? भारतीय नारी के जीवन के लिए यह नई स्वतन्त्रता है।

चन्दन को शहर भेजने के प्रश्न पर रंजीत और सारग के बीच जो विवाद होता है उसमें नारी के अधिकार का नया रूप सामने आता है। सारंग कहती है– "जैसे चन्दन अकेले तम्हारा ही बालक हो! तुम ही उसके कर्ता–धर्ता, तुम ही पालन हार..............मैं कुछ नहीं........ मैं कुछ नहीं, मै कुछ भी नही ....ऐसा क्यों लग रहा है आज ? प्रश्न इस रूप मे सामने आता है कि बालक का अभिमावक क्या केवल पुरूष है, स्त्री

---

[1] पीली ऑधी पृ 255

नहीं, उसके बारे मे निर्णय क्या केवल पिता करेगा ? मॉ की राय का कोई महत्व नही?

पहले तो रजीत की बात चल जाती है और चन्दन अपने चाचा दलजीत के साथ आगरा चला जाता है। लेकिन आगे चलकर सारग चुपके से पत्र लिखकर चदन को गॉव वुलवा लेती है। यह है अधिकार का उपयोग। सारग यह स्थापित कर देती है कि पुत्र के बारे में वह भी स्वतत्र निर्णय निर्णय कर सकती है। चन्दन के आने के बाद गॉव के स्कूल में उसका दाखिला करा दिया , यह तीसरा स्वतन्त्र निर्णय था। रंजीत क्रुद्ध होता है, सारग से झगडता है लेकिन सारग दृढ़ है। दाखिला वहीं कराती है अभिभावक बनकर। बालक के अभिभावकत्व का अधिकार मॉ को क्यो नही। यह भी नया अधिकार नारी को चाहिये। चौथा निर्णय सारंग ने किया श्रीधर के अग्रह पर 'एकलब्य' नाटक .की पाण्डुलिपि लिखने का भार स्वीाकर करके। एक और महत्वपुर्ण निर्णय उसने बाबा के कहने पर लिया, रजीत की स्वीकृति की जरूरत समझे विना घायल श्रीधर की सेवा के लिए उसके साथ अलीगढ़ जाने का। वह श्रीधर के अत्यन्त करीब चली जाती है,? यहॉ तक कि वहॉ से लौटने पर सेवा के लिए एक रात श्रीधर के साथ रहकर रति कर वैठती है लौगसिरी के घर में। यह सेक्स की स्वतन्त्रता के अधिकार का उपयोग है।

'बेतवा वहती रही' मे मैत्रेयी ने समाज के जिस 'दो मुँहें' चरित्र का स्वरूप उधेडा हैं, वही चरित्र 'इदन्नमम्' में भी दिखाई देता है। इस दो मुँहे चरित्र की सबसे स्पष्ट गवाही पुरूष सत्ता की वह व्यवस्था है, जिसमें स्त्री एव पुरूष के लिए नैतिकता एव मर्यादा के अलग–अलग मापदण्ड हैं। स्त्री विधवा हो जाय तो उसके लिए अपने मृत पति की 'बाखर' की 'मरजाद' की रक्षा के लिए 'चौखट' पर जीवन होम कर देने के सिवा और कोई विकल्प नही है जबकि पुरूष को विधुर होने के बाद कौन कहे, विना

विधुर हुए ही एकाधिक पत्नी रखने का पूरा अधिकार है। बडी खूबी यह कि ऐसे पुरूष उन स्त्रियो पर कीचड उछालने मे सबसे आगे होते है।"

कुसुमा एक स्वाभिमानी नारी है।, मन्दा को समझाती हुई कहती है...." औरतो के पास मान ही तो एक पूजी है। वही हमारा बल है। बिटियॉ ।" [1]

गोविन्द सिह ने जब उसके बच्चे के पालन–पोषण के लिए यशपाल के हिस्से मे से 'किरिया दो किरिया' दे देने की बात कही तो कुसुमा ने 'उसी बखत' थूक दिया उस भीखदान पर। उसे अपना अधिकार चाहिये भीख नही।

कुसुमा दाऊ जू की सच्ची प्रेमिका की भॉति अपने कर्तव्यो का निर्वाह भी करती है। दाऊजू से उसका प्रेम केवल शरीर की भूख मिटाने के लिए नहीं था वरन् अन्तरात्मा का प्रेम था। उस प्रेम को कुसुमा अमूल्य धरोहर की भॉति सदैव अपने भीतर सयोये रहती है। दाऊ जू की मृत्यु के बाद रगीन बस्त्र तक पहनना छोड देती है। कहती है: "दाऊ जू जोगिन नहीं कर गये हमें, हम ही त्याग बैठे है रंगीन उन्ना कपड़ा, दाऊ जू कै विछोह में।" [2]

इसमे संदेह नही कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था में बहुत बार–डर, भयो और दमन की क्रूर खाइयो के चलते प्रतिरोध की आंतरिकं आवाज दबी रह जाती है। परन्तु अन्तिम दशक के लगभग सामने अब ऐसी स्त्री थी जो अपनी अस्मिता को लेकर मृत्युंजय संघर्ष करने आयी थी । वह दमघोटू क्रूर जटिलताओ और इतिहास से उठती सतीत्व की लपटों को

---

[1] 'इदन्नमम्' पृ 181

[2] (वही पृ 266)

चुनौती देने लगी। वह तथाकथित शिष्ट लोगों से ऑख मिलाने में सकुचा नहीं रह सकती थी, न हीं सामाजिक बहिष्कार से टकराने से डर रही थी। कुलटा, छिनाल, और पतिता जैसे बदनाम सम्बोधन उसे डराने में कामयाब नही हो पा रहे थे, क्यों कि वह इन कुत्सित, धमकियों की असलियत समझ चुकी थी। जीवन की सार्थकता और सम्पूर्णता समझने वाली अपनी अनिवार्यता के साथ मुखर हो उठी । 'न्याय या खून' की बातें करने लगी।

सामाजिक न्याय की भावना

इतिहास साक्षी है कि नारी शोषण का एक बड़ा कारण रहा है उसकी आर्थिक कमजोरी। जब से पुरूष जाति ने नारी को उनकी शारीरिक एवं भावनात्मक विशेषताओं के आधार पर घर की चारदीवारी में कैद कर दिया एव कृषि पर अपना अधिकार जमा लिया तभी से नारी आर्थिक रूप से आश्रित हो गयी।

दलित वर्ग दलित वर्ग और स्त्री वर्ग दोनो ही शोषित है। इसलिए आज की स्त्री अपने लिए नहीं बल्कि जो भी शोषित है उन सबके लिए है। उन सबके लिए न्याय चाहती है। तभी तो प्रिया कहती है, 'औरत कहॉ नहीं रोती? सडक पर काम करते हुए एयरपोर्ट पर बाथरूप साफ करते हुए या फिर सारे भोग और ऐश्वर्य के बावजूद मेरी सासुजी की तरह पलग पर रात रात भर अकेले करवटें बदलते हुए।

उसे छोटी मॉ से सहानुभूति है वह उनके लिए न्याय चाहती है। छोटी मॉ उसके ससुर के मरने पर बाबू घाट पर चूडिया तोड़ने का अधिकार भी नहीं रखती। नीना और वह स्वंय जैरो राब की राब छिन्नमस्ता है लावारिस औरते जिन्हें समाज की स्वीकृत नहीं मिली है। अपनी पहचान के लिए सघर्ष आसान नहीं होता।

अपने ससुर के मरने के बाद वह तड़फ कर रह जाती है, वह सोचती हैं कि कोई बए बार छोटी मॉ को ले आये। वे भी पापा के अन्तिम दर्शन कर लें। परन्तु नरेन्द्र ने कहा था, अग्रवाल हाउस मे रखैल और रडियां नहीं आ सकती। कितना कठोर हृदय है नरेन्द्र, प्रिया ने और न जाने क्या मन हीं मन कहा। वह सोच रहीं थी कि यहॉ तो मम्मी को सान्त्वना देने वाले इतने लोग है परन्तु इस वक्त कौन होगा उनके पास सान्त्वना के दो शब्द भी बोलने वाला कोई नहीं होगा।

"हॉ बाबूघाट पर मुझे दूर एक औरत नहाती हुई दिखी थी। अरे , यह कौन ? क्या छोटी मॉ हैं? छोटी मॉ घाट पर अकेले अपनी चूड़ियॉ तोड़ रही थी। मॉग का सिन्दुर मिटाया था और अकेले, विल्कुल अकेले। फिर भीड से अलग चुपचाप निकल गयी थी। ओह! आज भी ऑखें भर आती है। मेरी सास को तो दस–दस औरतें थामें हुए थी। सब पत्थर दिल। पर मैं किसको गालियॉ देना चाह रही थी? व्यक्ति को समाज को ? परम्परा को, किसको? पता नही। या फिर ऐसी निष्क्रिय मौन स्वीकृति के लिए छोटी मॉ स्वय जिम्मेदार थी" [1]

वह नीना और छोटी मॉ को लेकर चिन्तित होती है। वह चाहती है कि नीना को जायज संतान का हक मिले तभी तो वह कहती है–" मै बहुत कुछ कहना चाहती थी, मैं पापा से बहुत कुछ सुनना चाहती थी। पूछना चाहती थी कि पापा, छोटी मॉ के प्रति आपका कोई कर्तव्य नही आपके बाद छोटी मॉ को कौन सम्भालेगा? नीना.............नीना क्या हमेशा–हमेशा एक नाजायज सन्तान रह जायेगी?"[2]

'इदन्नमम्' मे समाज के दो मूँहें चरित्र को सामने लाती हैं मैत्रेयी। इस दो मूँहें चरित्र की सबसे स्पष्ट व्याख्या पुरूष सत्ता की वह व्यवस्था है जिसमें स्त्री पुरूष के लिए नैतिकता और मर्यादा के अलग–अलग मानदड हैं। स्त्री विधवा हो जाय तो पति की स्मृति में ही जीवन होम कर देने के सिवा और कोई विकल्प नहीं है। जबकि पुरूष को विधुर होने के बाद कौन कहें विना है। जबकि पुरूष को विधुर होने के बाद कहे विना विधुर हुए ही, एकाधिक पत्नी रखने का पूरा अधिकार है, यह समाज का कैसा न्याय है। 'इदन्मम्' में प्रेम जब मन्दा से मिलने

---

[1] 'छिन्नमस्ता' , पृ 151

[2] वही , पृ 150

सोनपुरा आती है तो उस पर व्यग्य वाण छोड़ने मे वही जगेसर सबसे आगे रहता है जिसने व्याहता के रहते हुए ही अहिल्या को अपनी रखैल बना लिया था। समाज की इस विडम्बना से मन्दा बहुत दु.खी होती है, सोचती है– "गॉव मे छः आठ ऐसे जोडे है जिन्होने दूसरा विवाह किया है। माना कि पुरूष है तो क्या, अम्मा स्त्री होने के नाते दण्ड की, माखौल की, हेय दृष्ट की भागीदार है? यदि ऐसा नहीं हो उन पुरूषो से अटपटे प्रश्न क्यों नहीं पूछता कोई? उसकी निगाह नीची क्यों नही होती? वे अस्पताल जैसी सार्वजनिक जगह में रात काटने को क्यों नहीं विवश किये जाते।"[1]

'इदन्नमम्' का कैनवस बहुत विस्तृत है। इसमें दुहरी लड़ाई का चित्रण है– एक तो औरतो की लडाई , दूसरे वंचितो की लड़ाई । वेद प्रकाश अमिताभ तो यहॉ तक कहते है – "बचितों और शोषितों का संघर्ष ही 'इदन्नमम्' का मुख्य प्रतिपाद्य है, मन्दा की यातना और सघर्ष उसे व्यापक संघर्ष के सामानान्तर और सश्लिष्ट है।" [2]

वह दलितो के लिए लड़ती है उन्हें उनका अधिकार दिलाती है। समृद्ध एव समर्थ लोगो द्वारा मजदूर और किसान वर्ग का दोहन हो रहा है, अपने को समृद्ध एवं समर्थ बनाने के लिए। इसमे लेखिका ने आज की व्यवस्था का खुला चिठ्ठा प्रस्तुत करती हैं जिसमे जंगल न अपने को कटने से बचा सकता है पहाड़ न अपने को क्रेशर से टूटने से बचा सकता है और न ही एक साधारण किसान किसान पूँजीवादी सत्ता के तमाम उपकरणो, हथियारों के सामने अपने को किसान से मजदूर होने एवं मजदूर होकर भी बेरोजगार होने से बचा सकता है। यही नही राजनीतिक

---

[1] इदन्नमम् , पृ 292

[2] इदन्नमम् , औरतो और वचितो की सघर्ष –गाथा , वेद प्रकाश , अमिताम , 'समीक्षा' जुलाई –सितम्बर 94 पृ स 17

एव नौकरशाही छल–छद्‌म एव विकास परियोजनाओं के सुरहरे भ्रम से भी कहॉ बच पा रहे है ये ग्रामीण एवं पिछड़े अंचल के लोग? इन्हीं सब सच्चाइयों का उदाहरण है –विन्ध्यअचल मे बसा सोनपुरा गॉव। विकास के नाम पर अपनी प्राकृतिक सपदा को होम कर देने के बावजूद भी इन ग्रामिणों पिछडे अचल के लोगों को क्या मिलता है? अभिलाख जैसे पूॅजीपति ही तो, जिनके पास शोषण के सारे हथियार मौजूद होते है सरकार की अदूरदर्शी एवं विसगति पूर्ण विकास–योजनाओं में इन गरीबों को आधारभूत सुविधाए उपलब्ध करवाने के लिए तो कोई प्राविधान नहीं होता। हॉ औद्योगीकरण के बहाने पूॅजीपतियों की सुरक्षा की व्यवस्था अवश्य होती है। विसंगतिपूर्ण नीति का ही परिणाम है कि सोनपुरा के किसान, किसान न रहे। मजदूर होकर भी अपनी ही जमीन पर रोजगार भी प्राप्त नहीं कर सके। पहाड के ठेकेदार इन स्थानीय लोगो को पूॅजीवादी शिक्षा के नियमानुसार अपने यहॉ काम देते हीं नहीं। मन्दा इसका कारण समझती है। कहती है ––स्थानीय मजदूर रखते नहीं ये लोग। डरते हैं, सगठन न बना ले। एक मिट्‌टी में जन्में लोग एक होकर उनके विरूद्ध ही जेहाद न छेड़ दें। बस यहीं एहतियात बरतते हुए ठेकेदारों ने भूखों के मुॅह की रोटी छीन ली।" [1]

सरकार के पास भी ऐसे भूखों को रोटी दिलवाने, उनका हक दिलवाने के लिए कोई व्यवस्था नही है। वह तो बस मुआवजा दे कर अपने कर्तव्यो का इतिश्री समझ लेती है।

एक पूॅजीपति जब ग्रामीण क्षेत्र में अपना पैर जमाता है तो उसका लक्ष्य वहॉ के अनपढ़ लोगों का हर तरह से उपयोग करना ही होता है ये बेवस एव खौफ खाये मजदूर सब कुछ सहते हैं। सोनपुरा का

अभिलाख ऐसा ही शोषक पूँजीपति है। राउतो को गुलाम की तरह इस्तेमाल करने वाला अभिलाख उनका आर्थिक ही नही शारीरिक शोषण करके भी केवल अपना लाभा देखता है। भयंकर ज्वर से पीड़ित परबतिया राउत को वह शराब पिलाकर नशे में अपना काम करवाता है क्यों कि उसका तो 'पइसा फॅसा पडा है' सेलिग नही होगा तो मशीन मे क्या पिसेगा ? भले परबतिया की देह पिस जाये, उससे उसे क्या मतलब? यहॉ तक कि अवधा को उसकी मजदूरी नही देता है। जिसे बरातियों को भोजन के रूप में तालाब में जीव जन्तुओं को परोसना पड़ा (क्योकि उस तालाब मे मझली नही थी) जिसका परिणाम उन्हे हैजा के रूप मे झेलना पड़ा। मन्दा दे देखा, " कल वाली बारात पटसन के पौधो की तरह बिछी पड़ी है। लोग तड़फ रहे हैं। कुचले हुए केचुओ की तरह विलविला रहे हैं।" .. ..ठीक सामने सिरीदेबी और बदलेब बिखरे पड़े थे—मृत। अवधा की ऑखें पथराई हुई ....निर्जिव वुत सी ....।"[1]

यहॉ यह सवाल हो उठता है कि अवधा को 'निर्जीववुत' सा करने लगा , उसकी उम्मीदो , उसकी भावनाओं को कुचलनें का अधिकार आखिर अभिलाख को किसने दिया? हड्डी चटकाकर पत्थर तोड़ने—ढ़ोने के बावजूद परबतिया को तीन दिन से रोटी क्यों नहीं मिलती है? क्यों राउतों को अधिकाश दिन चेंच करमेंथा खाकर हीं पेट भरना पड़ता है? क्यो उन्हे विलों जैसे टपरियों में गर्मी बरसात और जाड़ा झेलना पड़ता है? यह सब इसलिए क्योंकि अभिलाख उनका खून चूसने पर लगा हुआ है और उसे रोकने वाला कोई नही है अभिलाख का राउतों पर इससे बढ़कर अत्याचार और क्या हो सकता है कि वह उनकी स्त्रियों को भी अवसर मिलने पर बेच दिया करता है।

[1 1] वही पृ स 95

यहाँ एक अनिवार्य रूप से प्रश्न उठता है कि ऐसी विगड़ी स्थिति के लिए अन्तत. कौन उत्तरदायी है? कहना गलत न होगा कि सरकार के अन्धेपन के कारण अभिलाख जैसे लोग उत्पन्न होते है एवं राउतों को उनके दुश्चक्र मे पिसना पडता है। जगलो का सरकारीकरण करते समय सरकार ये कतई नहीं सोचा कि केवल जंगलों से ही अपना भरण–पोषण करने वाले ये राउत क्या अब अपनी स्वतन्त्रता खोकर ठेकेदारों के मजदूर (गुलाम) नही हो जायेगे। अवधा इन ठेकेदारों को शोषण बताती है, –"ठेकेदार हमसे मडियाई ही करवाते थे। ठेका तो लें पच्चीस पेडों का और कटावे हमसे पचास पेड। जो पकरे जॉय तो हम जेहल में। जमानत करवाने तक न जावे ठेकेदार। जे और कह दें कि हम नहीं जानते इन्हें, छिप के काट रहे होंगे।" [2]

इसमें भी बढकर शोचनीय बात–लोकतंत्र शासन व्यवस्था में सरकार का दमन चक्र। सरकारी आदेश की अवहेलना (अपने अधिकारो की रक्षा के लिए) करने पर राउतो की क्या दशा होती है देखिये–" अफसर की अगाई और घोडा की पिछाई कहाँ नो करे आदमी? अगाई काटी थी, हमने ऐन तो काटी थी , जब जंगलों से खदेरे गये थें। .... जडों से काटकर फेंके तो मुरझाते हुए भी तीर, लाठी बल्लम लैके जूझ परे थे हम।...........पर अन्त मे क्या बना? क्या मिला? पुलिस ने मार–मार कर घुटने फोर दिये। भेजा चटनी बना दिया, बन्दूकों की वट से घिस–घिस कर। जो बचे थे, वे ठुँस दिये जेहल में।" ....सालों में सिरकारी हुकुम आया कि बन के बागी बन्दी छोड़े जा रहे हैं,.......... ...."जो मिले विटिया , वे मरे मे न जिन्दो मे।" [3]

---

[1] इदन्नमम् पृ254
[2] इदन्नमम् पृ253
[3] वही पृ 304

यहाँ लेखिका की दृष्टि उन दलितों के प्रति सहानुभूति से भर उठती है तथा प्रश्न उठाती है कि अपनी योजनाओ के चलते विस्थापित हुए लोगो के स्थायी रोजगार के बारे में गम्भीरता से सोचना और आवश्यक कदम उठाना क्या सरकार का कर्तव्य नहीं?

<u>परिवार के प्रति दृष्टिकोण</u>

परिवार हमारे समाज की आधारभूत इकाई है। इसमे स्त्री की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है। सच्चे अर्थो में सामाजिक न्याय के लक्ष्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब सामाजिक , राजनीतिक एवं आर्थिक प्रकिया में स्त्री की भागीदारी सुनिश्चित हो सके। 'स्त्री विमुक्ति सामाजिक प्रगति का अनिवार्य हिस्सा है, यह केवल स्त्रियों का मामला नही है। स्त्रियो की अधिकार सम्पन्नता न केवल स्वयं उसके जीवन को सकारात्मक रूप से प्रभावित कर सकती है, बल्कि वास्तव में, पुरूषों और उनकी सन्तानो पर भी प्रभाव डाल सकती हैं। जिन पर हमारे परिवार, समाज और राष्ट्र् का भविष्य निर्भर करता है।

प्रश्न यह है कि स्त्री मुक्ति की दिशा या स्वरूप कैसा हो? क्या उसे पश्चिम की आजाद ख्याल स्त्रियों की तरह होना चाहिये, जहॉ परिवारिक विघटन ने वहॉ के समाज में एक तरह की अफरा–तफरी दी? स्त्री–मुक्ति का पाश्चात्य स्वरूप हमारे परिवार का आदर्श नहीं बन सकता क्योकि इसकी परिणति अराजकता में होनी सुनिश्चित है। तब हमे अपने अतीत और वर्तमान की वास्तविकता का संधान करते हुए एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा। जहॅा स्त्री पुरूष स्त्री की अस्मिता का सम्मान और उसके साथ–साथ चल सके। वीसवीं सदी के अंत में भारतीय स्त्री का अधिकांश, कुछ एक अतिवादों को छोड़कर आज भी परिवार के प्रति सचेत और गंभीर है समस्या यह है कि स्त्री जैसे–जैसे जागरूक होती जा रही है, उस अनुपात में पुरूष समाज उसकी चेतना को स्वीकार नहीं कर पा रहा है। स्त्री को आज भी पुरूष अनपढ, गवॉर, मध्य–कालीन स्त्री के रूप में देख रहा है। और उसके सौन्दर्य को बाजार में बेंच रहा है। पुरूष मनोवृत्ति का यहीं अन्त नही हो जाता। उसने बड़े कौशल से

अपनी सोच को स्त्री चेतना में उतार दिया है कि उसकी सोच की दिशा भी आम तौर से पुरूष–मनोवृत्ति का अनुसरण करती जान पड़ती है।

भारतीय स्त्री की आज भी परिवार में आस्था बची हुई है तभी से प्रिया तो नरेन्द्र से पहले समझौता करने की कोशिश करती है। तब नरेन्द्र यहा कहता है कि 'यदि लन्दन गयी तो इस घर में कभी मत आना' प्रिया अपने दुःख को दबाकर पूर्णत. सयत होकर बात हल्की करनी चाही थी–

"क्यों? यह घर क्या केवल तुम्हारा है" मैंने हॅसते हुए बात हल्की करनी चाही थी।"[1]

प्रिया अपनी मित्र जूडी से कहती है कि 'नरेन्द्र के साथ मैनें हर समझौते की कोशिश की लेकिन हर कोशिश नाकाम हो गयी। धीरे–धीरे उसे समझ में आने लगा कि नरेन्द्र का ढ़ॉचा बदलने वाला नही है और प्रिया भी नरेन्द्र के अनुसार ढल नही पाती सिर्फ अपना ही दोष मानती है। उसकी मॉ, भाभियॉ और जीजी, जिन्हें डर था कि कौन उससे शादी करेगा, अब उसके भाग्य को सराहती है, फिर भी प्रिया खुश नही है–" शिकायत तो नही होनी चाहिए थी, पर शिकायत थी मन मे। मैं किस आभाव से ग्रसित थी? हिचकियों में रो–रोकर मैं खुद से कहती, कोई तुम्हारा नहीं प्रिया। तुम अकेली हो विल्कुल अकेली। न अम्मा, न भैया लोग, न जीजी लोग और न पति।" [2]

कोई भी औरत अपनी खुशी से अपना परिवार, अपना बच्चा नहीं छोड़ती है तभी तो प्रभा जी ने एक स्थान पर प्रिया से कहलवाया है–

---

[1] छिन्नमस्ता
[2] वही पृ 187

'नरेन्द्र ! आदमी की भाषा मे बात करो। घर की जमीन कौन औरत छोडना चाहती है? और तुमने तो मेरा बेटा भी रख लिया है।" [1]

आज की स्त्री परिवार मे अपने लिए भी पुरूष की बरबरी की जगह चाहती है। वह चाहती है कि परिवार के लोग उसकी भी सुनें , वह भी तो परिवार की सदस्य है। वाह्रय सम्पर्क नें परिवार में पुरूषों से औरत की अपेक्षा को भी बदला है। पारम्परिक सामाजिक ढ़ॉचे में औरत ज्यादा आजाद नही थी वह भूमिका उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में बाधा बन रही थी इस भूमिका से उसने इकार किया इससे एक हद तक पुराने भावनात्मक सम्बन्ध भी टूटे। पुरूष ने उसे सुरक्षा दी थी मगर साथ ही उसे उस सुरक्षित घेरे के अन्दर ही रहनें को विवश भी किया। वह जब इस सुरक्षित घेरे में जबरन बाहर चल आई तो वहीं पुरूष उसका प्रतिद्वन्दी बन कर खड़ा हो गया।

प्रिया के मन में विरोधाभास शुरू हो गया, उसे लगता है कि वह अपने परिवार के प्रति अपना कर्तव्य नहीं निभा पा रही है। परिवार में जो उसे बचपन से मिला वह भी उपेक्षा। मॉ के घर भी वह सदैव उपेक्षित रहीं। एक स्थान पर वह नरेन्द्र से कहती है– "नरेन्द्र! थोड़े दिन का समय मुझे और दे दो । जिदगी का एक खास दौर है। मैं अपने को सम्भाल नहीं पा रही हूँ। घर मे आते ही मुझे लगता है, मै सासू जी की अच्छी बहू नहीं। तुम्हारी अच्छी पत्नी नही, संजू की अच्छी मॉ नहीं।" आगे कहती है–" क्योकि मेरे पास वक्त नहीं था और पत्नी की भूमिका मे असफल होना? तुम्हारे समाज की नजर में मुझे औरत होना ही नहीं चाहिये था। उसने कब मुझे दोस्त बनाकरे स्वीकारा ? " [2]

---

[1]वही पृ 180

[2] छिन्नमस्ता पृ 180

स्त्री के अन्तर्मन को समझपाना किसी रहस्य लोक का साक्षात्कार करना है। वह क्या–क्या सोचती है इसे कोई स्त्री ही शायद समझ सकती है। स्त्री के भीतर प्रवेश कर उसके मनोलोक को टटोलना प्रभाखेतान द्वारा 'पीली ऑधी' मे सम्भव हुआ है। एक स्त्री स्त्रीत्वबोध लेकर अन्तत क्या चाहती है, उसका अनावरण करती हुई लेखिका ने सोमा के भीतर झॉकने का प्रयास किया है।

सोमा का पति गौतम पौरूषविहीन है सोमा उसे छोडना चाहती है, क्योकि वह मॉ बनना चाहती है। शूरू में सोमा जिस परिवार मे साम्जस्य विठाने मे कठिनाई का अनुभव करती है, लेकिन बाद में वही परिवार उससे मिला स्नेह वह कभी नहीं भूलती, उसे वह परिवार अपने मायके से भी अधिक प्रिय लगने लगता है–

"बच्चो से घिरी हुई सोमा को अपनी ससुराल ममता और अपनत्व से लबालब भरी हुई लगी। भरे–पुरे घर में कितना प्यार और कितना स्नेह। ये लोग कितने सरल है। ठीक है, दिल्लीवालों की तरह स्मार्ट नही है। तो न सही क्या फर्क पड़ता है?"[1]

इस उपन्यास मे ताई और सोमा जैसे पात्र मारवाड़ी स्त्री समाज की नारीशक्ति के अलग–अलग दो छोर है। एक तरफ घर के बाडे मे कैद स्त्री और उस पर पुरूष के बर्चस्व का अवमूल्यन करने वाली पद्मावती (ताई) तो दूसरी ओर परिवार की मर्यादा का चौखट लॉधकर विवाह के प्रतिवद्ध रूप को चुनौती देने वली छोटी बहू सोमा है। स्त्री के परवश रूप को स्वाधीनता देने का काम प्रभा खेतान ने किया है। सहनशील नारी को कुछ कहने और आत्मनिर्णय करने की स्वतंत्रता देता

---

[1] पिली ऑधी पृ 193

है यह उपन्यास। स्त्री के लिए परिवार की सब कुछ नहीं होता है, वह घुट–घुट कर करने के लिए मजबूर नही की जा सकती।

स्त्री की सार्थकता सुख खोजने मे नही त्याग मे है परिवार की खुशी मे ही उसकी खुशी है। –ऐसा मानने वाले समाज के परम्परागत ढॉचे के बीच से उठा ताई का व्यक्तित्व व्यापार, लेनदरी–देनदारी, घर की जमापूॅजी, शादी व्याह जैसे तमाम मसलों में निर्णायक होती है।

प्रभा जी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से परिवार के सामने भी कई तरह के प्रश्न उठाये हैं, जैसे–क्या कोई सुन्दर आर्कषक देह वाला पुरूष किसी पत्नी के लिए योग्य पति है? क्या अपार धन सम्पदा की गद्दी पर बैठा कोई पुरूष किसी स्त्री की कामना का चरम है? क्या परिवार की मान–मर्यादा ही सब कुछ है और इस मर्यादा की रक्षा के लिए कोई स्त्री पौरूषहीनता को झेलने के लिए अभिशप्त बनी रहकर ढोती रहे? ऐसी तमाम प्रश्नों का उत्तर है सोमा सोमा नारी मुक्ति का एक नया अध्याय है। यद्यपि भारतीय इतिहास में मुक्ति की अवधारणा कोई नयी सांकेतिकता नहीं है, परन्तु समय–समय पर स्त्रियॉ आत्ममुक्ति की अपनी–अपनी लडाइयॉ निजीतौर लडती रही हैं।

'पीली आधी' में संघर्ष दिखलाई पड़ता है। इस संघर्ष मे अतीत और वर्तमान का संवाद उभरकर सामने आया है। एक ओर ताई जी है जो कि संयुक्त परिवार चाहती है। इसलिए गौतम बम्बई में अकेले फ्लैट लेकर रहता है, सोमा वहॉ नहीं जा सकती, क्योकि –"गॉव क्या कहेगा ? बेटे–बहू अलग बम्बई में रहने लगे। 'ताई जी का कहना था। और अकेली ताई जी क्या? बाकी सारे सदस्यों का भी यही मत था। " [1]

---

[1] पीली आधी पृ 219

स्त्री घर की मुखिया हो सकती है, इसे प्रभा जी ने अपने उपन्यास में अच्छी तरह दिखाया है।

इसी प्रकार 'इदन्नमम्' में बऊ अपनी बहू को परिवार की मर्यादा तोड़ने पर माफ नहीं कर पाती हैं। उनकी बहू प्रेम विधवा होने के कुछ दिनों बाद अपने जीजा रतन यादव के साथ भाग जाती है। बऊ इसका विरोध करती है और विरोध की भावना इतनी तीव्र होती है कि वह 'भत्सर्ना में बदल जाती है। वह उसे 'रण्डी', 'ठगिनी', 'छिनार', और न जाने क्या–क्या उपाधियॉ देती है। उनकी दृष्टि में स्त्री का एकमात्र कर्तव्य एवं आदर्श है पति के घर की मर्यादा की रक्षा, भले ही पति की मृत्यु क्यो न हो जाये। विधवा के लिए उनकी दृष्टि में अपने पति के घर में तपस्विनी की भॉति बने रहने के अतिरिक्त और कोई विकल्प (दूसरी शादी) हो ही नही सकता। इसलिए अपनी बहू की भर्त्सना करती हुई कहती हैं– "ज्वानी का जोस नहीं डाट पाई सो धर लिया बेड़िनी का किसब, तज गयी आदमी की देहरी, अब सात जनम धर लें तबहूँ नहीं हो सकती महेन्दर की चौखट जोग।" [1]

देहरी, परिवार की आन तोडने वाली ऐसी, 'बेमरजाद' बहू को अपराधिन मानती है और अन्त तक माफ नहीं करती। बऊ निःसंदेह भारतीय समाज में दो पीढ़ी पूर्व की नारी समुदाय की प्रतिनिधि हैं। जिनमें पुरूष सत्ता द्वारा नारी शोषण के लिए बनाये गये सारे उपकरण एवं हथकण्डे, संस्कार विचार आदर्श रूप में विद्यमान हैं। वे परिवार के आन को ठेस नही पहुॅचा सकती हैं। उनका आदर्श है कि इस घर में डोली आई है, अब अर्थी ही निकलेगी आधुनिक स्त्री इसका विरोध करती है तभी तो मन्दा को समझाते हुए कहती है– "रॉड विधवा तो हम भी हुए थे बेटा!

---

[1] इदन्नमम् पृ 60

ओर चढती उमर में हुए थे। जना के लाने आसनाई करने वालो की कमी नही होती। पर हम जानते थे कि ऊँच –नीच। ....अरे, ऐन वे मीत हमें जान–परान से चाउते, धरती आकाश जोरते तो भी हम टीकमगढ़ रियासत के मंसबदार और मरजाद में दाग न लगने देते।...........सो विटिया, गद्दर उमर का हींसा देह के तकाजे जरा डाटे जई देहरी के होम कुंड में।.. ....अब तें ही बता कैसे छुटैली कर देवें अपनी जज्ञसाला कों।"[1]

दो पीढी पूर्व स्त्रियॉ परिवार को तप स्थली और यज्ञशाला मानती है। और परिवार की मान मर्यादा के लिए मिट जाना ही अपना उद्देश्य । जब कि अब स्थिति बदल चुकी है। आधुनिक स्त्री की प्रतीक प्रेम जब देखती है कि पति के वगैर उसका भविष्य असुरक्षित है तथा सुख सुविधा से जीने की लालसा के चलते ही विधवा होने के कुछ दिनों बाद अपने जीजा के साथ रहने लगती है, हलॉकि चुनाव गलत ही सावित होता है।

परिवार में औरत अकेली होती गयी है इसका बड़ा कारण एक हद तक पुरूष का अहं है। यह भी कहा जा सकता है कि वह उलझन की स्थिति में है। जिस पारम्परिक ढॉचे के भीतर वह अपनी पत्नी अपनी वेटी की भूमिका को ऑकता है, वहॉ से वक्त बहुत आगें चला गया है। इसलिए उसे कुछ खोने का एहसास हो रहा है। आर्थिक सत्ता के साथ–साथ तमाम दूसरे पारिवारिक निर्णयो और औरत के पूरे अस्तित्व पर अभी हाल तक पुरूष का नियन्त्रण था। अतः अपनी सत्ता को पहचान कर उठ खड़ी इस औरत से पुरूष निकटता महसूस नहीं कर पा रहा है। यही अलगॉव उसे औरत की मदद् भी नही करने देता। उसे लगता है कि यह

---

[1] वही पृ. 288

वदली हुई औरत अपनी बुनियादी जिम्मेदारियों से इनकार कर रही है जब कि हुआ यह कि उसने कुछ जयाद ही उत्तरदायित्व ओढ़ लिये हैं। लेकिन पुरूष उस समस्या को स्त्री के कर्तव्यों और अपनी उम्मीदों के परिप्रेक्ष्य में देख रहा है और औरत के मानसिक अंतर्द्वद्व को नहीं समझ पा रहा है। खुद औरत अपनी इस नई स्थिति के कार्य कारण सम्बन्ध स्थापित नही कर पा रही है। इसलिए वह निरन्तर मानसिक तनाव झेलती है। इस तरह का अपराध बोध उस पर हावी रहता है।

तमाम विरोधी परिस्थितियों के बीच खड़े होना और अपनी जगह बनाना आसान नही है औरत के लिए तो यह संघर्ष दोहरा संघर्ष है। किसी भी सामान्य व्यक्ति की लडाई तो उसकी है ही औरत होनें की वजह से एक दूसरे स्तर पर ही उसे निरन्तर मोर्चाबद्ध रहना होता है। इन दोनों मोर्चो पर सतर्कता से डटे रहने के लिए चाहिए ज्यादा तर्क संगत दृष्टिकोण सुलझा हुआ व्यक्तित्व तथा कुछ अन्य मानसिक और शारीरिक क्षमताए भी। जिससे वह परिवार समाज में अपना अलग स्थान बना सके।

स्त्री के इस विशिष्ठ पारीवारिक योगदान को यों पहचान रहित छोड़ देना तथा परिवार को केवल पुरूष कर्ता द्वारा निर्धारित एकल सामाजिक सम्बन्ध के रूप मे स्थापित करना स्त्री के साथ अन्याय है।

सम्बन्धों के प्रति दृष्टिकोण

असूर्यपश्या वह औरत जिसका चेहरा परिवार के पुरूष सदस्य भी कम ही देख जाते थे, घर की देहरी, लॉघ कर जब वह 'वाहर' की दुनिया में आयी तो पुरूष से उसके सम्पर्क को नये आयाम मिले। ये सम्बन्ध पहले के उन सम्बन्धों से बहुत अलग है,जहॉ मॉ, पत्नि, बहु, बेटी और भाभी जैसे रिश्तों से वह पुरूष से जुड़ी थी। अब वह एक व्यक्ति के तौर पर पुरूष के सम्पर्क में आयी है।

घर से बाहर चले आने का अर्थ ही है ज्यादा से ज्यादा लोगों के सम्पर्क में आना। सकूल कालेज, दफ्तर, सड़क, बस और तमाम दूसरी सार्वजनिक जगहों पर अब तक पुरूष का एकाधिकार रहा है। उस एकाधिकार के टूटने से पुरूष हड़बड़ाया भी है, दूसरी तरफ उसने बाहर आयी इस औरत को स्वीकार करने की कोशिश भी की है।

निश्चय ही यह औरत की उपलब्धि है। साथ ही यह भी रेखांकित करना जरूरी हैं कि स्त्री का यह संघर्ष पुरूष के खिलाफ संघर्ष नही है उसके साथ एक बराबर के व्यक्ति के तौर पर सम्बन्ध बनाने का प्रयास है। वस्तुतः यह संघर्ष पुरूष के नहीं स्थिति के खिलाफ है, इसलिए अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की स्वीकृति की अपेक्षा पुरूष से उसे हमेशा बनी रहती है। आज इन बदली हुई परिस्थितियो में पुरूष और स्त्री के सम्बन्ध ज्यादा उलझे हुए नजर आते हैं। इसलिए औरत कहीं ज्यादा अकेली पड़ गयी है। परिस्थितियों के खिलाफ इस संघर्ष में पुरूष अपने पूर्वग्रहों के कारण उसके साथ खडा नही हो पाता, बल्कि उसके संघर्ष को और मुश्किल बना देता है।

प्रिया, जिसको सारे सम्बन्धों से कडवाहट सी मिली, वह सिर्फ दाई मॉ को अपना मानती है उन्हीं से सारी बात कहती है। उसी दाई मॉ से ही प्रिया को मॉ का प्यार मिलता है अन्यथा वह उससे भी बंचित हो

जाती माँ को सदैव उसने बीमार ही देखा था या फिर अपने ऊपर क्रोध करते हुए– "और अम्मा के क्रोध का शिकार छोटे भैया और मै सबसे अधिक होते। कभी मुझे लगता–स्त्री होना अम्मा की नजर मे पाप है, एक हीन स्थिति है, गुलामों का जत्था है जो विना मालिक के जी नही पायेगा। एक मालिक असमय चले गये। सिहासन खाली था। युवराज, बड़े भैया को युवराज के रूप में ही सबके सामने रखा था। अम्मा को मेरा चेहरा, मेरे लंबे–लबे बाल, मेरा बढ़ता हुआ कद, शरीर का उभार और दसवॉ लगते ही पीरियड्स का शुरू हो जाना।" [1] पलते और बढ़ते हुए सिर्फ बाबूजी –पिता –ही थे जो उसे वट वृक्ष जैसे लगते थे।

प्रिया का अपना दाम्पत्य जीवन सुखी नही है। वह हर पुरूष में बाबू जी को देखना चाहती है उसे अपने औरतपन से चिढ़ है। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया है कि मुझे लड़की ही बने रहना है औरत नहीं बनना है। लेकिन अगले ही क्षण सोचती विचारती है, सदियों की इस अमानवीय परम्परा को किस बीमारी का नाम दूँ जहॉ मेरी जैसी विद्रोह लड़कियॉ भी समर्पित पत्नी और मॉ बन जाने को विवश होतीं है। बड़े भाई द्वारा बचपन में यौन–शोषण के दहशत भरी स्मृतियों, अंधेरी सुरंगों में दिन–रात दर्द का बोझ लिए दौड़ती रही हैं। घर और बाहर पुरूषों का रूग्ण देखते सहते प्रिया फेसला करती है, 'नही', मैं औरत नही बनना चाहती मैं कभी किसी से प्रेम नही करूगीं, कभी शादी नहीं ।

ऐसी ही सोच के कारण वह नरेन्द्र के साथ समझौता नहीं कर पाती , अपना सारा ध्यान वह अपने व्यवसाय में लगाती है, जिसके कारण नरेन्द्र अपनी अवहेलना समझ कर बहस करता है–

---

[1] छिन्नमस्ता गहरी असुरक्षा और उपेक्षा के बीच पृ44

"यही तो मैं पूछ रहा हूँ कि तुम क्यो इतनी मशीन होती जा रही हो? व्यक्तित्व में जरा भी रस नहीं। जरा–सा शरीर पर हाथ लगाओं तो ऐसे बिदकती हो मानो बिजली का करंट छू गया। एकदम ....फिजिड..... ....होपलेस। तुमने कहा था. नरेन्द्र मै। घर में हर वक्त रहीं तो पागल हो जाऊगीं"

" हॉ कहा तो था।"

"फिर अब क्या हुआ? कहॉ गये वे सब वायदे? "

"नरेन्द! वायदो पर क्या तुम भी चले? क्या कौन चल पाता है? हम सभी तो अपनी–अपनी सुविधानुसार वायदों को तोड़ते मरोड़ते रहते हैं"

"यानी आपसी , इमानदारी , वफादारी , प्यार , समर्पण .....यह सब कुछ नहीं?"[1]

प्रिया कहती है, यह सब भ्रम है और औरत को यह सब इसलिए सिखाया जाता है कि वह इस शब्द चक्रव्यूह से कभी निकल न पाये और अपनी आहुति देती रहे।

बेलग्रेड में एक वृद्ध दम्पति को देखकर प्रिया को लगता है कि प्रेम की कोई सीमा नही है। उस सुखी और भावात्मक दृष्टि से समृद्ध जोड़े को देखकर उसे अपने दाम्पत्य सम्बन्धों का स्मरण हो आता है–

"मैनें दुःख झेला है। पीड़ा और त्रासदी में झुलसी हूँ। जिस दिन मैनें त्रासदी को ही अपने होने की शर्त समझ लिया, उसी दिन उस उस स्वीकृत के बाद, मैने, खुद को एक बड़ी गैर जरूरी लड़ाई से बचा लिया। कुछ के प्रति यह मेरा समर्पण था। सारे जुल्मों के सामने सलीब

---

[1] छिन्नमस्ता पृ स 12

पर लटकते मैंने पाया कि अब पूरी तरह जिंदगी की चुनौतियों का सामना करने लिए तैयार हूँ। "[1]

'पीली ऑधी' मे तो स्त्री–पुरूष सम्बन्ध को लेकर अधिक बहस की गयी है। पुरूष के बर्चस्व को तोड़नो और स्त्री को अस्तित्व दिलाने की हिमायत की गयी है। स्त्री पुरूष के बारे मे बराबर सोचती रहे और पुरूष उसे भूख मिटाने का माध्यम मानता रहा , ऐसा कब तक चलेगा? इस बात पर प्रभा खेतना ने कई बार विचार किया है तभी तो 'पीली ऑधी' की सोमा पुरुष के इस बर्चस्व पर प्रहार करती हुई अपने पौरूष–विहीन पति से मुक्ति पाना चाहती है। इसीलिए वह दूसरे पुरूष से सम्बन्ध बनाती है। आज की स्त्री किसी भी सम्बन्ध को ढोने में विश्वास नहीं रखती है। लेखिका ने सोमा के माध्यम से यही बात दर्शायी है– "सोमा रामझ रही थी कि, वह सुजीत के साथ काफी दूर चली आयी है। घर ऑगन की सीमा के पार और अब वापस बंदीगृह में लौटना सम्भव नहीं। सुजीत को छोडना या उसके बगैर जिदगी जीना असम्भव तो नही मगर मुश्किल जरूर है। गौतम? उसके साथ विताये गये क्षण। क्या कहा जाये गौतम की हरकतों के बारे में, जहॉ न कभी कोई कोमलता मिली और न जीवन का एहसास। गौतम अपनी भूख जो कभी– कभी जगती थी और उस इच्छा की सन्तुष्टि भी केवल गौतम की अपनी सन्तुष्टि थी। गौतम प्रेमी न ही मालिक था। सन्तुष्टि के लिए सोमा का उपयोग करने वाला। और शायद इसीलिए सोमा गौतम को भूलना चाहती थी, जिसको उसने केवल झेला या, सहन किया था, मगर जिसको कभी जीया नही था।" [2]

---

[1] वही पृ10
[2] पीली ऑधी पृ 249
2 छिन्नमस्ता पृ189

स्त्री और पुरूष का सम्बन्ध कभी सामान्य व्यक्ति का नही हो सकता , क्योकि पुरूष सदैव स्त्री को अपने से नीचा समझता है। इसी को लेखिका ने 'छिन्नमस्ता' मे प्रिया से कहलाया है –"यानी स्त्री–पुरूष का सम्बन्ध वही मालिक और गुलाम का? भोक्ता और भोज्या का ? व्यक्ति और वस्तु का ? कब तक यह द्वंद्व चलेगा? "

तभी तो प्रिया के अपने अस्तित्व के सामने जो सम्बन्ध संकट पैदा करते है उसे वह तोडने को तैयार है यहाँ तक कि अपना इकलौता बेटा भी छोड देती है , हर समझौता करके हार जाने के बाद यह निर्णय लेती है–

"बौखलाओ नही। जो मैने कहा है ....आई मीन इट........ और सुनो नरेन्द्र। मुझे दो महीने का वक्त दो, मै तुम्हारा आफिस, घर तुम्हारे दिये हुए गहने कपडे, हॉ, और संजू को भी, सब छोड़ दूँगी, सब।"[1]

अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने के बाद भी कहीं उसके अन्दर कच्चा घाव था, जो इतनी सफलता पाने के बाद भी रिसता रहता है, वह कभी भी अपने बाबू जी को नही भूल पाती है– "मैं बासी रोटी का टुकड़ा हूँ कि जिन्हें मैने अपना समझा था, वही अपने नही रहे। एक वक्त ऐसा भी आया जब समाज की हर नजर सलीब की ओर थी। वे चाहते थे कि ऐसी घरफोड औरत को सजा मिलनी चाहिये, क्योकि कही न कहीं उन्हें मेरी सफलताओ से भय था। शायद वे मठाधीश सोचते हो कि एक औरत लडकर कुछ हासिल कर लेती है तो दूसरी औरतें भी उन्हीं रास्तो पर चलेगीं। और तमाम बातें शब्दों से ही नही कही जाती थी। बहुत कुछ

---

[1] छिन्नमस्ता पृ 177

लोगो के हाव–भाव से मै समझ जाती थी। " आगे कहती है –" नरेन्द्र के भीतर एक छिपी हुई मिडियोकिटी थी स्वभाव से वह किसी पर विश्वास नही करने वाला , पर वैसा क्यों बना? पापा तो ऐसे नही थे। खैर , मुझे क्या करना? मुझे इस निषेधक सीमावद्धता से परे होना था।" [1]

दरअसल स्त्री विमर्श के अन्तर्विरोधों से प्रभा खेतान का पूरा परिचय रहा है। स्त्री पुरूष के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्वरूपों से उनका साक्षात्कार हुआ है। उनका मानना है कि स्त्री पुरूष सम्बन्धों को लेकर उपलब्धि का हिस्सा पुरूष के खातें मे और जिम्मेदारी का हिस्सा स्त्री के खाते में जाता रहा है। मगर वे यह भी मानती है कि कोई समाज पुरूष प्रधान क्यो न रहा हो किन्तु सारा दोष उसका नहीं। स्त्रियॉ भी कम दोषी नहीं रही है। पुरूष और स्त्री की बराबरी के लिए सघर्ष करनें वाली प्रभा खेतान एक पक्षीय चितन में ही अपनी प्रखरता नहीं दिखलाती, अपितु उभयपक्षीय दृष्टिकोण की स्पष्टता भी सामने रखती है। अपने एक लेख में उन्होंने ऐसा ही सोचते हुए लिखा है– " तब क्या सारा दोष पुरूष का है? स्त्री का कोई दोष नही? क्या वह इतनी मासूम है? मैं यह मानती हूँ कि यह व्यवस्था हम स्त्रियों ने नही बनाई है, लेकिन सच यह भी तो है कि अधिकांश पुरूषों को भी इस व्यवस्था के बारे में अपनी कोई भागीदारी नही है।" [1]

सोमा नारी मुक्ति की पक्षधर है। विवाह सम्बन्ध को वह बन्धन के रूप में स्वीकारती है , जीवन सुख के रूप मे नही। नारी का तो जीवन सुख अभीप्सित प्रेम सम्बन्ध है। इसलिए विवाह सम्बन्ध की पुनर्व्याख्या करती हुई वह कहती है –" क्या यह जरूरी हैं कि कोई किसी को ताउम्र प्यार करता रहे। विकास की यात्रा में, जीवन के कालखंण्ड में कभी स्त्री

---

[1] छिन्नमस्ता पृ 206

तो कभी पुरूष का स्वभाव , उसका मूल्यबोध, जीवन दृष्टि बदल भी तो सकता है। और जब कोई बदल जाता है, जब बची रहती है जड़ता। क्या इसी को वैवाहिक सम्बन्ध कहा जाय? शायद कह सकते हो। मगर सुजीत यह प्रेम तो नही।"[2]

विवाह को एक संस्था मात्र मानने वाली सोमा प्यार या प्रेम को उससे अधिक सरस जीवन दर्शन मानती है। तभी तो सुजीत के भीतर के द्वन्द्व और अपने अडिग निर्णय का उदघाटन करती हुई दार्शनिक मुद्रा मे कहती है– " सुजीत मैंनें इस सबाल पर घंटो सोचा है। मैने सात फेरे अग्नि के चारो तरफ लिए थे। मैं जलती हुई उस अग्नि को देख रही थी। मैं पवित्र थी। सुजीत, बिल्कुल पवित्र। गठवंधन के समय मैंने यही सोचा था कि यह जो भी है , जैसा भी है , मेरा पति है। पति पत्नी के सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर के होते है, लेकिन सुजीत परम्परा भी तो वहीं ज्यादा गूँजती है, जहॉ जिन्दगी खण्डहर होती है। एक भरी पुरी जिन्दगी में समय कहा रहता है कि इन सारे विवादो में उलझा जायें? परम्परा पर बहस तो बस सोच है। एक स्टेट आफ माइंड । प्यार इससे ज्यादा गहरा है। मन पर बस नहीं रहता लेकिन शरीर ? शरीर बहुत कुछ ऐसा चाहता है जिससे मैं तुम्हारें सामने कहने में हिचकती हूँ। "[3]

सोमा निर्बन्ध नारी चरित्र है, पर यह निर्बन्धता उच्च्य श्रृखलता नही है। अपने वर्तमान और भविष्य के प्रति सचेत निर्बन्धता है। वह प्रेम को ज्यादा सरस सम्बन्ध मानती है।

मन्दाकिनी अपने गॉव सोनपुरा में बालसंगिनी सुगना और स्यामली में कुसुमा भाभी से अन्तरग रूप से जुड़ी रहती है। कुसुमा का

---

[1] स्त्री विमर्श के अन्तर्विरोध , लेख , प्रभाखेतान, हस सितम्बर 96 , पृ 57
[2] पीली ऑधी पृ 245
[3] छिन्नमस्ता पीली ऑधी पृ 245

चरित्र आत्म निर्णय और दृढ संकल्पों से निर्मित नारी चरित्र है। इन्ही विशेषताओं के कारण ही वह (दाऊजू) अमर सिंह से प्रेम सम्बन्ध बना पाती है और उस प्रेम के फलस्वरूप प्राप्त संतान पर गर्व भी करती है। और यह सब उसके पति के ऑखों के सामने होता है।

मैत्रेयी पुष्पा ने बीसवीं सदी के हिन्दी लेखन के अवलत्व और उसकी निरीहता को अंधस्वीकार और वेशर्त समर्पण को नकारते हुए राष्ट्र कवि और प्रसाद को काफी पीछे छोड दिया है। यहाँ वह सम्बन्धों का नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। कुसुम और दाऊजू (अमर सिंह) के अनैतिक सम्बन्धो के प्रसंग में मानसकार की बहुपरिचित पंक्तियों – " अनुजवधू भगिनी ,सुत नारी। सुनिसठ ,कन्या सम ये चारी। से भिड़ते और टकराते हुए जिस तरह के तर्क मंदा और कुसुमा के बहाने दिये है। उससे सम्बन्धों की एक नयी व्याख्या सामने आती है,–

"कुसुमा ने ही बीच में ही रोक दिया–"विन्नू हमें एक बात समझाओं अरथाओं कि ये रिस्ते–नाते, सम्बन्ध और मरजाद किसने बनाई? किसे सिरजी है बन्धनों की रीत? जो नाम लेती हो उनने ? मनुब्यास ने? रिसियों मुनियों ने देवताओं की राच्छसो ने?"

"मन्दाकिनी पढ़ना रूककर भाभी को गौर से देखने लगी। क्या उत्तर दें इन सवालों का? " भाभी ये रीति–रिवाज तो उन्होंने ही बनाये है, जिननें ये किताबें लिखीं है।"

'गलत बनाई है मन्दा! एकदम पच्छपात से रची है।"

"बताओ तो अग्नि साच्छी घर के गॉठ बॉधने का क्या मतलब?

"पति और पत्नी को साथी–सहचर कहें तो विरथा है कि नही?

"कितेक उलटा है बिन्नू , बेअरथ! यह सम्बन्ध बड़ा

थोथा है।

" लो एक खूँटें से बधा पागुर , दूसरा सरग में उड़ता पंछी।"

ढोर और पंछी सहचर नही हो सकते मदा ...."[1]

मन्दा अपने प्रेम की स्मृति में ही जीवन बिता देती है। सामाजिक सरोकारों से सम्बद्ध मन्दा से दूर एक और मन्दा है– प्रेमिका मन्दा। मन्दा का प्रेम सच्चा है और यही सम्बन्ध उसे जीवित रखता है। उसे एक क्षण के लिए भी मकरन्द नही भूलते। मकरन्द की चिठ्ठी आने पर वह स्वगतालाप करती हुई सी कहती है, "तुम्हारी 'बेचैनी, तुम्हारा प्यार ही जीवित रखे है मुझे। जीवन के अंधेरों मे उजली लकीर की तरह प्रकाशमान हो तुम। निपट अकेली के साथ–साथ रहते हो, हर पल, हर स्थान पर।" [2]

रामधारी सिह दिवाकर कहते है– " मकरन्द के प्रति एक आत्म आकर्षण का ही एक पक्ष है, डा0 इन्द्रनील मे बार–बार मकरंद की छाया का विभ्रम ।" [3]

मन्दा अपनी उत्पीड़ित अम्मा को लेकर जैसी जिरह अपनी बऊ से करती है, वह बहस एक स्त्री के सन्दर्भ में एक सामाजिक और सास्कृतिक दृष्टिकोण से और उदारता की मॉग करती है। साथ ही यह भी संकेत करती है कि यदि स्त्री के सम्बन्ध स्त्री से मधुर रहें, ईर्ष्या की भावना न रहे तो भी स्त्री की दशा सुधर सकती है। बहु परम्परागत पुराने ख्यालो वाली है तो मन्दा स्त्री की ऐतिहासिक यातना, सनातन निर्वासन

---

[1] इदन्नमम पृ 83

[2] इदन्नमम पृ 238

[3] इदन्नमम. ऑचलिक सन्दर्भो मे उभरती नारी चेतना का आख्यान, रामधारी सिह दिवाकर 'हस' अगस्त 94 पृ स 87

और पुरूष दिमाग की सांस्कृतिक चालाकियो और सामाजिक बदमाशियों की पीड़ा और ब्यथा से भरी–भरी और सचेत! उसमें अपार सहानुभूति और अपार करूणा है। अपने माँ से मिलने जाती है। और उसे दुदर्शाग्रस्त देख मंदा की अंतरंग प्रतिकिया अत्यन्त विघलनकारी है –"मै तो खड़ी–खड़ी जड हो गयी। पथरा गये होंठ। जीभ पर लकवा मार गया। शरीर भी सुन्न.......................वोलना चाहती हूँ मगर क्या बोलू? क्या कहूँ तुमसे ? कैसे ऊवारूँ तुम्हें? मंदा का यह आखिरी वाक्य केवल अपनी माँ के लिए नहीं, समुची स्त्री जाति के लिए है।

अन्तिम दशक की लेखिकाओं ने अपने कथा साहित्य में स्त्री पुरूष के सम्बन्धो को नये रूप में प्रस्तुत किया है। लगभग हर स्त्री का विवाह सस्था के बाहर पर पुरूष से सम्बद्ध है। चाहे वह छिन्नमस्ता की प्रिया हो या 'पीली ऑधी' की सोमा। इसी प्रकार 'चाक' में सारंग भी मास्टर श्रीधर से प्रेम करती है, वह कहती है –"मेरा मन जिद्दी है श्रीधर! कहता है जिस मर्द के साथ मेरे पिता ने विदा कर दिया, उस मालिक से वापस मॉग लो अपनी देह।" कहने का अर्थ यह है कि 'मन और देह दोनों एक साथ रहें।'

व्यक्तिगत स्तर पर रेशम की हत्या से प्रतिशोध की आग में सुलगती हुई , ग्रामीण समाज के मूल्य रहित बर्चस्ववाद के आतंक से क्षुब्ध बेटे चन्दन की सुरक्षा के लिए चिन्तित सारंग को शिक्षित पति रजीत ने भरपूर आश्वासन दिया था कि वह सारंग की लडाई लड़ेगा। परन्तु पुरूष सत्ता किसी भी स्त्री को अपने से आगे नही देख सकता, जिस दिन रजीत को अपने जाति मर्यादा की क्षति की आशंका हुई वह सारंग को उसकी औकात समझाने लगा। चन्दन की चिन्ता ही उसे श्रीधर के नजदीक नही ले गयी थी। श्रीधर को पाकर वह 'फूलों की डाल सी झूम

उठती है वह।" श्रीधर के रूप में एक निर्भय साहसी, दिलेर योद्धा की छवि है, जिसकी वह गुलाम होती जा रही है।

रजीत के अपने अतर्विरोध है । कभी वह सारंग जैसी पत्नी की गरिमा, साहस, समझ पर खुश होते है। कभी अपनी प्रतिष्ठा के प्रलोभन में सारंग की हदें तय करते है। धमकियॉ देते है, प्रताड़ित करते है। सारंग अनुभव करती है कि पर पुरूष 'वर्जित फल' है पर वह अपने पवित्र करवा चौथ मे रंजीत श्रीधर को एक साथ स्थापित देखना चाहती है।

सामाजिक बदलाव और मुक्ति के पक्ष मे लडते हुए जब श्रीधर पर आकमण हुआ और एक विशेष क्षण में जब सारंग सब वर्जनाएं तोड़कर श्रीधर के प्रति समर्पित हुई तो प्रणय व्यापार का यह सम्बन्ध नयी यौन नैतिकता का दर्शन बना। मैत्रेयी ने इस दर्शन की व्याख्या की है–

"सारंग के मन और देह में दर्द की लहर दौड़ गयी।...... मुझे तो पाप नही लगा अपना किया। जो किया सोच समझ कर किया। श्रीधर के उपर अहसान भी नही किया मैनें। नहीं किया। वे घायल, टूटे विखरे से....... ऐसे ही जैसे चन्दन या नया जन्मा। छोटा सा अवश अबोध। दूध भी नही चकोर पाता था निर्वल। अपनी छातियॉ मसलकर दूध की बूंदे जुटायी थी........उसके होठों पर चुआ दी, कि तालू चटके नही। श्रीधर ऐसे ही तो लगे थे।'

कलावती चाची ......तुम्हारा अक्स रह गया मेरे भीतर ? तुम्हारे बोलो ने खीच लिया इस राह पर..........हम जाटिनी जेब में विछिया धरे रहते है, मन आया, ता के पहर लिये!'

इतना सब होने के बावजूद अन्ततः रंजीत और सारंग का दाम्पत्य कायम रह जाता है , और उपन्यास के अन्त मे जिस प्रकार रंजीत किवाड से मुँह लगाकर बैठ जाता है, सुबह की प्रतीक्षा में उससे यही अर्थ

निकलता है कि आगें सारंग का मन और शरीर दोनों रंजीत के साथ रहेगें। यह पुरा प्रसंग यानी रंजीत और सारग का सम्बन्ध तथा सारंग और श्रीधर का प्रेम स्त्री–पुरूष सम्बन्ध के साथ ही समाज में स्त्री के स्थान और सामाजिक परिर्वर्तन में स्त्री की भूमिका पर सोचने की सही दिशा देता है।

पुरूष मात्र के प्रति दृष्टिकोण

स्त्री को उपनिवेश बनाकर रखना पितृक समाज की नैतिक मर्यादा और बर्चस्व से जुड़ा हुआ है। पितृक नैतिकता सदा यही कहती आयी है कि पशु, ढ़ोल, शुद्र, नारी की ताडना अनिवार्य है अर्थात इन पर अपना नियंत्रण बर्चस्व बनाये रखों। जहॉ तक पक्षपातपूर्ण सामाजिक व्यवहार का प्रश्न है, हर शिक्षित, प्रगतिशील समझे जाने वाले लोगों में भी स्त्री को लेकर सामती मानसिकता मौजूद है।

बचपन में बड़े भाई द्वारा यौन शोषण के बारे में चुप्पी और किसी से न कहने की सौगन्ध के साथ प्रिया को लगता है कि यह मेरा कलंक है ।

गहरी असुरक्षा और उपेक्षा के बीच पलते और बढ़ते हुए सिर्फ बाबूजी–पिता जी– ही थे जो उसे वट वृक्ष जैसे लगते थे और उनकी तुलना में, कालेज पहुँचने पर, साथ और सम्पर्क में आये लड़के पिग्मी लगते थे। अपने में डूबे हुए बढने के काण उसका आसाधारण मानसिक विकास भी इसका एक कारण हो सकता हैं।....' मेरे भीतर एक असुरक्षित लडकी थी, जो खिडकी सलाखों से सिर टिकाए अब भी भी अपने बाबू जी के लौटने की राह देख रही थी। बाबू जी मेंरे रक्षक थे। उनका दर्प, उनका पौरूष, उनका आदर्श– मेरे लिए उनका सब कुछ गौरव का विषय था। मैनें पुरूष का निर्मम पक्ष नही देखा था क्योंकि मेरे पिता शाखा–प्रशाखाओं को फैलाए एक वटवृक्ष थे और हर पुरूष मे मैं उन्हे ही खोज रही थी।...... '[1]

घर और बाहर पुरूषों का रूग्ण प्रदर्शन देखते–सहते प्रिया फैसला करती है, 'नही मै औरत नही बनना चाहती। मैं कभी किसी से प्रेम

---

[1] छिन्नमस्ता पृ 54

नही करूगीं। कभी शादी नहीं। सेक्स से घृणा है मुझे, बेहद घृणा। मै ठंडी औरत हूँ ठंडी रहूँगी। पुरूष से बदला लेने का मुझे एक यही तरीका समझ में आया।

बचपन में अपने भाई द्वारा दिया जख्म वह भूल नही पाती , यही कारण है उसे पुरूष से, प्रेम से और सेक्स से घृणा है–

"अरी दइया री, ई का भइल ? ई खून कहा से ? अभई तो दसवॉ वरस लगा है....... अरे भगवान ! हमार विटिया का ई का किए? "

"दाई मॉ! यह अम्मा वाला खून नही है, वह जो हर महीने होता है।"

"तब ? " दाई मॉ की आवाज दहशत मे थी।

"बडे भइया ने तब मुझे ...." [1]

बचपन के हादसे से आहत प्रिया की संवेदना और अनुभूतियों से घृणा में बदलती रहती है–"छिः! मुझे नफरत है इस पुरूष जाति से। नफरत है उससे जो मासूम, छोठी, नादान लड़की को भी नही छोड़ता। अब मुझे समझ मे आता है कि हर समाज में इनसेस्ट प्रेम पर इतना भयानक टैबू क्यों है? क्यों सहज प्रकृति का मृत्यु धर्म इनसेस्ट प्रेम पर लागू होता है। नही तो जन्म से औरत .....असहाय औरत । उसे न पिता छोडता है न भाई! अपनी नारी देह में स्वंय क्षत–विक्षत होकर रह जाती है। वह कभी किसी पराए पुरूष को प्यार नही कर पाती और न ही सृजन के सबसे सुन्दर रूप किसी और के बीज की रक्षा अपने गर्भ में कर पाती है। मानव जाति के लिए यह प्रसार जरूरी है। पर क्या समाज स्त्री की

---

[1] छिन्नमस्ता पृ .17–18

रक्षा करता है? क्या पुरूष भी कामुक हवस का शिकार होने से मासूम लड़किया बच जाती है।"[1]

कालेज में पढते समय कोई भी पुरूष उसकी ऑखों मे उतर नही पाया। कारण उसे अपने औरतपन से चिढ़ थी। लेकिन आगे ही– " लेकिन सच में अच्छा लगा था एक युवा शरीर का आलिगन, उत्तेजित गर्म सॉसें गहरे चुम्बन, शरीर में होती हुई मीठी सिहरन। घर पहुँचते हुए रात के नौ बज गये, बहुत डॅाट पड़ी......मै एक आजीबोगरीब नशे में मदमस्त थी मेरा पोर–पोर कसमसा रहा था। एक मीठी पीड़ा। रात सपनों मे बीती। "

परन्तु अगली सुबह अपने शरीर का यौ अवश हो जाना भी उसे अच्छा नही लगा था, क्योंकि उसे न प्रेम करना है न शादी। उसे पुरूष की आवश्यकता अपने जीवन में लगती ही नही है। तभी तो वर्षो बाद लन्दन मे सेटिल हो चुका असीम उसे एक यात्रा में मिला था। उसकी पत्नी होनें पर भी उसने अपने लिए उसकी ऑखों मे वही परिचित प्यास देखी थी–

"उन ऑखो मे फिर वही पुरानी प्यास ठहरी हुई नजर आयी और इतने वर्षो बाद उस दिन फिर मैनें औरत का वह पक्ष नकारा जिसको लेकर मैं बार–बार ठगी जाती रही हूँ कह नहीं सकी की असीम तुम भी शादी शुदा हो, तुम मुझे क्या दे दोगे ? और मेरे पास बचा ही क्या है ? बहुत रो चुकी हूँ। प्रेम करके उस पुरूष के लिए आधी जिन्दगी रोती रही हूँ। नही असीम , मुझमें अब रोने की हिम्मत नही, क्योंकि मेरी सबसे बड़ी दिक्कत है कि मै भ्रमों में नही जी सकती।"

---

[1] छिन्नमस्ता पृ 119
2 छिन्नमस्ता पृ 109–110

वह पुरूष के भ्रम मे नही आना चाहती क्योकि उसे पता है कि पुरूष से कुछ मिलने वाला नही है। तभी कहती है–सच कहूँ तो पुरूष की कोई भूमिका मुझे अब अपने जीवन मे लगती नही। वह क्या दे देगॉ। मै अहंकार नही कर रही पर आज मैं चाहे जो खर्च करू, मुझे उसका हिसाब नही देना पड़ता.........नीना की शादी की......मेरे अधुरे अरमान उसकी जिन्दगी में पुरे हो। संवेदना, दोस्ती, प्यार यह सब पारस्परिक होते है, मालिक गुलाम पर दया कर सकता है, मगर प्यार नहीं। क्या नरेन्द्र मुझे यह सब करने देता ? उस करोड़पति के घर में मुझे पैसे–पैसे का हिसाब देना पडता था। पेट में दो फुल्के तो समाएगें फिर खाने के लिए इतना ताम–झाम क्यों ? नही, जो हुआ अच्छा हुआ। नरेन्द्र से चोट लगी अच्छा हुआ.......नही तो मै शायद कभी कोई प्रगति कर पाती? और सारे मुखौटो के भीतर.......हॉ, इस्पात में ढलाई किया मुखौटा और उसके भीतर मोम सी पिघलने को तैयार औरत।"[1]

कालेज में ही असीम से प्रेम के बाद प्रिया की जिन्दगी में जो पुरूष आया, वह एक सभ्रान्त का अकेला बेटा और कालेज मे लेक्चचर था जिससे बातें ऑखों में शुरू हुई तो कल्पना के सोलह पंखो पर सवार सपनो की दुनियॉ की सैर करने लगी। पुरूष ने कहा 'मेरे घर चलोगी' और स्त्री हॉ कहकर पीछे–पीछे चल दी। पुरूष ने कहा मै तुमसे प्यार करता हूँ.... ....केवल तुमसे और नायिका के कानों मे शब्द शहद से घुल गये और फिर जो होना था, वह हुआ। देह ने अपना धर्म निभाया, दिमाग ऐसे मे कब काम करता है।

उस दिन प्रिया को न कोई ग्लानि महसूस हुई और न हीं जुगुप्सा। यही नहीं उसे लगा– पुरूष का स्पर्श इतना मादक होता है,

---

1. वही पृ 113

इतना सुखद। वह इतना कमनीय, इतना आकर्षक हो सकता है मुझे पहली बार पता चला। मैं बाईस की उम्र में पूरी औरत बन चुकी थी। वह बत्तीस का अनुभवी पुरूष था। सप्ताह में दो–तीन दिन इसी प्रकार यह खेल छः महीने तक चला।" लेकिन छः महीने तक 'खेल' खेलने–खेलाने के बाद जब पता लगा कि वह शादी–शुदा इंसान है तो चक्कर आने लगे। तब वहीं पुरूष निर्मम, जालिम, पढा–लिखा अमानुष, और प्रेम इतना बड़ा झुठ..........धोखा दिखाई देने लगा–

"मेरे साथ इतना बडा धोखा? क्यों ? किसलिए? मैने तुम्हारा क्या विगाड़ा था? तुम पढ़े–लिखे अमानुष।

वह आगे कहती है–"इस घटना ने मेरे आत्मबल को, विश्वास को एक झटके में तोड कर रख दिया था। अब मुझे पुरूष की जरूरत महसूस हो रही थी अब मुझे किसी की सुरक्षा चाहिये थीं। यह दुनियाँ दरिन्दो से भरी हुई है और जो हम देखते है वही वास्तव में नही होता।"[1]

इस घटना के पहले कभी किसी की ओर नजर नही उठाती थी और अब हिरण सी ऑखे चौकडी भरती रहती। विना शराब जैसे शराबी की हालत होती हैं मेरे भी वस वही हालत थी" स्पष्ट है सेक्स की जरूरत देह की मॉग है। जितनी पुरूष को है। उतनी ही स्त्री को भी। फिर यह कहने का क्या अर्थ है कि "उचित अनुचित के द्वन्द्व मे क्यो पडूं? क्या दुनियॉ ने मेरें साथ इन्साफ किया? "सुरक्षा की तलाश में ही सही क्या देह को हथियार के रूप में और अपने 'ठंडेपन' को पुरूषों से बदला लेने के रूप में सोचती प्रिया ने जो कुछ भी किया उसे उचित और इंसाफ कहा जा सकता है? अगर वह बदले की मानसिकता का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करके अवचेतन मे गहरे बैठे अपराध–बोध और उसके परिणाम

---

[1] वही पृ 222

स्वरूप दूसरो पर लगातार मुकदमा चलाने और अपराधी ठहराते रहने का सच (या आत्म समर्पण) है तो निश्चय ही नायिका स्वंय को तलाश में सफल कही जा सकती है। 'पीली ऑधी' की सोमा यह जानती है कि एक सफल स्त्री को क्या चाहिये। क्या कोई सुन्दर और आकर्षक देह वाला पुरूष किसी पत्नी के लिए योग्य है? क्या अपार धन सम्पदा की गद्‌दी पर बैठा कोई पुरूष किसी स्त्री की कामना का चरम है? आज की स्त्री को सिर्फ यही नही चाहिए अगर वह इतने से ही सन्तुष्ट होती तो फिर सोमा विवाह सस्था के बाहर सम्वन्ध क्यो बनाती।

सोमा का पति है, शेष भरा–पुरा परिवार है। उसके पति के पास अपार संपदा है। उसके परिवार की अपनी शान है। परन्तु स्त्री होने का, पत्नी होने का सुख उसे प्राप्त नही है। एक स्त्री को चाहिये क्या? यही न पति का अक्षयपौरूष और अपनी सन्तति। सोमा को जीवन में दोनों ही आभाव बराबर दहकाते है। उसे एक निर्णय में अपने प्रेमी सुजीत को स्वीकार करना पड़ा, जो उसे सब सन्तोष देने में सक्षम है, पौरूष भी, सन्तान भी।

इसलिए सोमा चली जाती है सुजीत के साथ एक जगह गौतम को कहती है–"ताई जी गौतम जानवर है। उसमे कोई मानवीयता नही।"[2]

परिवार के भीतर–बाहर सुरक्षा और संरक्षण की प्रकिया में औरतें पुरूषों के हाथों जब बार–बार छली जाती है, तो अपने–अपने मनचाहे या उपलब्ध रास्ते खुद चुनती हैं या कोई और रास्ता मिलने तक ही पुरूष के शरण मे रहती है। पुरूष स्त्रियों को सुरक्षा या संरक्षण देता है तो बदलें में स्त्री देह दाव पर लगाती है या उसकी सम्पत्ति।

---

[1]वही पृ .123

[2] पीली ऑधी पृ 267

'कठगुलाब' में विपिन के मॉ–बाप मर चुके है। एक भाई था जो सन्यासी बन गया। विपिन महात्वाकांक्षीं मध्यम वर्ग का आम पुरूष नहीं बल्कि साहित्य, इतिहास, दर्शन, राजनीति, मनोविज्ञान, कानून, वेदपुराण और न जाने क्या–क्या, 'न्यायशास्त्र' पढ़ा लिखा महाज्ञानी विद्वान बुद्विजीवीं है। विपिन 'स्वतंत्र स्त्री' को बहुत सूक्ष्मता से जानता समझता है। इसीलिए सबको अपने तर्क–जाल में बॉध भी पाता है। क्या इसी 'पुरूष छवि' की तलाश में स्वतंत्र स्त्री सोचती कहती है–"शायद हर औरत इस उम्मीद मे जीती है कि कहीं न कही ऐसा मर्द जरूर है, जो उसके परिचित मर्दो से विल्कुल अलग है और उसका फर्ज है कि उसकी तलाश करे।"[1]

अविवाहित असीमा की मॉ द्वारा विना विवाह किये विपिन के साथ रहने के सुझाव के बावजूद दोनों के सम्बन्ध विकसित नही हो पाते। इसका मुख्य कारण असीमा की 'मर्दो से नफरत' भी है और मॉ बनने की उम्र निकल जाना भी। असीमा को मर्दो से नफरत है क्योंकि सब एक से बढ़कर एक 'हरामी' होते हैं। वह सबसे बड़ा हरामी अपने 'बाप और भाई' को मानती है, क्योंकि बाप ने मॉ को छोडकर किसी अन्य औरत को रखैल बना लिया है और भाई सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बन बैठा हैं।

स्मिता जीजा के हाथों बलात्कार का शिकार होती है, लेकिन प्रतिरोध नही कर पाती। प्रतिहिंसा के लिए ताकत और बल जुटाने के लिए अमेरिका जाकर समृद्ध होने का प्रयास करती है। परन्तु यहॉ बलात्कारी जीजा था वहॉ नये मेकप में मनोविज्ञान का डाक्टर जिम–जारविस। वह पति मे पिता की सम्पुर्ण सुरक्षा पाना चाहती है। ऐसे समय में जब पिता की सुरक्षा व्यवस्था भी धीरे–धीरे टूट रही हो और स्वंय

---

[1] छिन्नमस्ता 'कठगुलाब' पृ 172–173

पिता बेटी से बलात्कार के मुकदमे मे अभियुक्त है। डाक्टर जारविस स्मिता की देह ही नही उसका मन, स्मृति, चेतना 'अर्द्ध चेतना' सबको निर्वसन कर रेशा–रेशा भोगता है। परिवार से बाहर आकर मारियान से भी यही सुनने को मिलता है, "मर्द जात को क्या दोष दें, कुतिया तो हमीं है।"

'आवा' में नमिता से प्रेम का स्वांग रचने वाले संजय कनोई को उसकी सुन्दर सुकुमार और पवित्र देह खींचती है जिसके गर्भ में वह अपनी संतान की सपना देखता है। उसके नाटकीय प्रेम का खुलासा स्वंय उसकी बातों से हो जाता है–'मुझे सिर्फ उस लडकी से औलाद चाहिए थी जो पेशेवर न हो.......पवित्र हो, जो मुझसे प्रेम कर सके। सिर्फ मेरे लिए माँ बनें। सिर्फ मुझसे सहवास करे।' कैसी विडम्बना है कि पुरूष स्त्री से विश्वास और समर्पण चाहता है लेकिन बदले में वह उसे देता हैं घृणा और अविश्वास अन्ना साहब की हत्या का समाचार सुन कर गर्भ पात हो जाता है और जब वह यह घटना संजय कनोई को बताती है तो वह इस पर विश्वास करने के लिए विल्कुल तैयार नही होता। 'फोन पर किसी की मौत की खबर सुनकर किसी का बच्चा गिर जाय। कभी संभव है?' पुरूष ने स्वंय को सनातन पवित्रता के आवरण तथा स्त्री को हमेशा संदेह के घेरे में रखा है स्त्री से पवित्रता की माँग करने वाला पुरूष ही प्रलोभन द्वारा अथवा बलपूर्वक उसे अपवित्र भी करता है। किरपू दूसाध, मौसा जी, अन्ना साहब और संजय कनोई अपनी वासना की पूर्ति के लिए स्त्री देह का उपभोग अथवा उसकी कोशिश करते है। नमिता के मौसा का कहना है कि–'अच्छा है वह मुँह सिये रहे। यह भी नही कि उसके साथ ही ऐसो हो रहा हैं, सभी लडकियो के संग यही होता है। बस किसी को किसी के विषय में भनक नहीं लगती। चुप रहेगी तो अनेक फायदे है।' स्त्री पुरूष को एक शोषक के रूप मे सामने पाती है। तभी तो उसे प्रत्येक स्त्री

'रडी', 'व्याभिचारणी' और पेशेवर मालूम होती हैं। अपनी पत्नी निर्मला से घृणा और नमिता से समर्पण की मॉग करने वाले संजय कनोई का यह कहना कि 'शादी मैं तुमसे करूँ, न करूँ........मुझे बाप बनाकर तुम जीवन भर ऐशो–आराम से रह सकती थी........क्यो कि मैं तुम्हारे बगैर नहीं रह सकता 'ढोग' के सिवाय और कुछ नही है।

संजय कनोई निर्मला की अपनी स्वतंत्र पहचान को स्वीकार करने से कतराते है। पुरूष अपने समानान्तर स्त्री की स्वतंत्र पहचान नहीं देखना चाहता वह अपने व्यक्तित्व में उसकी समाहित चाहता है।

संजय में पुरूष का अहंकार और व्यवसायी का छद्म दोनों विद्यमान है। नमिता के गर्भवती होने की खबर सुनकर वे कहते है– " किसके नख–शिख लेगी ? देखो सुन्दर तुम मुझसे अधिक हो, मगर हो वह विल्कुल मेरा प्रतिरूप मेरे खानदान की विरासत ....जिसे देखते ही एकदम से लोग कह पड़ें विल्कुल अपने बाप पर गयी है।' यही पुरूष का यथार्थ है जिसमें एक स्त्री एक माध्यम भर है और पुरूष उस माध्यम का उपयोग करने वाला। लेखिका ने पुरूष की इसी उपयोगी मनोवृत्ति की ओर संकेत किया है।

विभिन्न संस्थानों के विषय में दृष्टि

आमतौर पर जो औरतें घरों की देहरी लॉघकर नौकरी करने बाहर निकलती हैं, उन्हे तमाम दिक्कतों से जूझना पड़ता है। बलात्कार या यौन सम्बन्ध बनाना तो चरम है, उससे पहले छेड़–छाड़ आपत्ति जनक भाषा का इस्तेमाल, अश्लील हरकतें, बेहूदें मजाक से लेकर कुछ भी हो सकता है। वैसे भी पुरूष को अपनी पद–प्रतिष्ठा और गरिमा को अजमानें के लिए औरत की देह से अच्छा और क्या हो सकता है अपने अधिकारो का इससे घिनौना इस्तेमाल और क्या हो सकता है कि अपने अधीन काम करने वाली किसी भी औरत का शोषण किया जाय।

सिर्फ प्राइवेट सस्था ही नही स्कूल कालेज के शिक्षक भी लडकियों को बरगलाने में माहिर होते है। यहॉ तक कि बड़ी कक्षाओ मे जहॉ वयस्क लडकिया रिसर्च या विशेष सत्र मे शामिल होती है, शिक्षको के अनुचित व्यवहार का शिकार बन जाती है। सिर्फ सार्वजनिक या नीजी क्षेत्रों में काम करने वाली औरतो के खिलाफ ही अपराध नही हो रहें है बल्कि सच तो यह है कि जिस भी पुरूष को जहॉ भी मौका मिला वह औरत के 'इस्तेमाल' का प्रयास करता है। वह घर हो, दफ्तर हो, स्कूल कालेज या चलती हुई बस ही क्यों न हो।

यह समस्या एक दो स्त्रीयो की नहीं बल्कि पुरें स्त्री वर्ग की है, उस वर्ग के खिलाफ जिसे औरतो का बराबरी का दर्जा देना ही नामंजूर है। औरत को उसकी क्षमताओं, उसके मेधा या मेहनत के बजाय 'लिंग' के तौर पर देखता है।

यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि एक सामान्य नारी हो, दफ्तरों में काम करने वाली हो, सिर पर बोझ ढोने वाली मजदूर महिला हो, स्कूल कालेज में पढ़ने वाली छात्रा या पढ़ाने वाली अध्यापिका हो या अन्य किसी भी क्षेत्र की महिला हो, पुरूष का रवैया उसकी दृष्टि उसका मानस जैसा होता है, वैसा ही उस क्षेत्र में भी कभी–कभी दिखाई पड़ता है, जिसे 'संस्कृत अथवा साहित्य संसार' कहते है। यहॉ अपेक्षा यह की जाती है कि संस्कृत और साहित्यकर्मी व्यक्ति समाज के अन्य वर्गो की अपेक्षा अधिक संवेदनशील होते है, ये उस सोच और विचार के संवाहक है जिनसे समाज के स्वस्थ मूल्य निर्मित होते है। ये लोग व्यक्ति के सम्मान, उसकी गरिमा और उसकी स्वतंत्रता के पक्षधर ही नहीं, उसके प्रहरी भी है।

किन्तु ऐसा नहीं है। आम औरत को अपने बॉस, अपने मालिक, अपने जीविका प्रदाता और बाजारू लफंगों से अपनी रक्षा करनी पड़ती है,

जिनकी भूखी लोलुप ऑखें एक शिकारी की तरह उसके चारो ओर मडराती है। क्या लेखिकाओ और साहित्य कर्म से जुड़ी महिलाओ को भी उसी प्रकार की घिनौनी स्थितियो को झेलना पढ़ता है? इस सम्बन्ध में अनेक लेखिकाओं के अपने अनुभव न केवल अचंभित और आतंकित करने वाले हैं बल्कि पुरूषों के उन सभी मुलम्मों को उतार देते हैं जिसे वह अपने आपको गौरवान्वित करने के लिए अपने ऊपर चढ़ाये होता है। सम्पादकों, आलोचकों, प्रकाशकों सहयोगी लेखकों द्वारा साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करने को उत्सुक उसमें अपनी प्रतिभा प्रदर्शित करने की आकांक्षी महिलाओं का किस प्रकार शोषण करने का प्रयास होता। सुनीता जैन ने ऐसी रूग्ण मानसिकता पर बड़ी बेवाक टिप्पणी करते हुए लिखा था" पुरूष आलोचकों की शराबी–शामों का सरूर ही व्यर्थ हो जाय, यदि निंदा पुराण में किसी लेखिका को आड़े हाथों न लिया जा रहा हो। या उससे भी आगे चलकर उसके निजी जीवन या उससे अपनी अपेक्षाओं को लेकर सीधे–सीधे निर्वसन न किया जा रहा हो'

यह तो तय है कि सामाजिक समानता और न्याय के लक्ष्य को पाने के लिए असली लड़ाई औरत को ही लड़नी है। ऐसे में 'नमिता' जैसी आत्मनिर्भर बनने की इच्छा रखने वाली स्त्रियों की परिणति पर गंभीरता से विचार करना पड़ेगा। उसे आज के वैश्विक परिदृश्य को देखते हुए यह सोचना होगा कि कहीं वह पुरूष द्वारा संचालित बाजार–व्यवस्था की जकड़ में तो नहीं आ रही है। बाजार उसके सौन्दर्य, उसकी भावना और उसकी रागात्मक वृत्ति का इस्तेमाल करने के लिए तैयार बैठा है। 'आवॉ' इसका प्रमाण है। बाजार का तन्त्र उसे खचाखच भरी ट्रेन में से ढूँढ निकालता है और अपने इस्तेमाल की चीज बनाने के लिए बहुत जतन से रखता है। उसकी कल्पना से परे वेतन और प्राचीन आभूषण कला में महारत हासिल करने के लिए भरपूर सुविधाएं देकर बाजार स्त्री का किस

तरह इस्तेमाल करता है। परिवार की आन्तरिक कलह और आर्थिक तंगी से ऊबकर वह आत्मनिर्भर होने की कोशिश करती है। 'कामगार अधाड़ी' कार्यालय में पिता–तुल्य अन्ना साहब उसके साथ दुर्व्यहार करते हैं। स्त्री कहीं भी सुरक्षित नहीं है। पुरूष की गिद्ध दृष्टि उसके शरीर को तौलती रहती है।

'इदन्नमम्' में शासन की दुर्व्यवस्था पर इस उपन्यास में बहुत ही बारीकी से दृष्टिपात किया गया है। और यह सोच स्थापित की गयी है कि सरकार को अधिकाधिक ध्यान जनता को मूलभूत सुविधायें उपलब्ध करानें पर देना चाहिये।

विन्ध्य 'अचल के गावों का कितना विकास हुआ है, इसका पता तो इन कथनों से ही चल जाता है– "इस अंधेरे को क्या करें कि सड़क के आस–पास के गॉवों में दो–दो स्कूल और अपने दूर–दराजी गॉव मीलों पर एक स्कूल के लिए तरसते हैं" [1]

'इदन्नमम्' की लेखिका भ्रष्ट राजनीति की ओर भी इशारा करती हैं। नेतागण विकास के प्रति सच्चे मन से समर्पित नहीं होते है। वरन् वे तो केवल बोट–बैंक सुदृढ़ करने की युक्तियों में लगे रहते है। इस सच का 'बेवाक' उदघाटन किया है लेखिका ने 'राजा साब' के माध्यम से।

सोनपुरा के अस्पताल में डाक्टर की नियुक्ति के सम्बन्ध में भी राजा साहब लोगों को धोखा दिया। मन्दा के कहने पर डा. (इन्द्रनील) की नियुक्ति तो हो गयी परन्तु जैसे ही 'राजा साब' को बोट की दृष्टि से कोई और गॉव सोनपुरा से अधिक महत्वपूर्ण लगा वैसे ही उन्होंने इन्द्रनील की नियुक्ति वहॉ के अस्पताल में कर दी। राजा सब की इन चालबाजियों का पर्दाफाश करते हुए, लभेरा, भलोटा दोनों गावों के प्रधान मन्दा से

कहते है–"डाक्टर रहेगा, रूकेगा, इसमे हमे शक था मन्दा। काहें से कि जे ही राजा साब हमसे दगा कर चुके हैं। इन्होंने ही पुलिया का एलान किया था।......आनन–फानन में सर्वे हो गया मजूर जुटने लगे।............."पर हमारा दुरभाग तो दस पेड़ आगे चल रहा था। उसी बखत चुनाव हो गया। वोट गिर गया। जीतने वाले जीत गये।.........उसके साथ ही मजूर अलहकार न जाने कहॉ विला गये। ....नाला जस का तस मुँह फाड़े खड़ा था।" [1]

ऐसे भ्रष्ट राजनेताओं के रहते नौकरशाही में भ्रष्टाचार कैसे नही फैलता? सी0 एम0 ओ0 कार्यालय का एक बाबू मन्दा एवं प्रधान जी को बताता है कि कैसे उनकी अर्जी (अस्पताल में डाक्टर की नियुक्ति के सम्बन्ध में) आगे बढ़ेगी–"आप तो चाय–पानी का जुगाड़ बैठाओ, फिर देखों तुम्हारा कागज पतंग की तरह उडता चला जायेगा लखनऊ तक।" और जब प्रधान काका इस बात पर बीस रूपया निकालते हैं तो वह बाबू कोधित हो उठता है,....."भिखारी को दें देना प्रधान जी! सौ का पत्ता लगता है, इस लेबिल पर" [2]

लेखिका की पैनी दृष्टि ने विभिन्न संस्थानो के शोषण, भ्रष्टाचार और अन्याय की व्याप्ति को अच्छी तरह पकडा है। मकरन्द पत्र में मन्दा को बताता है, गॉव में एक तरह का शोषण दोहन तो शहर में दूसरे तरह की पैंतरेबाजी। वह बताता है कि यहॉ कालेज जैसी संस्था में भी 'राजनीति' चलती है। 'प्रोफेसरों की औलाद राज करती हैं यहॉ" डोनेशन वाले मेहनत करने वालों से आगे हो जाते हैं।

---

[1] इदन्नमम् पृ 382–383
[2] वहीं पृ 181

देश की प्रगति की नीव है शिक्षा का प्रसार। जबकि भारत में शिक्षा की स्थिति प्रत्येक दृष्टिकोण से सोचनीय हैं। आज भी भारत मे जहॉ एक ओर 'दूर–दराजी गॉव मीलो पर एक स्कूल के लिए तरसते हैं, तो वहीं जहॉ शिक्षण संस्थायें हैं वहॉ भ्रष्टाचार, अनैतिकता, एवं दुर्व्यवस्था व्याप्त है। कुसुमा बताती है श्यामली के स्कूल की स्थिति "अब तो है एक सराबी–कबावी (हेडमास्टर) नासिया को तन–बदन की ही सूरत नहीं रहती पढ़ायेगा क्या? ....कहें की पढ़ाई–मढ़ाई। नकलकर आये और आन बैठे घरे। एक मोड़ा इन्त्यान को जाता है तो संग में चार नकल करइया।"[1]

ऐसी शिक्षा व्यवस्था देश को को कभी प्रगति के पथ पर अग्रसर नहीं होने देगी

---

[1] वहीं पृ 272

छठा अध्याय

उपन्यासों में स्त्री–विमर्श के निष्कर्ष

इस शताब्दी में स्त्री–विमर्श और दलित–विमर्श दो ऐसे विमर्श उभरे हैं। जो प्रथम दृष्टया सामाजिक विमर्श हैं पर अपनें आन्तरिक स्वरूप में सांस्कृतिक विमर्श भी है जब भी विकास होता है तो कुछ के साथ अन्याय और कुछ के साथ न्याय स्वाभाविक है। सृष्टि किसी गणित के हिसाब से नही चलती पर एक चीज अवश्य है कि शक्ति के गणित का सिलसिला प्रायः अजेय बना रहता है। नारी और दलित जातियों के उत्पीड़न की कहानी सभ्यता के शुंरूआत से ही परिलक्षित होती है, क्यों कि आदमी का स्वभाव शक्ति पाना और शक्ति पाने की कोशिश में वह वर्चस्व का आकांक्षी होता है, और इसमे कमजोर शासित होता है मजबूत शासक। इस बुनियादी प्रवृत्ति ने स्त्री का शोषण का शिकार बनाया। संयुक्त परिवारों में बीस–पच्चीस लोगों के लिए रोटी पकाने की जद्दोजहद से लेकर आर्थिक रूप से स्वतंत्र न होने के कारण वस्तु की तरह प्रयुंक्त होने वाली नारी जाति का अद्यावधि इतिहास सामन्ती युग से लेकर आज के लोकतंत्र तक कमोवेश दोहराया जा रहा है।

नारी सम्बन्धी आचार–विचार में अभी भी मूलभूत अन्तर उपस्थिति नही हुआ हैं लेकिन नारी–सम्बन्धी समस्याओं ने अपनी ओर सभी का ध्यान अवश्य आकर्षित किया है। न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति (स्त्री स्वतन्त्र न रहे अथवा स्त्रियों को स्वतन्त्रता की योग्यता नही है) कहने वाले मनु और 'जिमि सुतंत्र भये विगरहिं नारी' कहने वाले गोस्वामी तुलसीदास के इस देश मे भी नारी स्वतन्त्रता की आवाज बुलन्द हुई है। कहा जाता है कि वैदिक एवं औपनिषदिक काल में भारत में नारियों की स्थिति अत्यन्त सराहनीय रही है। ब्राह्मण काल से उत्तरोत्तर उनकी स्थिति मे ह्रास होता गया।

संवैधानिक एव कानूनी संरक्षण ने भारतीय समाज में स्त्रीयों के लिए अनेक वर्जित क्षेत्रों में प्रवेश को सुगम बनाया है लेकिन साथ ही साथ आये दिन अखवारों मे स्त्रियो की अनेक कारणो से हत्या और उनके दहन, उनके साथ बलात्कार, सामूहिक बलात्कार जैसी घटनाएं भी हो रही है। आधुंनिक समाज ने स्त्री शिक्षा और नारी स्वाधीनता के बहाने स्त्रियों को और भी कठिन परिस्थितियों के बीच ला कर खड़ा कर दिया है और यह स्थिति भारत में ही हो ऐसा नहीं है। स्वतंत्र स्त्री आज भी अपनी वास्तविक जिन्दगी की समस्याओं को कार्य जगत एवं पेशेगत रूचियों के बीच एक द्वन्द झेलती है। उसके लिए इन विकल्पों का सन्तुलन करना कठिन होता है। किसी एक के चुनाव के कारण जो कीमत वह चूकाती है और जो तनाव वह झेलती है, उसके परिणाम स्वरूप उसे दुर्वलता और कमजोरियों का शिकार होना ही पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि गुत्थी सुलझने के बजाय और उलझती जाती है।

उच्चमध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की स्त्रियॉ स्वतन्त्र दिखाई पड़ती है। वोउवार कहती हैं 'उच्च मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की महिलाओं ने अपने वर्ग की स्वार्थो की रक्षा पतियों से अधिक की है। वे अपने सभी भावों, विचारों और वर्गो को त्याग देती है। वे अन्य के विचारों को ग्रहण कर लेती है। पुरूष के थोपे गये विचारो को वे आदर्श मान बैठती है'। मतलब यह कि फिर वहीं 'अन्या' की अन्या 'गौण' की गौण ! वस्तुतः वर्गो में विभक्त समाज में नारी कोई स्वतंत्र समष्टि नहीं है वह भी अपनी वर्गगत आकांक्षाओं और सिमाओं में बधी रहने के कारण स्वतंत्रता की वर्गगत अवधारणा की शिकार होती है।

इसमे दों राय नही कि स्त्री स्वतंत्रता की पहली शर्त है आर्थिक स्वाधीनता। फिर यह आर्थिक स्वाधीनता वेमानी हो जाती है, जब उसके अनुरूप सामाजिक स्वाधीनता स्त्रियों को नही मिलतीं। इस

सामाजिक स्वाधीनता के अभाव में कई बार उसकी आर्थिक स्वाधीनता छलावा ही सिद्ध नही होती बल्कि उसके दोहरे शोषण का कारण भी बनती है।

समाज की मूलभूत ईकाई परिवार है और परिवार विवाह नामक संस्था से बधी इकाई है। विवाह स्वतंत्रता को बाधित करने वाली संस्था है। आज की विवाह संस्था के बारे में स्वंय एंगेल्स से लेकर अत्याधुनिक विचारकों तक ने अनेक तरह की राय व्यक्त की है। 'द सेकेंड सेक्स' की लेखिका ने विवाह को अपनी स्वतंत्रता मे वाधक मानकर विवाह नही किया था। वे कहती भी है कि 'विवाह' अश्लील केवल इस रूप में है कि स्वाभाविक इच्छा पर आधारित आपसी सम्बन्धों को अधिकार और कर्तव्य में बदल देता है। विवाह मानव यान्त्रिक या अपमान जनक रूप देकर दो शरीरो को व्यक्ति रूप नहीं बल्कि साधारण शरीर रूप मानने को बाध्य कर देता है।

इस विवाह संस्था के साथ मातृत्व का सवाल जुडा हुआ है। स्त्री विमर्श में यह बहस का मुद्दा रहा है कि मातृत्व स्त्री की स्वाभाविक वृत्ति है या अपने लाभ के लिए उस पर पुरूषों द्वारा थोपी गयी वृत्ति? वोउंवार अनेक साक्ष्यों के हवाले से कहती है मातृत्व नामक किसी भावना का अस्तित्व नही है।

नारी स्वतन्त्रता के प्रश्न को जब तक सभ्यता के मूलभूत संकटों से जोड़कर नहीं देखा जायेगा तब तक वह अँधेरी गली मे भटकने को विवश है। शिक्षा के प्रचार–प्रसार ने जहाँ समाज के हर एक दबे–कुचले वर्ग के बीच स्वतंत्रता की बलवती आकाक्षां पैदा की है, वही स्वतंत्रता को उत्तरदायित्व के रूप में न ग्रहण किये जाने के कारण आज ऐसे संकट पैदा हो गये है जिससे मनुष्य की सभ्यता का उबरना मुश्किल मालूम पडता है। उपभोक्ता वादी संस्कृत के इस दौर में स्त्री पुनः नयी

सज–धज के साथ भोग्या के रूप में उपस्थित की जा रही है। शिक्षा और उसमें विशेषतः नारी शिक्षा का सवाल वर्तमान भोगवादी सस्कृत का विकल्प खड़ा करने के सवाल से जुड़ा है। जब तक इसका समाधान नही हो जाता सही अर्थो में स्त्री स्वतंत्रता पर विचार करना सम्भव नही हो सकता।

स्त्री समस्या आज भी हमारे सामने भयावहः है। देश की अस्सी प्रतिशत महिलाएं अशिक्षित है। बाल–विवाह, अनमेल विवाह, वाल विधवा परिवारों में सामन्ती अत्याचार, पर्दा मारपीट तथा चारदीवारी तक सीमित रखने जैसे अन्धविश्वास आज भी वैसे है। महानगरों मे जिन पढी लिखी महिलाओं ने नौकरी और व्यवसाय को अपने जीवन का अनिवार्य अंग बनाकर घर की चारदीवारी छोड़ी है, वे वाहर आकर पुरूष मानसिकता को देख रही है, कि उनकी दृष्टि में स्त्री आज भी वैसी यौनरूपा है उसका भोग उनकी जीवन की सार्थकता है। शिक्षा का पहला और आखिरी काम आत्म विश्वास जगाना होना चाहिए–लेकिन यह नही हो पा रहा है। शिक्षित स्त्रियॉ और अधिक डिप्रेशन की शिकार है, घर और बाहर दोनों जगह पिस कर भी वे कोई स्वतन्त्र पहचान नहीं बना पा रही हैं। स्त्री से जुड़ी समस्याओं को महिमा मंदित करने की नहीं बल्कि उन्हें उसके यथार्थ रूप में चित्रित करने की आवश्यकता है। आज लेखन के क्षेत्र मे जिस प्रकार महिलाएं आगे आ रही हैं– उन्हें यह साहस दिखाना चाहिये और अपनी मध्यमवर्गीय दुनिया से बाहर निकलकर बहुजन महिलाओं को नजदीकी से देखना चाहिये।

शदी के अन्तिम वर्ष शिखर पर खड़े होकर देखने से हिन्दी साहित्य के सौ वर्षो मे स्त्री में स्त्री के अस्तित्व का धारदार संकट स्पष्ट दिखाई देता है। स्त्री आजादी की लड़ाई साहित्य ने तटस्थ भाव से स्त्री के हमकदम होकर लड़ी है। जिसका नतीजा है कि स्त्री कमोबेश कुछ

प्रतिशत मे अपने स्त्रीत्व के साथ उपस्थित है। लेकिन पिछले दो दशकों में स्त्री की स्थिति तुलनात्मक दृष्टि से भोग्या के रूप मे अधिक उभर कर आई है। जिसमें महत्वपूर्ण भूमिका मीडिया..... की भी रही है।

महिलाएं पुरूषों के विरोध मे नहीं बल्कि अपने अन्यायपूर्ण अत्याचारी अतीत के विरूद्ध हैं। उन्हें पुरूषों से नहीं पुरूषों के सामंतवादी और पूंजीबादी रवैयें से मुक्ति चाहिये। वे बौद्धिक स्वतन्त्रता की आकांक्षा से भरी बैठी हैं। स्त्री केवल बच्चों को जन्म देने में ही समर्थ नही है, वह स्वंय को भी एक सत्यान्वेषी के रूप में जन्म देने में सक्षम है। वह प्रतिकियावादी ताकतों के खिलाफ है, और अगर इन ताकतों में स्त्री शामिल है तो वह उन समुदाय विशेष के भी विरोध में है। एक स्त्री दमन का विरोध वस्तुतः इसलिए भी करती है कि वह और उसके भीतर 'मॉ' है सृजन की मॉ है। इस अस्तित्व और अस्मिता की रक्षा में वह बौद्धिक आवाज उठा रही है।

स्त्रीत्व, मातृत्व और शील जैसे बड़े–बड़े शब्दों के आडम्बर ने स्त्री को शारीरिक, मानसिक भावनात्मक और आत्मिक बन्धनों मे ऐसा जकड़ रखा है कि अपनी घुटन को चुपचाप पीते रहने के अतिरिक्त उसके पास कभी कोई उपाय नही रहा है। स्त्री मुक्ति की इतनी बातें और आन्दोलन होने के बावजूद भी मनुष्यता का यह आधा हिस्सा अभी भी उसी घुटन में जी रहा है। सिर्फ बराबरी का अधिकार मॉगने या पुरूष जैसा बनने का प्रयास एक प्रतिकिया मात्र है। सैद्धान्तिक स्तर की समानता के बावजूद व्यवहारिक स्तर की समानता का अभाव है। इसलिए अब बुद्धिजीवियो को समानता लाने के लिए दूसरे रास्ते तलाशने होगें जो समानता की ओर जाते हो।

मानवता के इस घोर सकट काल में पुरूष को चाहिये कि वह अपने को पुरूष से पहले एक मनुष्य समझे और स्त्री होने से पहले एक

मनुष्य मानें। समाज का शोषक वर्ग अपनी आवश्यकताओं की तरह ही स्त्री की जरूरतों की मौलिकता को पूरी सवेदना के साथ समझे। मात्र मादा के रूप में उपभोग नही करना चाहिये। स्त्री की गर्दन से ऊपर सजग ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न व्यक्ति के रूप मे देखना और समझना चाहिये।

इक्कीसवीं सदी के द्वार पर खड़ा हमारा समाज एक तरफ जहॉ लड़कियों को बराबरी का दर्जा देने का दावा और बादा कर रहा है। वहीं उन्हें दूसरी ओर जन्म लेने के अधिकार से वंचित भी कर रहा है। समाज में स्त्री के प्रति शोषण और उपेक्षा के रवैये से आतंकित होकर स्त्रियॉ स्वंय अपनी भ्रूण कन्या की हत्या के लिए प्रस्तुत हो जाती है।

स्त्री–विमर्श के सामने सदा से दुविधा रही है कि वह विद्यमान सामाजिक पारिवारिक यथार्थ को स्वीकारते हुऐ उसमें अधिक अधिकार पाने के लिए प्रयत्न करे या लिंगों को, वर्तमान रिश्तों को नकारते हुऐ नये प्रकार के विल्कुल परिवर्तित रिश्तों वाले समाज को स्थापित करने के लिए सक्रिय हो। अब तक स्त्री मुक्ति की कामना इन्हीं दो ध्रुवों से टकराती रही है।

स्त्री आज जो भी है, पुरूष के दमन चक्र के बावजूद है। उसकी पचहत्तर प्रतिशत शक्ति अपने अवरोधों को पिघलाने में व्यय होती है। समाज स्त्री के विकास में अगर सोचता है तो सिर्फ इतना ही वह कैसे कमाऊ हो जाय। स्त्री होने के साथ–साथ वह पूँजी का प्रतीक है या पूँजी का माध्यम। जन्म से मृत्यु तक सारे कर्तव्य स्त्री के कंधो पर हैं। मानवाधिकार से पहले मानव के रूप में अपने अस्तित्व को अपनी जरूरत को खोलकर प्रकट करना होगा तब अधिकार की गुंजाइश होगी।

स्त्री शक्ति है, यह औरत से अधिक बेहतर ढंग से पुरूष जानता है इसीलिए वह अपने द्वारा रची व्यवस्था में या तो स्त्री शक्ति का

उपयोग करता है या दमन, परन्तु आश्चर्य तब होता है जब स्त्री द्वारा मानवाधिकार की गुहार लगाने पर लोग चौंकते है।

स्त्री शक्ति है–सृजन की, श्रम की, संवेदना की। स्त्री शक्ति है पुरूष की। शक्ति का खतरा और शक्ति से खतरा जिन्हे भी महसूस होता है, वह दमन नीति अख्तियार कर लेते हैं। आज की स्त्री स्वरक्षित व सुरक्षित नहीं है। वह कोख में स्थापित होने से लेकर मृत्यु तक विवशता और मजबूरी की जिन्दगी जी रही है। घर से लेकर बाहर तक उसे अपनी इच्छा से शिक्षा, कैरियर यहाँ तक कि जीवन साथी चुनने का भी अधिकार नहीं है। समानता की लडाई शोषित वर्गो द्वारा सत्ता पर अधिकार जमा लेने से ही नहीं समाप्त हो जाती है बल्कि सत्ता पर अधिकार के बाद पूर्ण समाज के प्रभावों के विरूद्ध लम्बी लडाई लड़नी होती है। इसमें नारी मुक्ति ही नही दलितो की मुक्ति का भी प्रश्न इस लड़ाई से जुडा है।

समानता वर्तमान युग का बहुप्रचलित शब्द है। समाज की उन्नति का पैमाना समानता को स्वीकार किया गया। सैद्धान्तिक स्तर की समानता के बावजूद आचार या व्यवहारिक स्तर की समानता इस देश की स्त्री को हासिल नहीं हुई है। निहित स्वार्थ इस सन्दर्भ में निरन्तर अपनी भूमिका निभा रहे हैं। जिस ढंग से स्त्री पुरूष की समानता विरोधी शक्तियों एकजुट हैं उस ढंग से समानता की पक्षधर शक्तियों में एकजुटता नही दिखाई पड़ती है। स्त्रियों के साथ जो दोहरे मानदण्ड अपनाये जाते हैं उनको लेकर इस देश मे व्यापक जन आन्दोलन का अभाव है। विकास के नाम पर स्त्रियों को नसीब हुआ है, कार्य की अधिक मार, लांक्षन, कलंक अपमान, अन्याय उत्तरदायित्व के निर्वाह पर भी तिरस्कार। जब भी स्त्री को सशक्त करने के मामले में सही मायने में कोई योजना बनती है तो उसके मार्ग में असंख्य बाधायें आ जाती है। घर के बारह के समाज से तो दूर उसे अपने घर के पहले पुरूष पिता हों या

पति से ही सघर्ष करना पड़ता है, सबसे पहला दमन उसे परिवार में ही झेलना पड़ता है।

दुनियॉ के इतिहास मे आज भी औरत वह चाहे पश्चिम के विकसित राष्ट्रों की हो या पूरब के विकासशील देश की, पितृसत्तात्मक समाज में वह उपनिवेष ही है। स्त्री को उपनिवेश बनाकर रखना पितृक समाज की नैतिक और वर्चस्व से जुड़ा हुआ है। पितृक नैतिकता सदा यही कहती आई है कि पशु, ढोल, शुद्र नारी की ताड़ना अनिवार्य है, अर्थात इन पर अपना नियन्त्रण बर्चस्व बनाये रखो। जहॉ तक पक्षपातपूर्ण समाजिक व्यवहार का प्रश्न है तो हर शिक्षित प्रगतिशील समझे जाने वाले लोगो मे भी स्त्री को लेकर सामंती मानसिकता मौजूद है।

वास्तविकता यह है कि पुरूष स्वभावतः अहकारी है। वह अपनी सामाजिक स्थिति को सर्वोच्चता मे रखकर देखता है कि ैर स्त्री को निम्नतर में। यदि स्त्री अधिक पढी-लिखी, जागरूक, तर्कशील, बुद्धिमान है तो उसकी सर्वोच्चता को शायद खतरा पैदा हो जायेगा और झूठे अहंकार बाद का शिकार व्यक्ति यह सब कैसे सहन कर लेगा कि स्त्री की सामाजिक स्थिति, आर्थिक स्थिति उससे अधिक की हो जाय और उसकी निम्न या स्त्री के बारबर।

सच तो यह है कि यह पितृसत्तात्मक समाज का खोखला अहकार है कि स्त्री को दबाकर, कुचल कर निम्न स्थिति में रखो और उस पर अपनी आर्थिक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, श्रेष्ठता, वर्चस्व स्थापित करो। आज तक यहीं होता आया है और आज भी उसके भीतर यही सोलहवीं शताब्दी की सोच काम रही है कि सत्री उसकी निजी सम्पत्ति है।

इक्कीसवी सदी मे भी उसका स्त्री के प्रति दृष्टिकोण इना अनुदार, संकीर्ण, अमानवीय एव हिसक है, यही कारण है कि आज भी

स्त्री पूरी प्रतिभा, योग्यता के साथ भी अपनी पहचान नही बना पा रही हैं।

स्त्रीवादी विमर्श ने स्त्री मुक्ति के प्रश्नों को विभिन्न कोणों से उठाया है। पहली बार स्त्रियॉ देह और नैतिकता से जुड़े सवालों पर खुलकर सोचने लगी हैं, क्योंकि उनका सर्वाधिक उत्पीडन उनके देह के सतर पर ही हो रहा है। सबसे पहला प्रश्न तो यह उठा है कि क्या स्त्री की देह पुरूष की निजी मिल्कियत है? देह की पवित्रता, मर्यादा, शील और नैतिकता होना स्त्री के लिए ही क्यों जरूरी है? स्त्री विमर्श ने समाज के भयकर अन्तर्विरोधों को सामने रखा है।

जब से यह विमर्श सामने आया है तभी से भारतीय वर्चस्ववाद के मूल में छिपी स्त्री विरोधी मानसिकता, अन्तर्विरोधों का स्पष्ट ज्ञान हमें मिलना शुरू हुआ है कि कैसे सत्री विरोध का अभियान सदियों से चलता आया है। स्त्री विरोध का अभियान सदियों से चलता आया है। स्त्री विमर्श पितृसत्ता के लिए सबसे गंभीर चुनौती है, क्योंकि वर्चसववाद के विरोध में ही इसका जन्म और विकास हो रहा है। आज तक स्त्री ने पितृक वर्चस्व को आत्मसात किया हुआ था, वह उस प्रभुत्व द्वारा अनुकूलित और नियन्त्रित थी। परन्तु इस विमर्श ने स्त्रियों के भीतर यह चेतना पैदा की कि उनको वाणीहीन, स्वत्वहीन क्यों किया जा रहा है? उनका सवतन्त्र अस्तित्व क्यों नही है? परिवार का अनुशासन उन्हें ही क्यों अनुशासित करता रहा है? स्त्रियॉ आर्थिक स्तर पर आत्मनिर्भर होकर भी परिवार में दबी कुचली क्यो है? अब स्त्री लेखिकाएं अपने अस्तित्व और अस्मिता के बारे में सोचने लगती हैं। भारतीय सास्कृतिक वर्चस्व के मूल में छिपी हुई है, नारी के जबर्दस्त शोषण की स्थिति कहीं वह सूक्ष्म रूप में है तो कहीं प्रचंड रूप में । आज भी इस आधुनिक, उत्तर आधुनिक युग में सूक्ष्मरूपों में उसकी प्रताडना जारी है। नारी की स्थिति आज भी पूरी तरह से नहीं

बदली है। वह आज भी शोषित पीड़ित और प्रताड़ित है। जो स्त्री पुरूष के बनाये सर्वगुण सम्पन्न नारी, भारतीय संस्कृति के आदर्श की प्रतीक स्त्री और नारी स्वतन्त्रता की पक्षधर स्त्री–कुलटा।

आज भी स्त्री का शोषण इतने भयंकर रूप में हो रहा है कि वह यान्त्रिक मशीन बनकर रह गयी है। बच्चा पैदा करने वाली यान्त्रिक मशीन।

उसके बाद सारी उम्र बच्चो के पालन–पोषण में बीत जाती है। इस पितृक सत्ता ने स्त्री की समूची प्रतिभा कला, विवेक को उससे छीना है।

वास्तविकता यही है कि जब तक संबैधानिक धाराओं, कानून की किताबो और वास्तविक जीवन के सामाजिक विरोधाभासो के बीच का फासलें भी समाप्त नहीं हो सकते। फिर जब तक सामाजिक संरचना स्त्री विरोधी है तब तक संबैधानिक धारायें नारी पक्ष में बोलते कानून , नारी–न्याय के दर्शन क्या अर्थ रखते हैं। सर्वप्रथम समूची सामाजिक संरचना में बदलाव लाना होगा।

आज तक अधिकारों पर कब्जा पुरूषों का था और आज भी है और यह तब तक रहेगा जब तक स्त्रियॉ अपने अधिकारों के लिए जागरूक नहीं हो जाती। लेकिन अब स्त्रियों को यह सोचना विचारना होगा कि उनके हिस्से में केवल कर्तव्य ही क्यों आये हैं, अधिकार क्यों नहीं? जब स्त्रियॉ इस प्रकार के प्रश्नों के प्रति तर्कशील होकर विचार करेंगी न्याय के लिए सोचेंगी तभी उनकी सामाजिक, आर्थिक स्थिति में कोई परिवर्तन सम्भव हो सकेगा वास्तविकता यह है कि शिक्षित होने के बावजूद स्त्री की स्थिति, दशा कोई बहुत अधिक परिवर्तित नही हुई है। अभी भी वह परम्परागत रूप, संस्कार जनित दोषों से मुक्त नही हो पा रही है। संस्कार जनित दोषों, अन्तर्विरोधो को तोड़ना तथा एक नया

मनुष्य बनना इतना सरल नही है क्योकि सदयिो से लड़कियों को ऐसी संस्कारों की घुट्टी दी जाती है कि वह उनसे चाहते हुए भी मुक्त नहीं हो पाती। परत–दर–परत पितृक सस्कारों की परते इतनी गहरी जमी हुई हैं कि उनको तोड़ पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आज के समय में वह घर और बाहर कार्यालय, संस्थानों में दोहरा संघर्ष कर रही है। अत्याधिक कर्तव्यों के भार से वह इतनी बोझिल और अलगावग्रस्त हो गयी है कि सबसे अधिक शोषण की शिकार है।

नारी पर आज बहुत कुछ लिखा जा रहा है, लेकिन देखने वाली महत्वपूर्ण बात तो यह है कि इस लेखन में नारी की स्थिति क्या हैं? नारीवादी लेखिकाओं का तो यहाँ तक स्वीकारना हैं कि पुरूष की कलम को गहरे संदेह से देखना चाहिये उसक प्रत्येक शब्द को परखने की जरूरत है। स्त्री–विमर्श के सम्बन्ध में एक लेखिका का कहना है कि "अब तक औरत के बारे में पुरूष ने जो कुछ भी लिखा है उस पर तनिक शक, सन्देह किया जाना चाहिये। क्योंकि लिखने वाला न्यायधीश और अपराधी दोनों हैं।" सीमोन ने बिल्कुल सही और सार्थक प्रश्न उठाया है कि आज तक पुरूष ने नारी के बारे में जो कुछ भी लिखा है उसे गहरी सन्देह की दृष्टि से परखा जाना इसलिए जरूरी है , क्योंकि वह उत्पीडित के बारे में उत्पीडक की दृष्टि है।

आज के समय में नारी की उत्पीड़न की स्थिति को स्पष्ट करती हुई सीमोन कहती हैं, " आज हम एक संक्रमण के दौर से गुंजर रहे है इस दुनिया में आज भी सारी सत्ता, सारे मूल्य और संस्थायें पुरूषों के हाथों में हैं। यदि स्त्रियों को कुछ अधिकार दिये भी गये हैं तो वे अमूर्त रह गये हैं। वे रूढ़ियों और पूर्वाग्रहों के कारण व्यवहारिक जगत में लागू नहीं किये जा सकते। इसलिए अब भी स्त्री की पूरी पकड़ दुनियाँ पर नही हैं कहने को तो स्त्री और पुरूष समान है किन्तु वास्तव में इन

दोनों में बहुत बड़ा भेद कायम है।" आज भी औरत के दिये जाने वाले अधिकार केवल संविधान की धाराओं संसद भवन की घोषणाओं के शोरगुल में खोयें हुए हैं। वास्तविक जिंदगी में सारी सत्ता, सम्पत्ति पर अधिकार मूल्यों और संस्थाओं, अनुशासनों नियमों पर पुरूषों का एकाधिकार है। संविधान की धाराएं भले ही स्त्री के लिए प्रगतिशील से प्रगतिशील विचार धारा रखती हो, लेकिन वास्तविक जिंदगी में उनकी कैसी धज्जियॉ उड़ती हैं, उस पर संविधान संसद की घोषणायें, कानून, कानूनविद् क्या कहते हैं इससे सभी परिचित हैं। आज भी स्त्री पुरूष के बीच बहुत बड़ा भेद है– उत्पीड़न और उत्पीड़ित का , और इस दूरी को मिटाया नहीं जा सका है। स्त्री अब भी पूरी तरह से अधीनस्थ है, स्वतन्त्र नहीं है। वस्तुतः स्त्री समस्या को केवल स्त्री के आइने में देखने से काम नहीं चलने वाला है। जब तक कमजोर को सताने की प्रवृत्ति सभ्य कहलानें वाले संसार में किसी चमत्कार या व्यवस्था के तहत खत्म नहीं होती तब तक स्त्री विमर्श और दलित विमर्श का निष्कर्ष भी नहीं निकल सकता। प्रकृति पर विजय पाने की अदम्य आकांक्षा से भी विश्व मानवता यदि स्त्री को पूरक और जन्मदात्री माने तो समस्या का समाधान हो सकता है। दुर्भाग्य से अहंकार ग्रस्त सभ्यता अपने भीतर के पशु से ठीक से लड़ नहीं रही है न ही उसका मानसिक तापमान आभ्यान्तर के उदय के प्रति जागरूक हैं, यही इस समस्या के जड़मूल में है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

(1) स्त्री उपेक्षिता — अनुवाद प्रभाखेतान
(2) नारीवाद विमर्श — राकेश कुमार
(3) औरत अस्तित्व और अस्मिता — अरविद जैन
(4) स्त्रीत्व का मानचित्र — अनामिका
(5) उपन्यास का पुनर्जन्म — डा. परमानन्द श्रीवास्तव
(6) उपन्यास की शर्त — जगदीश नारायण श्रीवास्तव
(7) स्त्री के लिए जगह — राजकिशोर सिंह
(8) कथा प्रसंग—यथा प्रसंग — निर्मला जैन
(9) परिधि पर स्त्री(समीक्षात्मक लेख) — मृणाल पाण्डेय
(10) स्त्री—विमर्श के अन्तर्विरोध(लेख) — बच्चन सिह
(11) स्त्री—विमर्श इतिहास में अपनी जगह — प्रभा खेतान
(12) सोवियत नारी की कहानी — राज्यम् सिन्हा
(13) नारी स्थिति सर्वेक्षण और मूल्यांकन — प्रदीप सक्सेना का लेख
(14) बेघर — ममता कालिया
(15) हम हशमत —कृष्णा सोबती
(16) मित्रों मरजानी —कृष्णा सोबती
(17) ए लडकी —कृष्णा सोबती
(18) जिंदगीनामा —कृष्णा सोबती
(19) यारों के यार —कृष्णा सोबती
(20) सूरजमुखी अंधेरें को —कृष्णा सोबती
(21) रूकोगी नहीं राधिका —उषां प्रियंवदा
(22) पचपन खम्भें लाल दीवारें — उषां प्रियंवदा
(23) आपका बंटी —मन्नू भंडारी
(23) आपका बंटी —मन्नू भंडारी
(24) परछाई —क्षमा शर्मा
(25) जो कहा नहीं गया —कुसुम अंसल
(26) स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीतिक(लेख) — मृणाल पाण्डे
(27) दिलोदानिश —कृण्णा सोबती
(28) हम पुरबिया औरतें हमारा स्त्री विमर्श (सन्दर्भ और विचार) — अनामिका
(29) आधुनिक संस्कृति के निर्माण की की कथा(लेख) — खवेन्द्र ठाकुर
(30) अनारों — मुजुल भगत

आधार–ग्रन्थ

(1) इदन्नमम् – मैत्रेयी पुष्पा
(2) चाक – मैत्रेयी पुष्पा
(3) झूला नट – मैत्रेयी पुष्पा
(4) कठगुलाब – मृदुला गर्ग
(5) आवां – चित्रा मुद्गल
(6) पीली आँधी – प्रभा खेतान
(7) छिन्नमस्ता – प्रभा खेतान
(8) कलिकथाः वाया बाईपास – अलका सरावगी
(9) हमारा शहर उस बरस – गीताजलिश्री
(10) मुझे चाँद चाहिए – सुरेन्द्र वर्मा
(11) पहला गिरमिटिया – गिरिराज किशोर
(12) सात आसमान – असगर बजाहत
(13) मुखड़ा क्या देखें – अब्दुल विस्मिलाह
(14) थकी हुई सुबह – राम दरश मिश्र
(15) नर–नारी –कृष्ण बलदेव सिंह
(16) अर्द्धनारीश्वर – विष्णु प्रभाकर
(17) दास्तान–ए–लापता – मंजूर– एहतेशाम

पत्र पत्रिकाएं

(1) कथाक्रम
(2) हंस
(3) दस्तावेज
(4) कसौटी
(5) साक्षात्कार
(6) तद्भव
(7) पहल
(8) कथादेश
(9) समीक्षा
(10) राष्ट्रीय सहारा
(11) दैनिक जागरण
(12) दिनमान

....